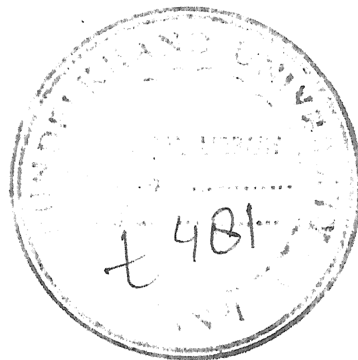
1987 के पश्चात संघ राज्य संबंध के बदलते स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन

(म. प्र. के विशेष संदर्भ में)

बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झांसी
की
राजनीति विज्ञान विषय में

पी. एच. डी. उपाधि हेतु
प्रस्तुत

शोध - प्रबंध
2000



शोध निर्देशक
डॉ. एस. के. कपूर
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
एवं. प्राचार्य, श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महा. वि.
मऊरानीपुर, झाँसी (उ. प्र.)

शोधार्थी
मेघा बाजपेयी

शोध केन्द्र

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महा विद्यालय
मऊरानीपुर, झाँसी (उ.प्र.)

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध प्रबंध "1987 के पश्चात् संघ राज्य संबंधों के बदलते स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन (म० प्र० के विशेष संदर्भ में)" मेघा बाजपेयी की मौलिक कृति है । मेरे निर्देशन में, उपरोक्त विषय पर पी०एच०डी० (राजनीति विज्ञान) उपाधि हेतु मेघा बाजपेयी आपके पत्रांक:- बु०वि०/शोध/97/10143-45 दिनाँक 10-11-97 द्वारा पंजीकृत हुई थी । इन्होंने मेरे निर्देशन में ऑर्डिनेन्स-7 द्वारा वांछित अवधि तक कार्य किया तथा इस अवधि तक विभाग में उपस्थित रही । मैं इन्हें शोध प्रबंध विश्वविद्यालय में प्रस्तुत करने एवं परीक्षण हेतु प्रेषित करने की स्वीकृति/संस्तुति करता हूँ ।

प्रस्तुत कार्य में मेघा बाजपेयी की शोध के प्रति लगन एवं जिज्ञासा प्रशंसनीय है । मैं इनकी पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ ।

प्राचार्य
श्री अग्रसेन महाविद्यालय
मऊरानीपुर (झांसी)

स्थान-मऊरानीपुर

दिनांक 21-8-2000

शोध निर्देशक
(डा० एस० के० कपूर)
अध्यक्ष, राजनीति वि० विभाग
एवं प्रचार्य, श्री अग्रसेन
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊरानीपुर, झाँसी (उ०प्र०)

घोषणा पत्र

मैं मेघा बाजपेयी यह घोषित करती हूँ कि राजनीति विज्ञान . विषय के अंतर्गत प्रस्तुत शोध प्रबंध "1987 के पंश्चात् संघराज्य संबंधो के बदलते स्वरूप का विषलेषणात्मक अध्ययन (म०प्र० के विशेष संदर्भ में)" मेरी मौलिक रचना है जिसे मैंने डा० एस०के० कपूर " अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग एवं प्राचार्य, श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय मऊरानीपुर के अमूल्य निर्देशन में पूर्ण किया है । उपलब्ध मार्गदर्शन एवं तत्संबंधी सुझावों का कृति में यथास्थान उल्लेख किया गया है ।

यह शोध प्रबंध किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी भी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध प्रबंध का अंश नहीं है ।

मेघा बाजपेयी

दिनाँक 21 · 8 · 2000

शोधछात्रा

(मेघा बाजपेयी)

आभार

कर्म ही पूजा है और कर्म ही जीवन का मूलाधार है । यह मंत्र मुझे परिवार से विरासत में मिला । एम.ए0 करने के पश्चात् मेरी माँ श्रीमति रागिनी बाजपेयी ने मुझे शोध प्रबंध लिखने को प्रेरित किया । एक योग्य शोध निर्देशक तक मुझे पहुँचाने का श्रेय मैं डा0 कमलेश शर्मा अनुभाग अधिकारी, बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी (उ0प्र0) को दूँगी । विषय के सुझाव हेतु मैं ह्रदय से आभारी हूँ अपने शोध निर्देशक परम आदरणीय डा0 श्री कृष्ण कपूर की, जो नाम के अनुरूप ही सरल एवं सहज व्यक्तित्व के धनी है । उन्होने मुझे पितृतुल्य आशीष देकर कार्य की साधना हेतु प्रेरित किया, जिससे मुझे बल मिला और शोध प्रबंध की संरचना संभव हुई । उन्होंने समय-समय पर त्रुटियों का परिमार्जन करके मेरे शोध प्रबंध को तराश कर निखारा है । उनके ज्ञान की चमक ही मेरे शोध की स्वरूप है । मैं उनकी चिर ऋणी रहूँगी ।

शोध प्रबंध की रचना के दौरान मुझे परम श्रद्धेय डा0 एन0 के0 श्रीवास्तव, आचार्य,राजनीति विज्ञान एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई कला एवं वाणिज्य स्वशासी महाविद्यालय, ग्वालियर का भी समय-समय पर सहज मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है । डा0 एम0 के भार्गव, प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष राजनीति विज्ञान विभाग, अ0प्र0 सिंह वि0 वि0 रीवा एवं डा0 श्रीमति आशा भार्गव, प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान, विभाग, शा0 कन्या महा वि0 रीवा ने भी मेरी कठिनाईयों को सरल बनाया है एवं शोध हेतु सामग्री प्राप्त करने में अपना सहयोग देकर मुझे कृतार्थ किया है ।

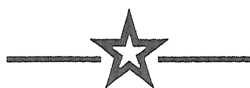
आभार के इस क्रम में मैं डा0 सोहन लाल शर्मा, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग बुं, वि0 वि0 झाँसी के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिनके आशीर्वाद, कृपा एवं सहयोग के बिना मैं यह कार्य कभी पूर्ण नहीं कर सकती थी । मैं श्री चंद्र प्रकाश श्रीवास्तव, पुस्तकालयध्यक्ष, अग्रसेन महाविद्यालय, मऊ रानीपुर की भी आभारी हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर पुस्तकालय से शोध सामग्री का संकलन करने में मुझे सहयोग प्रदान किया ।

मैं डा0 के0 एल वर्मा, प्राध्यापक हिंदी विभाग, शा0 महावि0 निवाड़ी की भी आभारी हूँ जिन्होंने हिंदी भाषा के पांडित्यपूर्ण ज्ञान द्वारा भाषा सौष्ठव को बढ़ाने के लिऐ समय समय पर उपयोगी सुझाव देकर मुझे कृतार्थ किया ।

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुऐ मैं अपने दादा पं0 श्री लालाराम बाजपेयी और दादा तुल्य श्री श्याम लाल जी साहू की बटवृक्ष के समान शीतल छाया में सदैव आगे बढ़ने को प्रेरित होती रही । मेरे पिता श्री डा0 विजय बाजपेयी ने मुझे सदैव साहस प्रदान कर अग्रसर होने को प्रेरित किया । स्नेहिल बहन प्रियंका बाजपेयी एवं भाई मानस बाजपेयी ने मौन-मूक रह कर मेरे कार्यो में हाथ बंटाकर मुझे सहयोग दिया । परम पूज्य भावी श्वसुर श्री बलवीर सिंह संधू एवं भावी सास श्रीमति जसमेल कौर संधू की सह्रदयता एवं ममता के बिना यह कार्य संपूर्ण होना असंभव था । मेरे भावी पति श्री कुलवंत सिंह संधू ने इस यात्रा में हर समय साथ देकर

शोध कार्य में सहयोग दिया । उनकी त्यागमयी लगन और पल–पल की प्रेरणा का प्रतिफल ही शोध का अनूठा स्वरूप है । फूफाजी मानिक चंद्र अवस्थी, प्राध्यापक महाराजा महा विद्यालय छतरपुर एवं बुआजी डा0 (श्री मति) रश्मि अवस्थी ने मुझे समय–समय पर अनेकों प्रकार से सहयोग प्रदान कर मुकाम तक पहुँचाया है । चाचा समान श्री कैलाश यादव एवं श्री वीर सिंह यादव के सहयोग से बिंदु से आकृति और आकृति से संरचना के गठन का कार्य संभव हो सका । भाई समान श्री राजेन्द्र खरे ने भी समय –समय पर कठिनाईयों के समाधान में अपना सहयोग प्रदान किया ।

अंत् में इस आभार क्रम को भूले बिसरे लोगों को समर्पित करते हुऐ उन सभी की ह्मदय से आभारी हूँ, जिन्होंने शोध प्रबंध में सहायता प्रदान की ।



प्रस्तावना

भारतीय लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत करने एवं उसकी रक्षा करने के उद्‌देश्य से केन्द्र राज्य संबंधों को संवैधानिक आधार प्रदान किया गया है, परंतु संघ राज्य सबंधों का आधार आरंभ से ही विवाद का विषय रहा है । संविधान सभा में ही आपत्ति की गई थी कि वर्तमान संघीय ढाँचे से केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलेगा और राज्यों की स्थिति नगर पालिकाओं के सदृश्य हो जाऐगी । फिर भी इस ढाँचे को भारतीय धरातल पर विकसित किया गया, लेकिन ज्यों–ज्यों संघ प्रणाली प्रौढ़ हुई उसमें अनेक दरारें दिखने लगीं । बदलते हुऐं भारतीय राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में सरकारिया आयोग की नियुक्ति एक लोकतांत्रिक कदम है ।

संविधान के लागू होने के बाद से उत्पन्न हुऐ केन्द्र राज्यों के मध्य विवादों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है । प्रथम, संस्थागत विषय–जैसे राज्यपाल का पद नौकरशाही की भूमिका और संविधान के स्वरूप संबंधी विवाद । द्वितीय, कार्यात्मक विषय–जैसे कानून और व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र का विवाद, अंतर्राज्यीय विवाद, राज्य सूची पर केन्द्रीय हस्तक्षेप और केन्द्रीय नियंत्रण के मसले और तृतीय, वित्तीय और योजना संबंधी विवाद । उक्त सभी क्षेत्रों में संवैधानिक दृष्टिकोण से केन्द्र असाधारण रूप से शक्तिशाली हुआ और राज्य उसकी छायामात्र बने । चूँकि प्रत्येक राज्य की समस्याऐं, परिस्थितियाँ और आवश्यकताऐं भिन्न–भिन्न हैं, जिनके अनुरूप संवैधानिक ढाँचा विकसित होना चाहिऐ ।

जो स्थितियाँ और तर्क केन्द्र को मजबूत बनाने के पक्ष में है, लगभग वैसे ही सशक्त तर्क और कारण राज्यों को अधिक से अधिक संपन्न बनाने के बारे में भी है । यदि कमजोर केन्द्र से देश की एकता और सुरक्षा को खतरा है तो कमजोर इकाइयों के कारण केन्द्र में एकाधिकारशाही की स्थापना का भी खतरा है । वस्तुतः केन्द्र और राज्य दोनों को ही स्तरों पर मजबूती और अधिकार संपन्नता चाहिऐ । अतः समस्या का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि केन्द्र राज्य संबंधों की संवैधानिकता के प्रति आचरण व व्यवहार की प्रमाणिकता कितनी और क्या है । दूसरे केन्द्र राज्य संबंधों को मात्र केन्द्र की मजबूती या राज्यों की कमजारी का परिप्रेक्ष्य देने से समस्या के वास्तविक पहलू दबे रहेंगे । केन्द्र या राज्य दोनों को अपने–अपने क्षेत्र व दायरे में शक्तिमत्ता व दायित्व निर्वाह की क्षमता बनाऐ रखनी चाहिए और इस दृष्टि से इन संबंधों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है यह माना जाना चाहिऐ । इस प्रश्न पर राजनीति निरपेक्ष दृष्टि से वस्तुनिष्ठ विचार होना चाहिए और अनुभव व आवश्यकताओं के अनुकूल संबंधों का पुनर्निर्धारण किया जाना चाहिऐ ।

केन्द्र और राज्यों के बीच न्यायपूर्ण संबंधों की स्थापना नहीं हो पाई है और कुछ अधिकार या शक्तियाँ मिल जाने मात्र से राज्यों का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं हो जाऐगा । वास्तव में देखा जाऐ तो जम्मू और कश्मीर राज्य के रूप में अधिक अधिकारों की मांग का माडल पहले से ही बना हुआ है अनेक क्षेत्रों में सरकारिया आयोग की नियुक्ति इस बात की पुष्टि करती है ।

केन्द्र राज्य संबंधों का विषय पुनर्विचार और आवश्यक सुधार व संशोधन का है तथा विगत पाँच दशकों का अनुभव और राज्यों की आर्थिक क्षेत्र में अधिकारों की मांग के आधार व संदर्भ है, यह विवाद का विषय नहीं है । केन्द्र सरकार ने इसीलिऐ "सरकारिया आयोग" का गठन किया था, आज देश का जो राजनीतिक मानचित्र है, वह इस विषय पर राष्ट्रीय बहस व विशद् विचार विमर्श व चिंतन के लिए उपयुक्त है । सरकारिया आयोग का कार्य काफी विस्तृत कर दिया गया था और वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था के बाहर भी आवश्यक सुझाव देने का अधिकार दिया गया था ।

केन्द्र तथा राज्य के मध्य सामान्यतया सामंजस्य रहा है लेकिन जब केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के विरोधी दलों की सरकार राज्यों में गठित हुई तब तब केन्द्रों तथा राज्यों के बीच तनाव में वृद्धि हुई है और राज्यों द्वारा मांग की गई कि केन्द्र तथा राज्यों के मध्य संबंध का पुनरीक्षण करने के लिऐ आयोग का गठन किया जाऐ । केन्द्र तथा राज्य के मध्य विवाद को सुलझाने के लिऐ अब तक मुख्यतः चार आयोग गठित किऐ गऐ हैं, जो इस प्रकार है– प्रशासनिक सुधार आयोग (1970) राजमन्नार आयोग (1970), भगवान सहाय समिति (1971) तथा सरकारिया आयोग (1987) (निर्दिष्ट वर्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करने का वर्ष था) । इसमें से प्रथम तीन आयोग/ समिति की रिपोर्ट में की गई सिफारिशें अमान्य कर दी गई हैं, जबकि सरकारिया आयोग की सिफारिशों में से कुछ के स्वीकार करने की घोषणा की गई ।

सरकारिया आयोग ने 1987 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी । अपने प्रतिवेदन में आयोग ने देश में सही अर्थ में विकेन्द्रीयकृत शासकीय तथा राजकीय ढाँचे को क्रियान्वित करने की सिफारिश की थी । परंतु आर्थिक उदारीकरण की नीति के अंतर्गत देश में राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त नहीं हुई बल्कि इस नीति के कारण केन्द्रीय सरकार के हाथों में आर्थिक सत्ता का पूर्व की अपेक्षा अधिक केन्द्रीयकरण हो गया है ।

केन्द्र राज्य संबंधों के बदलते स्वरूप को ध्यान में रखकर शोधछात्रा ने अपने अध्ययन के मापदण्ड तय किऐ और इन मापदण्डों के अनुसार ही रूपरेखा तैयार की । अपने शोधकार्य के लिऐ इन्हीं मापदण्डों के अनुसार तथ्य संकलित कर विश्लेषित कर जो निष्कर्ष निकाले वे इस शोध ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत हैं ।

शोध कार्य सरल नहीं हैं, इसमें अनेक बाधाऐं आतीं हैं परंतु इन बाधाओं से अधिक मुझे सहयोग मिला । यह शोध ग्रंथ इसी सर्वसुलभ सहयोग का परिणाम है ।

प्रस्तुत शोध कार्य मेरे जीवन का महत्त्वपूर्ण प्रयास है, जिसमें मैंने अपनी शक्ति और क्षमता का यथासंभव उपयाग किया है । मैं यह दावा तो नहीं कर सकती हूँ कि अपनी परिकल्पना को साकार आखंडित करने के लिए मैं इसके अतिरिक्त कोई मापदण्ड तय नहीं कर सकती थी परंतु प्रस्तुत मापदण्ड मैंने विभिन्न विद्वानों और विशेषज्ञों की सलाह के अनुसार तय किये । इन मापदण्डों के अनुसार संकलित शोध सामग्री के अनुशीलन में अपने परिश्रम और एक बहुप्रतिष्ठित धारणा के संबंध में खोज की दृष्टि से मेरा शोध मौलिक और सुविज्ञ है तथा मूल्यांकन हेतु विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत है ।

अनुक्रमणिका

अध्याय प्रथम

अध्ययन की प्रकृति व स्वरूप-

1. अध्ययन की पद्धति,
2. उपकल्पना का निर्माण,
3. तथ्य संकलन,

अध्ययन की प्रकृति व स्वरूप-

इस विश्व में न जाने कितने रहस्य छिपे हुयें हैं। इसे जानने के लिये मानव सदा से ही प्रयत्न कर रहा है। नवीनता को ढूँढ निकालने की और अज्ञात को खोज निकालने की प्रवृत्ति के कारण मानव सभ्यता प्रगति कर रही हैं। खोज अर्थात शोध करने की प्रवृत्ति के कारण ही कुछ वस्तुऐं या घटनाओं के विषय में वह सब कुछ जानता हैं, कुछ के विषय में उसकी जानकारी अधूरी है, और कुछ के विषय में वह अब भी कुछ नहीं जानता। इसलिये जानने या खोजने का कार्यक्रम आज भी जारी हैं। इस प्रयत्नशीलता का उद्देश्य ज्ञान का विस्तार, अस्पष्ट ज्ञान का स्पष्टीकरण तथा विद्यमान ज्ञान का सत्यापन होता है। इसी को शोध कहते हैं। जब इसी अस्त्र का प्रयोग राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की वृद्धि, उसके स्पष्टीकरण तथा सत्यापन के लिये किया जाता है तो उसी को राजनीतिक शोध कहा जाता है।[1.]

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मानव क्रिया के सभी क्षेत्रों मे शोध का अर्थ ज्ञान तथा बोध की निरन्तर खोज हैं। वैब्स्टर शब्दकोश के अनुसार "शोध एक सतर्क खोज, एक गहन खोज, श्रम साध्य किन्तु आलोचनात्मक जांच एवं व्यापक खोज, अथवा स्वीकृत निष्कर्ष के पुनरावलोकन, या नये खोजे गये तथ्यों के प्रकाश में किया गया प्रयोग होती हैं।"[2.] श्री हिटने का कथन है,–"समाज शास्त्रीय शोध में मानव–समूह के सम्बन्धों का अध्ययन होता है ।"[3.] श्रीमती यंग के अनुसार –"सामाजिक शोध एक वैज्ञानिक योजना हैं जिसका कि उद्देश्य तार्किक तथा क्रमबद्ध पद्धतियों के द्वारा नवीन तथ्यों का अन्वेषण अथवा पुराने तथ्यों की पुनः परीक्षा एवं उनमें पाऐं जाने वाले अनुक्रमों, अन्तः सम्बन्धों कारण सहित व्याख्याओं तथा उनको संचालित करने वाले स्वाभाविक नियमों का विश्लेषण करना है ।"[4.] श्री बोगार्डस के अनुसार, "एक साथ रहने वाले लोगों के जीवन में क्रियाशील अन्तर्निहित प्रक्रियाओं का अनुसन्धान ही सामाजिक शोध हैं ।"[5.] श्री मोसर ने लिखा हैं कि "सामाजिक घटनाओं व समस्याओं के सम्बन्ध में नवीन ज्ञान की प्राप्ति के लिए किए गए व्यवस्थित अनुसन्धान को हम सामाजिक शोध कहते हैं।[6.]

1- अध्ययन की पद्धति-

"अनुसंधान का उदगम एक ऐसे शब्द से हुआ है जिसका अर्थ, सब दिशाओं में जाना अथवा खोज करना होता है । रिचर्स शब्द स्वयं ही दो शब्दों से मिलकर बना हैं, अतः सम्पूर्ण रिसर्च शब्द से एक ऐसे सम्मिलित अर्थ का बोध होता है जिसका उद्देश्य खोज की पुनरावृत्ति होता है अथवा एक अन्वेषण होता है । अज्ञात विषयों तथा घटनाओं के प्रति अन्वेषण करना वास्तव में मानव स्वभाव का अभिन्न अंग रहा है ।[7] ग्रीनबुड का मत हैं कि–"नवीन ज्ञान की खोज की

1– **मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ** सामाजिक शोध व सांख्यिकी, रन्जत प्रकाशन, नयी दिल्ली 1983 पृष्ठ – 1
2– **वर्मा एस. एस.** राजनीति विज्ञान में अनुसंधान प्रविधि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,1980 पृष्ठ–10
3– **यंग पी. व्ही.** सायन्स्टीफिक सोशल सर्वे एण्ड रिसर्च, एशिया पब्लिशिंग हाऊस बाम्बे, 1960, पृष्ठ–44
4– **बोगार्डस,** इध्एसद्यसो सियोलोजी, पृष्ठ –543
5– **मोसर,** सी. पृ. सर्वो मेथड इन सोसियल इन्वेस्टिगेशन, हेनमन लन्दन 1961, पृष्ठ – 3
6– **जैन वी. एम.** रिसर्च मेथोडोलॉजी पेज 25
7– **अर्नेस्ट ग्रीनवुड**–सोशल वर्क रिसर्च ऐ डिकेड ऑफ रीअप्रेजल सोशलसर्विस रिब्यू" सितंबर 1957 पे0 312 (डां0 सुरेन्द्र) सामाजिक अनुसंधान"–भाग पेज 5.

दिशा में किये गये क्रमबद्ध प्रयासों को हम अनुसंधान कार्य कहते हैं ।"[1] स्टुअर्ट चेज ने कहा कि –" विज्ञान का संबंध पद्धति से है न कि विषय वस्तु से ।"[2] टाउन सेण्ड के शब्दों में–" वैज्ञानिक पद्धति से अभिप्राय चिंतन व व्यवहार के उन कठोरतम प्रत्यक्ष तथा प्रबल साधनों से हैं जिनके माध्यम से तथ्यों को संकलित तथा संगठित किया जाता है ।[3]

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक पद्धति एक ऐसा क्रमबद्ध प्रक्रम है जिसमें एक समस्या पर आधारित परिकल्पना से संबंधित आंकड़ों का संकलन, व्यवस्थापन व विश्लेषण उपयुक्त सांख्यिकीय पद्धति द्वारा इस आशय से किया जाता है जिससे परिकल्पना की सत्यता की जांच कठोरतम तथा वस्तुनिष्ठ मापदंड पर की जा सके तथा उपलब्ध परिणाम के आधार पर एक वैज्ञानिक तथ्य की स्थापना अथवा पुष्टि की जा सके ।

राजनीति विज्ञान में 1950–60 के दशक के प्रारंभ से ही शोध प्रणाली शास्त्र का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान बन गया है । बीसवीं शताब्दी को राजनीति शास्त्र की शोध प्रणाली शास्त्र शताब्दी के नाम से पुकारते हैं ।

आज के वैज्ञानिक युग में प्रत्येक समस्या मूलक तथ्य की परीक्षा वैज्ञानिक ढंग से की जाती हैं । सामाजिक अनुसंधानों में तो इसका महत्व और भी अधिक हैं क्योंकि इनमें तथ्य एवं घटनाएं बड़ी ही विचित्र एवं परिवर्तनशील तथा जटिल प्रकृति की होती है । इन पद्धतियों का उपयोग न करने पर हमारे निष्कर्ष बड़े भ्रमपूर्ण हो जाते हैं । अतः आधुनिक वैज्ञानिक युग में अध्ययन के क्षेत्र में जो नया दृष्टिकोण नयी पद्धति अपनायी गयी हे वह वैज्ञानिक पद्धति हैं।"[4]

वैज्ञानिक पद्धति

वैज्ञानिक पद्वति अर्थात पद्धति विज्ञान की बात करना एक फैशन बन गया हैं किन्तु बहुत कम लोग इसके वास्तविक अर्थ को समझते हैं । हॉल्ट एवं टर्नन ने बताया हैं कि "अनुसंधान प्रवधि" शब्द अनेकार्थक एवं भ्रान्तिजनक हैं । इसे विद्वानों ने राजनीतिक व्यवहार, पद्धति, शोध प्रविधि आदि के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया हैं उनके अनुसार "निर्वचन के नियमों तथा व्याख्या के मानदण्डों को पद्धति विज्ञान में शामिल किया जाता हैं । इन्हीं से शोध–प्रचना सामग्री संकलन की प्रविधियां आदि निकलती हैं ।"[5] कॉफमैंन के अनुसार "यह वैज्ञानिक कार्यविधि का विश्लेषण है ।"[6]

इनका प्रयोग करने से प्रत्येक व्यक्ति समान निष्कर्षों को प्राप्त कर सकता हैं । एक जागरूक व्यक्ति एक अच्छा पद्धति वैज्ञानिक होता हैं। इसका अर्थ यह हैं कि वह अपने परिणामों

1– **चेज स्टुअर्ड-** "दि प्रापरस्टड़ी आफ मेंनकाइनेंड पृष्ठ–6.
2– **टाउन सेण्ड जे.सी.**–"इन्ट्रोडक्शन टू एक्सपेट्री मेनटल मेथड (मेग्राहिल) 1953 पृष्ठ–1
3– **प्लाचिक आर.-** फाउन्डेशन आफ एक्पेट्रीमेन्टल सिर्च पृष्ठ
4– **यंग, पी व्ही.-** सायन्स्टीफिक सोशल सर्वे एण्ड रिचर्स, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे, 1960, पृष्ठ–44
5– **हाल्ट एब टर्नर,**–दी मेथडोलोजी कम्पेरिटिव रिसर्च फ्री प्रेस, न्यूयार्क 1970, पृष्ठ–2
6– **फेसिक्स काफमैन,-** मेथडोलोजी आफ दी सोसियल सायन्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी

को इस प्रकार प्रमाणपूर्वक ढंग से देखता है कि लोग उसके कथन पर विश्वास कर ले । यदि किसी को उसके कथन पर शक हो तो उन प्रमाणों के आधार पर कोई भी व्यक्ति उसकी जाँच कर सकता हैं। इनको अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने से निष्कर्ष भी उसी मात्रा में वैज्ञानिक हो जाते हैं ।

वैज्ञानिक पद्धति के अन्तर्गत एवरी लीसरसन ने तीन प्रकार की समस्याओं को रखा हैं,"1. अनुसन्धान कर्ता का अभिमुखन, उसका व्यक्तित्व एवं प्रयोजन,"2. अवधारणीकरण तथा "3. आधार–सामग्री के संग्रह, संगठन एवं प्रस्तुतीकरण से सम्बन्धित पद्धतियां एवं प्रविधियां । मिर्म पैट्रिक के अनुसार " केवल पद्धतियों या प्रविधियों पर विचार–विमर्श करना ही पद्धति विज्ञान नहीं हैं । लजारसफेल्ड एवं रोजनबर्ग की दृष्टि से एक पद्धति विज्ञानी अपनी विषय–सामग्री के प्रति भी विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण रखता है । वह दूसरे अध्येताओं को यह बताता हैं कि उसने अपनी कृतियों में क्या किया हैं तथा वह क्या कर सकता था ? किन्तु वह उन्हें यह भी कहता है कि उन्हें क्या करना चाहिए ? ग्राहम मत में, अनुसंधान नियमों के उस संग्रह का नामकरण हैं जिनसे जगत् विषयक ज्ञान का सुविधाजनक ढंग से निर्माण होता हैं, तथा यह जानने के लिये कि वह ज्ञान सत्य है कि नहीं, परीक्षण किया जाता हैं । उसके अनुसार ये "सम्प्रेषण के नियम" हैं । किन्तु वे सुस्थिर और जड़ न होकर विकासशील हैं । किसी भी वस्तु या विषय को सत्य सिद्ध करने के लिये यह बताना आवश्यक है कि वह वस्तु सत्य क्यों और किस प्रकार है इस कार्य के लिये प्रमाण, साक्ष्य और प्रविधियों की आवश्यकता होती हैं ।

अनुसंधान सदैव स्वतः शोधात्मक या नवीन तथ्यों की दिशा की ओर स्थित होता हैं तथा श्रेष्ठ साक्ष्य पर निर्भर रहता है । उसमें प्रत्येक प्रश्न समाधान चाहता हैं, और प्रत्येक समाधान नये प्रश्न उत्पन्न कर देता हैं ।

वैज्ञानिक पद्धति को "सम्प्रेषण के नियम" कहने का अर्थयह है कि उससे राजनैतिक घटनाओं के बोध का विकास होता है । उससे बोध निश्चयात्मकता, विश्वसनीयता के सुधार के अवसरों में वृद्धि तथा व्यक्तियों के लिये उसी घटना को दोबारा समझने की उपयोगिता का लाभ होता हैं। पद्धति विज्ञान निजी निश्चित ज्ञान को सार्वजनिक तथा संचारणीय ज्ञान बनाने का आधार प्रदान करता हैं। उसकी उपयोगिता ज्ञान का परिशुद्ध संचारण एंव सत्यापन हैं। उसी से ज्ञानशास्त्र" व्यक्ति कैसे जानता हैं ? तथा सत्ता मीमांसा "व्यक्ति क्या जानता है ? सम्बन्धित है। ज्ञानशास्त्र एवं सत्ता मीमांसा को जानना अनुसंधान तथा विश्लेषण के लिये आवश्यक नहीं हैं। पद्धति विज्ञान का मूल लक्ष्य निष्कर्षो का मान्य संचारण तथा यथार्थ जगत् के विषय में ज्ञान के दावों का सत्यापन हैं। उसमें शोधक की पूर्वमान्यताएं, तथ्य संकलन की प्रवाधियों एवं कार्य प्रणालियों, अवधारणाओं, सैद्धान्तिक सन्दर्भ, विश्लेषण के आधार आदि सभी पर छानबीन पूर्ण दृष्टि डाली जाती हैं। स्वयं पद्धति–विज्ञान की अपनी मान्यताएं होती है। इसकी छानबीन नहीं की जाती है। उनको केवल मान लिया जाता हैं उनका शोध प्रक्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वे व्यक्तिनिष्ठ या

1– **लजासरफेल्ड एवं रोजनवर्ग-** "दी लेंगवेज आफ सोसियल रिचर्स, फीप्रेस, इलीनोस 1955, पृष्ठ–4.

2– **ग्राहम, जार्ज जे.-** मेथडोलोजिकल फाउन्डेशन फार पोलिटिक्स एनलसीस क्षेरोज कालेज पालिशिंग हाउस, मेसाप्रेशर, 1971, पृष्ठ–24

3– **वर्मा,एस.एल.-** राजनीति–विज्ञान में अनुसंधान प्रविधि राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1980, पृष्ठ–13

निजी मूल्य नहीं होते ।

वैज्ञानिक पद्धति के प्रकार एवं उददेश्य

वैज्ञानिक शोध पद्धति विज्ञान के तीन प्रकार पाये जाते हैं –

(1). मौलिक या विशुद्ध शोध –

शुद्ध अथवा मौलिक अनुसंधान की संज्ञा उसे दी जाती है, जिसके अन्तर्गत ज्ञान की प्राप्ति ज्ञान के लिये हो। इनका उद्देश्य नवीन ज्ञान की प्राप्ति एवं वृद्धि होती हैं। इसमें शोधक का ध्यान मौलिक सिद्धान्तों की ओर होता है। वह नवीन घटनाओं एवं तथ्यों का अध्ययन करके पुराने ज्ञान या सिद्धान्त को चुनौती देता हैं। जैसे राजनीतिक जीवन, राजनीतिक गतिविधियों तथा सम्बन्धों का अध्ययन, करके ज्ञान के सिद्धान्त में योगदान देना।

(2). प्रयोगात्मक शोध–

यह शोध राजनीति संबंधी निर्णय लेने तथा सही मूल्यांकन करने में सहायता देता है, इससे राजनेताओं प्रशासकों तथा नागरिकों को लाभ मिलता है, इसमें विभिन्न सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता हैं तथा उनके समाधान हेतु सुझाव दिये जाते हैं।

प्रस्तुत शोध का विषय " छतरपुर जिले में अपराधिक संदर्भ में पुलिस प्रशासन की भूमिका हैं।" जिले में अपराध क्यों होते हैं, इसके लिये प्रयोगात्मक शोध पद्धति का प्रयोग किया जाता है। छतरपुर जिलें में सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ ऐसी विकट है कि यहां न केवल आज अपराध हो रहे हैं अपितु पिछले 200 वर्षो से यहां अपराध होते आ रहे हैं। केवल प्रशासनिक सुधार से ही समस्या का हल नहीं हो सकता हैं, इसके लिये सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक समाधान ढूंढना आवश्यक हैं।

(3) क्रियात्मक शोध -

यह शोध प्रयोगात्मक शोध से मिलता जुलता हैं। इसका भी सम्बन्ध राजनैतिक जीवन की समस्याओं एवं घटनाओं से होता हैं। गुड एवं हेट के अनुसार क्रियात्मक शोध उस कार्यक्रम का बाग होती हैं, जिसका लक्ष्य वर्तमान अवस्थाओं को बदलना होता हैं।[1]. निर्वाचन प्रणाली में सुधार लाने के लिये शोधकर्ता क्रियात्मक शोध करवायेगा इससें घटना या समस्या के पक्ष का ध्यान दिया जा सकता हैं तथा अधिक से अधिक सहयोग लिया जाता है। प्रयोगात्मक एवं क्रियात्मक शोध एक दूसरे के सहायक एवं पूरक होते हैं। यंग के शब्दों में इन दो प्रकार के शोध के मध्य कठोर विभाजन रेखा नहीं खीचीं जा सकती है। प्रत्येक का विकास और सत्यापन एक दूसरे पर निर्भर हैं।

1– गुड एण्ड हैड- मेयड इन सोशल रिसर्च, मेरूग्रेल हिस बुक कम्पनी, न्यूयार्क 1972, पृष्ठ–362

व्यवहारवादी शोध

राजविज्ञान के इतिहास में व्यवहारवाद या व्यवहारवाद का बड़ा महत्व हैं । उसे एक महान क्रान्ति माना गया हैं । इस व्यवहारवादी क्रान्ति ने राजविज्ञान के लक्ष्य,स्वरूप,विषय–क्षेत्र, पद्धति–विज्ञान आदि सभी को बदल दिया हैं । इसके प्रभाव से परम्परागत राजशास्त्र न केवल राजनीति–विज्ञान बन गया है, अपितु वह राजनीतिका विज्ञान भी बन रहा हैं ।[1.]

एक दृष्टि से हम सभी व्यवहारवादी हैं । हम एक दूसरे के व्यवहार को देखते और सोचते हैं तथा उसी के अनुरूप अपना व्यवहार करते हैं । हमने विशेष व्यवहारों के विशेष नाम रख लिये हैं, जैसे–शिष्टाचार, लड़ाई, नेतागिरी, मुकदमेबाजी, दल–बदल आदि ।इन सभी व्यवहारों से हम सुपरिचित हैं । इस दृष्टि से मानव पहले भी व्यवहारवादी था और भविष्य में भी ऐसा ही बना रहेगा । प्राचीन काल के राजशास्त्री किसी रूप में व्यवहारवादी थे। उन्होंने अपना राजनीतिक चिन्तन मानव के व्यवहार को दृष्टिगत रखकर विकसित किया हैं। वस्तुतः मनुष्य जन्म से ही व्यवहारवादी होता हैं – प्रेम देखकर आकर्षित होता है और घृणा पूर्ण व्यवहार से दूर भागता हैं ।

डेविड ईस्टन के अनुसार "मानव के व्यवहार को अपने अध्ययन, अवलोकन व्याख्या, निष्कर्षण आदि का आधार मानने की प्रवृत्ति या दृष्टिकोण को व्यवहारवाद प्रवृत्ति कहा जाता हैं"[2.] व्यवहारवाद शब्द अपने आप में बहुत लायक हैं । बैरलसन के मत में व्यवहारवादी का वैज्ञानिक लक्ष्य "मानव" व्यवहार के विषय में ऐसे सामान्यीकरण प्राप्त करना हैं, जिन्हें निष्पक्ष और वस्तुपरक ढंग से एकत्रित आनुभाविक प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया गया हो ।"[3.] उसका लक्ष्य मानव व्यवहार को, उसी प्रकार से समझना व्याख्या करना तथा उसका पूरा कथन करना हैं, जिस प्रकार से वैज्ञानिक लोग भौतिक याप्राणिशास्त्रीय तथ्यों एवं घटनाओं के विषय में करते हैं ।

व्यवहारवादी विद्वानों ने सर्वप्रथम परम्परागत राजनीतिशास्त्र के दोषों पर प्रहार किया,उन्होंने उसे दर्शन, कानून व इतिहास के अधीनस्थ बतलाया, तथा मुक्ति दिलाने के प्रयासों का दावा किया । दूसरा आरोप यह था कि परम्परागत राजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु संस्था हैं। व्यवहारिकतावाद व्यक्ति, व्यक्ति समूह व्यक्ति व्यवहार पर बल देता है । तीसरा गति या प्रक्रियाओं को महत्व न देते हुये संस्थाओं के ऐतिहासिक कानूनी एवं आदर्श प्रश्न के अध्ययन में ही परम्परागत विद्वान उसके रहे। चौथा परम्परागत अनुसंधान पद्धति अत्यन्त अस्त व्यस्त, स्वेच्छापूर्ण आत्म निष्ठ एवं अनुशासनहीन थी, व्यवहारिकवाद उसे वैज्ञानिक बनाने का प्रयास करता हैं । पांचवा व्यवहारिकवादी इन्द्रियानुभाविक सिद्धांत के दृढ़ समर्थक हैं । साथ ही उत्तरोत्तर ज्ञान के संचय के पक्ष में हैं जबकि व्यवहारिकवादी क्रांति के पूर्व इसकी सरासर उपेक्षा की गई हैं ।[4.]

डेविड ईस्टन ने " व्यवहारवाद का वर्तमान अर्थ " लेख में व्यवहारवाद की आठ

1– **वर्मा एस.एस.**- राजनीति–आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977, पृष्ठ–71

2– **डेविड ईस्टन**- एण्फेम वर्क फार पोलिटिकल एनलोसिस, प्रोन्टिस हाल, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ–33

3– **बैठलसन**- वर्नाड दी विहेविटस सायन्स टूडे, केसिक बुक्स, न्यूयार्क 1963, पृष्ठ–3

4– **अवस्थी राजकुमार**- राजनीतिशास्त्र के नये क्षितिज भाग–1, 1980, पृष्ठ–328–29

मान्यताएं या विशेषताएं बतायी हैं ।"[1]. इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता हैं ।

1. नियमितताएं
2. सत्यापन
3. प्रविधियां
4. परिमाणन
5. मूल्य
6. क्रमबद्धता
7. विशुद्व विज्ञान
8. एकीकरण

क्षेत्र निर्धारण

शोध का क्षेत्र निर्धारण, संपूर्ण जीवन और उससे सम्बद्ध प्रकियाओं और नियमों तक विस्तृत हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ है कि शोध के विषय में जीवन की किसी विशिष्ट या सामान्य घटना को चुन सकता हैं । अनुबन्धन का प्रारम्भ व्यवहारिक समस्याओं से होता है उसका उद्देश्य ज्ञान को उत्पन्न करना हैं । उसका उपयोग योजना में एवं सामाजिक कार्यक्रम चलाने में किया जा सकें ।

एफ.एस.सी. नार्थशेप ने ठीक कहा हैं कि "अनुसंधान कार्य उस जहाज की तरह है जो कि एक दूर के गंतव्य स्थल की ओर जाने के लियेबन्दरगाह से चलता है, परन्तु यदि आरम्भ में ही दिशा निर्धारण के संबंध में थोड़ी सी भूल हो जाये तो उसके भटक जाने की सम्भावना अधिक रहती है चाहे उस जहाज का निर्माण कितनी कुशलता से क्यों न किया गया हो, उसका कप्तान कितना ही योग्य क्यों न हों ।[2].

वैज्ञानिक प्रणाली का आधार भूत लक्ष्य सिद्धान्त रचना होता है। वैज्ञानिक शोध प्रणाली का लक्ष्य सत्य को ढूँढ़ निकालना है, लेकिन इस लक्ष्य तक एकाएक नहीं पहुंचा जा सकता। सत्य तक पहुंचने के लिए कई स्तरों में से होकर गुजरना पड़ता हैं । वैज्ञानिक पद्वति में आरंभ से लेकर अंत तक व्यवहारिक ढंग से कार्य करना पड़ता हैं, और यह अध्ययन विभिन्न स्तरों पर होता है वैज्ञानिक शोध प्रणाली के निम्नलिखित स्तर हैं ।

समस्या का चयन-

समस्या का चयन एवं प्रतिपादन सामाजिक अनुसंधान के सफल संचालन हेतु नितांत आवश्यक है। वैज्ञानिक ढंग की परिभाषा करने वाले चरणों की श्रृंखला में अनुसंधान समस्या का प्रथम स्थान हैं । यदि कोई भी समस्या को सुलझाना चाहता हैं तो यह जानना आवश्यक है कि समस्या क्या है ? शोधकर्ता को अपनी बुद्धि के सहारे समस्या को स्पष्ट रूप से उल्लेख करना

1– **एफ० ए० एस० सी० नार्थ शेप-** दि सतिक ऑफ साइन्स एण्ड ह्यूमीनिटिक, पृष्ठ – 937

2– **एफ० एस० सी० नार्थरोप-** दि सजिक आफस साइन्स एण्ड ह्यूमीनिटिक, पृ0 937

चाहिये तथा उसे प्रश्नों के रूप में व्यक्त करना चाहिये क्योंकि प्रश्न समस्या को अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करते है। करलिंगर ने समस्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा कि "समस्या एक ऐसा प्रश्नवाचक वाक्य अथवा कथन है जिससे यह जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है कि दो या दो से अधिक चरों के बीच किस प्रकार का संबंध पाया जाता हैं ?

2- उपकल्पना का निर्माण

कोई भी अध्ययन तब तक वैज्ञानिक नहीं हो सकता जब तक उनमें वैज्ञानिक पद्धति को काम में न लाया जाय। वैज्ञानिक पद्धति का सदुपयोग तभी हो सकता है जब अध्ययन विषय के विभिन्न पक्षों के संबंध में एक सामान्य अनुपात पहले से ही लगा लें। ये सामान्य अनुपात शोधकर्ता के लिये मार्गदर्शक बन जाता हैं। और शोधकर्ता का ध्यान कुछ निश्चित और आवश्यक तत्वों पर ही केन्द्रित करके अनुसंधान की दिशा को निर्धारित करता हैं। और उसे अनिश्चितता के अधर में भटकने से बचा लेता हैं। इसी आरम्भिक तथा सामान्य कामचलाऊ अनुमान को उपकल्पना कहते हैं।

श्री लुण्डवर्ग के अनुसार" प्राक्कल्पना एक सामयिक अथवा कामचलाऊ सामान्यीकरण या निष्कर्ष हैं जिसकी सत्यता में परीक्षा अभी बाकी हैं। बिल्कुल आरम्भिक स्तरों पर प्राक्कल्पना कोई भी अटकलपच्चू अनुमान, कल्पनात्मक विचार, सहजज्ञान या और कुछ हो सकता है जो कि क्रिया या अनुसंधान का आधार बन जाता हैं।[1.] एमोरी एस0 बोगार्डस के अनुसार "परीक्षित किये जाने वाले विचार को उपकल्पना कहते है"।[2.]

गुडे तथा हॉट के अनुसार" अच्छे अनुसंधान में प्राकल्पना का सूत्रीकरण एक केन्द्रीय सोपान हैं"[3.] प्रो0 यंग ने उपकल्पना की व्याख्या करते हुये लिखा है कि अपने तथ्यों के विषय में सामान्य ज्ञान के आधार पर एक वैज्ञानिक भूल सुधार की पद्धति के द्वारा उन विशिष्ट कारणों को छांट लेता हैं जो कि अध्ययन किये जाने वाले समस्याओं पर रोशनी डाल सकें। अटकलचप्पू विचारों द्वारा तथ्यों की विभिन्न श्रेणियों के बीच व्याख्यात्मक सम्बंध को स्थापित करता हैं।[4.]

जैसे–जैसे अध्ययन कार्य आगे बढ़ता है वैसे–वैसे इन सामयिक उपकल्पनाओं की ठोस परीक्षा सतर्कता से एकत्रित तथ्यों की वास्तविक कसौटी पर होती जाती हैं। ये प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक उपकल्पनाओं और वास्तविक तथ्यों के बीच समानता के सम्बन्ध मे कोई संदेह न हों।

जैसे हमने एक विषय शोध के लिये चुना वह है अपराध के संदर्भ में पुलिस की भूमिका । हमने अपने आरम्भिक ज्ञान व सामान्य अनुभव के आधार पर एक कामचलाऊ उपकल्पना

1– **लुण्डवर्ग जी० एस०-** सोसियल रिसर्च पृ0 9

2– **बोगार्डस एमोरी-** सोसियोलॉजी पृ0 551

3– **गुड तथा हाट-** मेथड इन सोशियल रिसर्च, केग्राकहित बुक कम्पनी न्यूयार्क 1955, पृष्ठ 63–67

4– **यंग पी० वी०-** सायन्सटिफिक सोसियल सर्वे एण्ड रिसर्च, एशिया पब्लिशिंग हाउस

करली कि छतरपुर जिले में अपराधियों को जन्म देने के प्रमुख कारण हैं, गरीबी, जमींदारी प्रथा, प्रतिशोध की भावना, बुन्देली लोक गीतों में डाकुओं का सम्मान बढ़ाना, पुलिस तथा राजनीतिज्ञों का सहयोग और सुरक्षा के लिये सरलता से हथियारों की आपूर्ति और छिपने के स्थान के लिये घना जंगल।

उपकल्पना की विशेषतायें

प्रस्तुत की गई परिभाषाओं के आधार पर उपकल्पनाओं की विशेषताऐं निम्नलिखित हैं।

1. अध्ययन कार्य को निश्चितता प्रदान करती हैं।
2. यह मार्गदर्शन के लिये उपयोगी है।
3. यह तथ्यों पर आधारित अस्थायी हल हैं।
4. यह अनुबंधन को दिशा प्रदान करती हैं।
5. सम्बन्धित तथ्यों के संकलन में सहायक होती हैं।
6. प्रत्येक दशा में सत्य ढूंढ निकालने के कार्य में सहायक सिद्ध होती हैं।
7. पुनरावृत्ति को संभव बनाती है।
8. सिद्धांतों के निर्माण में सहायक होती हैं।
9. उचित उपकल्पना द्वारा इकट्ठे करने वाले तल उपयोगी होते हैं।

इस प्रकार उपकल्पना समस्त अध्ययन को दिशा प्रदान करती हैं। उपकल्पना के अभाव में अनुसंधान एक लंगर विहीन जहाज के समान हो सकता है। जिस प्रकार अज्ञात दिशा की ओर यात्रा करने वाले व्यक्ति को ध्रुव तारे से दिशाओं का ज्ञान होता हैं अथवा जहाज के चालों को जिस प्रकार उनके प्रकाश स्तम्भ अज्ञात दिशाओं में भी सही मार्ग प्रदर्शन करते हैं , इसी प्रकार उपकल्पना अनुबंधन को निश्चित लक्ष्य की ओर निर्देशित करती हैं।[1]

सर्व, श्री गुड एवं हॉट्ट ने लिखा है कि उपकल्पना यह बताती है कि हम किसकी खोज कर रहे हैं, प्रयत्न की बरबादी रूक जाती हैं।[2] " यह तथ्यों व सिद्धांतों के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं।[3]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमारा अध्ययन एक मनमाना अध्ययन नहीं होता श्रीमती यंग के शब्दों में "उपकल्पना के प्रयोग में उन तथ्यों की अंधी खोज व अन्धाधुंध संकलन पर नियन्त्रण होता हैं, जो बाद में अध्ययन किये जाने वाली समस्या के लिये अप्रासंगिक सिद्ध हों [4]

उपकल्पना के उद्देश्य, महत्व, आवश्यकता आदि से प्रेरित होकर हमने अपने

1— मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक शोध व सांख्यिकी, रंजन प्रकाशन गृह, नई दिल्ली 1983, पृष्ठ 173

2— गुड तथा हाट, मेथड इन सोशियल रिसर्च, मेकग्रान हिल बुक कम्पनी, न्यूयार्क 1955, पृष्ठ—69

3— मेनने पीटर, एच0 मेथडस ऑफ सोशलाजिकल इन्क्वायारी पृष्ठ — 89

4— यंग पी0 वी0 सायन्सटिपिक सोशियल सर्वे एण्ड रिसर्च, प्रिन्टिग न्यू दिल्ली, 1975 पृष्ठ—96

शोध कार्य के प्रारम्भ में निम्नलिखित उपकल्पना कर ली हैं।

1. केन्द्र और राज्य के सम्बन्धों में तनाव होना स्वाभाविक हैं।
2. राज्य को अनुपात के आधार पर वित्तीय सहायता नहीं मिलती।
3. अलगाववाद, क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता को सम्बन्धित राजनीतिक दल राज्यों में बढ़ावा देते हैं।
4. राज्यों में संविधानोत्तर प्रवृत्तियां पाई जाती हैं।
5. राज्यपाल केन्द्र की कठपुतलियाँ बन जाते हैं।
6. राज्यों की विधानसभाओं में उच्छृंखलता बढ़ रही हैं।
7. राज्यों में केन्द्र राष्ट्रपति शासन लागू करने में तत्परता लेता हैं।
8. सरकारिया आयोग की सिफारशों को राज्यों में लागू करने के लिये केन्द्र अधिक्र उत्सुक नहीं हैं।
9. राज्य सरकारें अपनी असफलताओं का दोष, केन्द्र पर आरोपित करती हैं।

अनुसंधान अभिकल्प- शोध समस्या का निर्धारण करने तथा प्रकल्पना निर्माण के रूप में उसका संभावित समाधान सुझाने के पश्चात जांच या परीक्षण की बारी आती हैं। परिकल्पना को अनुभाविक आधार पर परीक्षण करने की योजना को अनुसंधान अभिकल्प कहा जाता हैं। अनुसंधान एवं अभिकल्प के स्वरूप के बारे में अल्प्रेड़ जे बाहय के मत में– "वह एक ऐसी योजना है जिसका विकास किसी प्रश्न का उत्तर देने की स्थिति का वर्णन करने या प्रकल्पना का परीक्षण करने के लिये किया जाता हैं दूसरे शब्दों में यह एक ऐसा तर्क पूर्ण आधार हैं जिसके द्वारा विशिष्ठ कार्यविधियों के समूह से, जिसमें तथ्य संकलन एवं विश्लेषण दोनों भी शामिल हैं, अध्ययन की विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने की आशा की जाती हैं।

अनुसंधान अभिकल्प की विषय वस्तु – एक सामान्य अनुसंधान अभिकल्प में निम्नलिखित विषयों का उल्लेख किया जाता है। – (1) शोध का विषय (2) अध्ययन की प्रकृति (3) प्रस्तावना एवं पृष्ठभूमि (4) उद्देश्य (5) अध्ययन का सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक संदर्भ (6) अवधारणा, चर एवं प्रकल्पना (7) काल निर्देश (8) तथ्य सामग्री के चयन के आधार एवं संकलन प्रविधियां (9) विश्लेषण एवं निर्वचन (10) सर्वेक्षण काल समय एवं धन।

अनुसंधान अभिकल्प के प्रकार- सामान्य विशेषताओं के आधार पर चार वर्गो में रखा जा सकता हैं –

(1)- अन्वेषणात्मक अभिकल्प-

इस अभिकल्पों में शोंध का उद्‌देश्य राजनैतिक घटनाओं के कारणों का अर्थात् वास्तविकता का पता लगाना होता है। ऐसा करते समय अपने अध्ययन के विषय तथा अनुसंधान के क्षेत्र तथा सीमाओं का पता लग जाता है। विषय के गहराई में जाने के कारण प्रचलित अवधारणओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। तथा कई बार नवीन अवधारणओं का निर्माण करना पड़ता– जैसे कानून के अनुपातन की अवधारणा अन्वेषणात्मक शोध करते समय बदलती हुई दिखाई पड़ेगी ऐसे अनुसंधान घटना के कार्य कारण संबंधों को स्पष्ट कर देते है।

अन्वेषणात्मक अभिकल्पों कुछ विशेष अध्ययन प्रणलियों का अबलम्बन करना पड़ता है इनके तीन प्रकार हैं।

(1) **उपलब्ध साहित्य का सर्वेक्षण -** साहित्य सर्वेक्षण में यह देखा जाता हैं कि उस विषय पर अब तक क्या लिखा सोचा समझा गया हैं। इसमें वह संदर्भ साहित्य प्रकाशित पुस्तकों पत्र पत्रिकाओं आदि का अवलोकन करता हैं।

(2) **अनौमचारिक साक्षात्कार -** इसमें उन व्यक्तियों से मिलना पड़ेगा जिन्हें उन विषयों का प्रत्यक्ष अनुभव हैं। इसे अनुभव सर्वेक्षण भी कहा जाता हैं। ऐसे लोगों का चुनाव बड़ी सावधानी से करना पड़ता हैं।

(3) **व्यक्तिवृत अध्ययन-** इसमें किसी एक व्यक्ति, समूह या घटना को चुनलिया जाता हैं। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में किसी एक विनिश्चय का अध्ययन। फिर उसका आदि से अंत तक तभी संबंधित पक्षों का गहन अध्ययन किया जाता हैं । ऐसा करने से सभी इकाई का विश्लेषण हो जाता हैं।

अन्वेषणात्मक अभिकल्प तैयार करते समय यह ध्यान देना चाहिये कि ये केवल प्रकल्पाएं प्रदान करते हैं, उनकी जांच नहीं करते। इस लिये इसे सम्पूर्ण शोध प्रक्रिया का पूर्व भाग माना जा सकता है। समस्याओं का चुनाव करते समय यह नहीं भूल जाना चाहिये कि वे विशिष्ठ होती हैं। अतएव उनकी सामान्य एवं विशिष्ठ प्रकृति का ध्यान रखना चाहिये। वे अनुंसधान की दिशा में प्रारंभिक चरण हैं। उनके कुछ प्रमुख कार्य हैं – (1) किसी पूर्व निर्धारित प्रकल्पना का तात्कालीन स्थितियों में अन्वेषण करना (2) विभिन्न शोध–प्रविधियों की संभावना का स्पष्टीकरण करना। (3) राजनीतिक घटनाओं के कार्य कारण का पता लगाना (4) उस क्षेत्र भी अधिक महत्वपूर्ण घटनाओं कारको आदि की जानकारी। (5) विस्तृत अनुसंधान कार्य के लिये प्रकल्पना निर्माण करके ठोस आधार प्रदान करना।

(4) **वर्णनात्मक अनुसंधान -** वर्णनात्मक अनुंसधान में समस्या का विस्तृत वर्णन किया जाता है।। मोजर के अनुसार – "शोधक सामजिक दशाओं संबंधी और व्यवहार का अध्ययन करता हैं। अधिकांश मानव शास्त्री अध्ययन इसी प्रकार के हैं। प्रायः इस प्रकार के अध्ययन बिना प्रकल्पना के प्रारंभ कर दिये जाते है। यथार्थ एवं पूर्ण सूचनाएं प्राप्त करना ऐसे अभिकल्पों का लक्ष्य होता है। ये किसी समूह या संगठन से संबंधित हो सकती हैं। इससे महत्वपूर्ण चरों की बारम्बारता या उनसे प्रभावित व्यक्तियों की संख्या व मात्रा का पता चल जाता है। ऐसे अनुसंधान यह बता सकते हैं कि कौन–कौन से चर परस्पर सह संबधिंत हैं। तथा अगली घटनाओं का संभावित स्वरूप क्या हैं ? किन्तु ऐसा करने से पूर्व शोधक को उस समस्या के बारे में थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य होना चाहिये कि निम्न सदन के क्या कार्य अधिकार एवं अधिकारी होते हैं ? उसमें उनके निर्वाचन, योग्यताएं, आयु लिंग धर्म, भाषा, जाति व्यवसाय, कार्य आदि सभी कुछ आ जायेंगे।

इस घोषणा में सभी प्रविधियों का उपयोग किया जा सकता हैं। क्योंकि उसका मूल उद्देश्य समस्त वास्तविकता को जानना होता हैं। वर्णनात्मक अनुसंधान के कई चरण हैं :–

कार्यकर्ताओं के होने पर निगरानी करना।

1. उद्देश्यों का निराकरण ।
2. तथ्य संकलन की प्रविधियों का चुनाव ।
3. निर्देशन पद्धति का चयन ।
4. तथ्य सामग्री का संकलन तथा उसकी परिवीक्षा या जांच, अन्य शोध
5. परिणामों का वर्गीकरण सारणीयन तथा अन्य सांख्यिकीय विश्लेषण ।
6. प्रतिवेदन लिखना।
7. प्रकाशन तथा प्रस्तुतिकरण।

(5) निदानात्मक अनुसंधान अभिकल्प - निदानात्मक अभिकल्प का उद्देश्य समस्या के वास्तविक कारणों का पता लगाकर उनके समाधान प्रस्तुत करना होता हैं। समाधान प्रस्तुत करने का लक्ष्य रखने के कारण इन्हें निदानात्मक अभिकल्प कहा जाता है। यदि भारतीय राजनीति में दल–बदल का अध्ययन करके उसके समाधान संबंधी सुझाव रखें जायेंगे तो उसे निदानात्मक शोध अभिकल्प कहा जायेगा। ऐसा करने के लिये कारणों का वैज्ञानिक विधि द्वारा पता लगाया जाता हैं। उसके सहारे प्रकल्पना निर्माण किया जाता हैं तथा समाधान को साक्ष्य द्वारा प्रमाणिक बनाने का प्रयास किया जाता हैं।

प्रयोगात्मक अनुसंधान अभिकल्प - भैतिक विज्ञानों की भांति राजविज्ञान में भी प्रयोगात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया जाने लगा हैं। इसमें नियंत्रित दशाओं में निरीक्षण व परीक्षण किया जाता है। नियंत्रित दशाओं में घटनाओं को रख कर व्यवस्थित अध्ययन करने संबंधी रूप रेखा को प्रयोगात्मक अनुसंधान अभिकल्प कहा जाता हैं। ये प्रयोग तीन प्रकार के होते हैं।
(1) पश्चात् परीक्षण (2) पूर्व पश्चात् परीक्षण (3) कार्यान्तर मध्य परीक्षण

6- अन्य प्रकार- इन अभिकल्पों के अतिरिक्त और कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे तुलनात्मक अध्ययनों के अभिकल्प तथा सांख्यिकीय शोध प्रचनाएं । ये कठिन एवं जटिल प्रकार के अनुसंधान कार्य हैं।

सेल्टिज के अनुसार – "व्यवहार में इन अभिकल्पों को एक दूसरे से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता । कोई भी शोध एक से अधिक कार्य नही करता हैं। इन कार्यो के आधार पर प्रायः अनुसंधान का वर्गीकरण किया गया हैं, किन्तु इसमें कठोरता से काम नहीं लिया जाना चाहिए प्रायः किसी लक्ष्य या कार्य के कारण अनुसंधान को किसी एक वर्ग में रख दिया जाता हैं। उसे उसका अधिक महत्वपूर्ण कार्य कहा जा सकता हैं। अन्यथा ये एक दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं" ।

प्रश्नावली

प्रश्नावली प्रश्नों की एक आयोजित व क्रमबद्ध सूची हैं, जिसका उद्देश्य अध्ययन विषय से सम्बन्धित प्राथमिक तथ्यों को संकलित करना होता हैं। फिर भी जैसा कि श्री लुण्डवर्ग ने लिखा हैं कि प्रश्नावली का निर्माण करते समय अन्य अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है विशेषकर इसलिये कि इसमें प्रश्नों का उत्तर अनुसंधानकर्ता के प्रत्यक्ष व्यक्तिगत अनुरोध तथा

सहायता के बिना ही भरना होता हैं। 1. प्रश्नावली प्रविधि में इस सीमा के अतिरिक्त भी अन्य कई दोष हैं पर जैसा की सर्व श्री गुड एवं हांट ने लिखा है, इन दोषों के बावजूद भी डाक द्वारा प्रेषित स्वंय भरी जाने वाली प्रश्नावली समाजशास्त्रीय शोध में एक उपयुक्त प्रविधि हैं। जब तक इस प्रविधि का प्रयोग उपयुक्त तरीकों से किया जाता रहेगा, इसमें वास्तविक लाभ प्राप्त हो सकेगा।2.

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि एक विषय से सम्बन्धित व्यक्तियों से सूचना प्राप्त करने के लिये प्रश्नों की एक क्रमबद्ध सूची को प्रश्नावली कहते हों। जिसे कि डाक द्वारा भेजकर सूचना एकत्रित की जाती हैं पर विभिन्न विद्वानों ने इसमें अर्थ को अपने–अपने ढंग से समझाने का प्रयत्न किया हैं। सर्व श्री गूड तथा हाट के अनुसार, "सामान्य रूप से प्रश्नावली से तात्पर्य प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की उस प्रविधि से हैं जिसमें कि एक पत्रक का प्रयोग किया जाता हैं जिसे उत्तरदाता स्वयं भरता हैं।3.

प्रश्नावली की परिभाषा करते हुये श्री पोप ने लिखा हैं, "एक प्रश्नावली को प्रश्नों के एक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता हैं। जिसका उत्तर सूचनादाता को बिना एक अनुसंधानकर्ता अथवा प्रगणक की व्यक्तिगत सहायता के देना होता हैं।4.

श्री बौगार्डस ने लिखा है कि प्रश्नावली विभिन्न व्यक्तिओं को उत्तर देने के लिये दी गई एक तालिका हैं । 5. जबकि प्रो0 सिन पाओं यांग के अनुसार "अपने सरलतम रूप निर्वाचित व्यक्तियों के पास डाक द्वारा भेजी जाती हैं। 6.

श्री लुण्डवर्ग ने लिखा हैं कि " मूलतः प्रश्नावली प्रेरणाओं का एक समूह हैं जिसे कि शिक्षित लोगों के सम्मुख उन प्रेरणाओं के अन्तर्गत उनके मौखिक व्यवहारों का निरीक्षण करने के लिये प्रस्तुतं किया जाता हैं। 7.

श्री विलसन जी के मतानुसार, "प्रश्नावली बड़ी संख्या में लोगों अथवा छोटे चुने हुये एक समूह से, जिसमें कि सदस्य विस्तृत क्षेत्र में छिटके हुये हैं, सीमित मात्रा में सूचना प्राप्त करने की एक सुविधाजनक प्रणाली हैं ।8.

1– **लुण्डवर्ग-** जार्ज ए0 सोशियल रिसर्च, लॉगमेन, ग्रीन एग्र कम्पनी न्यूयार्क 1951 पृष्ठ–182
2– **गूड एण्ड हाट-** मेथड इन सोशियल रिसर्च, केकग्रविहिल कम्पनी, 1952 पृष्ठ–70
3– **गुड एण्ड हाट-** वही पुस्तक, पृष्ठ–33
4– **पोप-** जे0 डी0 रिसर्च में एण्ड प्रोसिजर इन एग्रिकल्चर इकोनोमिक्स, सोशियल साइंस रिसर्च कौन्सिल, न्यूयाक 1928, पृष्ठ–63
5– **बोगर्डस इंमरी-** सोशियलाजी, पृष्ठ–549
6– **सिन पाओं यांग-** फेक्ट फाइण्डिय विय रूरल पीपल 1953, पृष्ठ–51–52
7– **लुण्ड वर्ग जार्ज0 प्र0-** सोशियल रिसर्च0 लॉगमेन, न्यूयार्क 1951, पृष्ठ–183
8– **विलसनजी,** सोशियल सायन्स रिसर्च मेथड 1950 पृ0 314

प्रश्नावली का निर्माण

प्रश्नों का निर्माण करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहियें कि उन प्रश्नों का उत्तर सूचनादाता बिना किसी की सहायता के स्वयं दें। श्रीमती पी.बी. यंग के अनुसार "उचित संदेश तभी प्राप्त होता है जबकि सूचनादाता सर्वेक्षण के उद्देश्य को भली–भांति समझ जाये ।[1.]

पूर्व परीक्षण

भौतिक विज्ञानों की तरह राजनीतिक विज्ञान भी अपने शोध कार्य में परीक्षण प्रणाली का उपयोग कर अधिकाधिक यथार्थता लाने का प्रयत्न कर रहा है । भौतिक विज्ञान में जिस तरह कुछ निश्चित नियंत्रित अवस्थाओं में रख कर विषय का अध्ययन किया जाता है , उसी प्रकार नियंत्रित दिशाओं में रखकर, निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा राजनीतिक घटनाओं का व्यवस्थित अध्ययन करने की रूपरेखा को परीक्षणात्मक शोध प्रचना कहते हैं। श्री चैपलीन ने लिखा है। " समाजशास्त्रीय शोध में परीक्षणात्मक प्रचना की अवधारणा नियन्त्रण की दशाओं के अन्तर्गत निरीक्षण द्वारा मानवीय सम्बन्धों के व्यवस्थित अध्ययन की ओर संकेत करती है ।[2.]

स्लेटो ने भी लिखा है, पूर्व जांच आवश्यक रूप से एक परीक्षण है जिसमें सफल परीक्षाओं की पुरावृत्ति की जाती है ।[3]

परीक्षणात्मक शोध तीन प्रकार के होते है ।

(1) पश्चात् परीक्षण-

इसके अंतर्गत सभी दृष्टि से प्रायः विशेषताओं व प्रकृति वाले दो समूहों को चुन लिया जाता है जिसमें से एक समूह नियंत्रित समूह और दूसरा परीक्षणात्मक समूह कहलाता हैं नियंत्रित समूह में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जाता जबकि परीक्षणात्मक समूह में किसी एक कारक के द्वारा परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है । जैसे अपराधियों को सुधारनें के लिये उन्हें नियमित रूप से धार्मिक और नैतिक शिक्षा दी जाती हैं और दूसरे अपराधी समूहों में यह कार्य नहीं होता है । एक साल के बाद दोनों समूहों की तुलना की जाती है और यह निष्कर्ष निकाला जाता है। कि क्या परीक्षणात्मक समूह नियंत्रित समूह की तुलना में अधिक शिष्ट प्रतीत होता है ।

(2) पूर्व पश्चात परीक्षणः-

इसके अन्तर्गत अध्ययन के लिये केवल एक ही समूह का चुनाव किया जाता है और उसी का अध्ययन अवस्था विशेष के पूर्व और पश्चात् किया जाता है। यदि दोनों में किसी प्रकार का अंतर हैं, तो मान लेना चाहिए कि यह परिस्थिति का परिणाम हैं । उदाहरण के लिये

1— **यंग पी० बी०-** सायन्सटिपिक सोशियल सर्वे एण्ड रिसर्च, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1960, पृष्ठ–170

2— **चेपलीन-** एक्सपरीमेण्ट डिजाइन इन सोशियोजिकल रिसर्च, पृष्ठ – 28

3— **स्लेटो-** आर० एफ० प्रिटेस्टिंग ऑफ क्वश्चनरीज, अमेरिकन सोशिलाजिक रिविव, अप्रैल 1940, पृष्ठ–200

अपराध का अध्ययन औद्योगीकरण के पूर्व और औद्योगीकरण के पश्चात् किया जाता है और यदि इन दोनों अध्ययन की तुलना में यह पता चले कि औद्योगीकरण के पूर्व अपराध कम हुआ करते थे जबकि औद्योगीकरण केपश्चात् अपराधों में वृद्धि होती गई ।

(3) कार्यान्तर तथ्य परीक्षण:-

इसका प्रयोग किसी ऐतिहासिक घटना के अध्ययन के लिये किया जाता है । ऐतिहासिक घटनाओं को दोहराना शोधकर्ता के वश में नहीं होता है अतः वह दो समूहों का चुनाव करता है जिनमें से एक में वह घटना घटित हो चुकी है, जबकि दूसरी में नहीं । जैसे–नैतिक क्रांति के अध्ययन के लिये दो देशों का चयन करना होगा जिनमें एक एक सैनिक क्रांति हो चुकी है दूसरे में नहीं । अतः तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह खोजें की जा सकती है कि वे कौन से कारण है जिसके कारण एक देश में सैनिक कांति हुई, दूसरे में नहीं ।प्रस्तुत शोध प्रबंध में परिक्षणात्मक शोध के तीनों प्रकार का अध्ययन किया गया है ।

निदर्शन प्रक्रिया

"कुछ" को देखकर या परीक्षा कर "सब" के बारे में अनुमान लगा लेने की विधि को निदर्शन पद्धति कहते है । बाजार से गेंहूँ, चावल या दाल खरीदते समय उनकी बोरियों को खुलवाकर उनका एक–एक दाना कोई नहीं परखता बल्कि बोरी या ढेर में से एक मुट्ठी भर दाने निकालकर उसकी जांच कर लेते हैं और फिर उस मुट्ठी भर दाने का मूल्यांकन होता है वही सम्पूर्ण गेंहूँ, चावल या दाल की बोरी अथवा ढेर के लिये होता है । हलवाई अपनी मिठाई का सेम्पल चखकर हमें मिठाइयों की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में विश्वास दिलाता है, चाय का दुकानदार चाय की कुछ पत्ती सेम्पल के रूप में देकर उससे घर पर चाय बनाकर पीने का अनुरोध करता है ।[1]

मोटे तौर पर हम कह सकते है कि समग्र और उचित प्रतिनिधित्व करने वाली कुछ इकाइयों को निदर्शन कहा जाता है । सर्व श्री गुड एवं हाट ने लिखा है , एक निदर्शन जैसा कि नाम से स्पष्ट है किसी विशाल सम्पूर्ण का होना प्रतिनिधि है ।[2.]

निदर्शन प्रविधि

निदर्शन प्रविधि अनुसंधान की वह प्रविधि है जिसमें अनुसंधान विषय के अन्तर्गत सम्मिलित सम्पूर्ण जनसंख्या या इकाइयों में से सावधानीपूर्वक कुछ ऐसी इकाइयों को चुन लेना है जो कि सम्पूर्ण की आधारभूत विशेषताओं का उचित प्रतिनिधित्व कर सकें । श्री बोगार्डस के शब्दों में, "निदर्शन प्रविधि एक पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार इकाईयों के एक समूह में से एक निश्चित प्रतिशत का चुनाव है।[1] श्री फेयरचाइल्ड ने अपनी डिक्शनरी आफ सोशियोलॉजी में मिलड्रेड पार्टन के शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "एक निश्चित संख्या में व्यक्तियों, मामलों या निरीक्षणों को एक समग्र विशेष में से निकालने की प्रक्रिया या पद्धति अथवा अध्ययन के हेतु एक समग्र

1– गुड एण्ड हाट, मेथड इन सोशियल रिसर्च केकग्रीव हील एण्ड कम्पनी न्यूयार्क, 1952 पृष्ठ–209

2– यंग पी0. वी0 सायन्सटिपिक सोशियल सर्वे एण्ड रिसर्च एशिया पब्लिशिंग हाउस बॉम्बे 1960, पृष्ठ–302

समूह में से एक भाग को चुनना निदर्शन पद्धति कहलाती है ।"

श्री वाई.डी. केषकर के अनुसार,"निदर्शनात्मक अनुसंधान में हम समग्र समूह के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते है यद्यपि संकलित तथ्य जिसके आधार पर निष्कर्ष निकाले गए है समग्र के केवल एक भाग से संबंधित होता है । टिप्पेट ने ठीक ही लिखा है कि "बड़े समूह में से एक छोटा भाग लेने की विधि सामान्यतया भलीप्रकार समझी और विस्तृत रूप में काम में लायी जाती है । गृहस्वामिनी दुकान पर पनीर खरीदने से पहले उसका एक टुकड़ा नमूने के रूप में लेगी और एक रूई धुनने वाला व्यक्ति केवल रूई के टुकड़े को देखकर ही उस रूई की पूरी गांठ को खरीद लेगा ।

सर्वेक्षण

सर्वेक्षण का शाब्दिक अर्थ ध्यानपूर्वक किसी वस्तु का, घटना का निरीक्षण व परीक्षण करना है । "डिक्शनरी ऑफ सोशियोलाजी" के अनुसार "एक समुदाय के सम्पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पहलू जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन के सम्बन्ध में तथ्यों के बहुत कुछ व्यवस्थित व विस्तृत संकलन व विश्लेषण को ही मोटे तौर पर सर्वेक्षण कहते हैं।[1.] वैबस्टर शब्दकोश के अनुसार "वास्तविक जानकारी प्राप्त करने के लिये किया गया आलोचनात्मक निरीक्षण ही सामाजिक सर्वेक्षण कहलाता है ।[2]

श्री सिल पाओ यांग के अनुसार "सर्वेक्षण प्रायः लोगों के एक समूह की रचना, क्रियाकलापों तथा रहन"–सहन की दशाओं के सम्बन्ध में एक जांच पड़ताल है ।[3]

तथ्यों का विश्लेषण

शोध कार्य में केवल तथ्यों कापहाड़ एकत्रित कर लेने से ही अध्ययन विषय का वास्तविक अर्थ, कारण तथा परिणाम स्पष्ट नहीं हो सकता। जब तक कि उन एकत्रित तथ्यों को सुव्यवस्थित करके विश्लेषण व व्याख्या न की जाए । प्रख्यात फ्रेंच गणितशास्त्री श्री प्वपेनकेयर ने उचित ही लिखा है कि "जिस प्रकार एक मकान पत्थरों से बनता है, उसी प्रकार विज्ञान का निर्माण तथ्यों से होता है, पर केवल तथ्यों का एक संकलन उस भांति विज्ञान नहीं है कि जैसा पत्थरों का एक ढेर मकान नहीं है । अतः विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि एकत्रित तथ्यों

को सुव्यवस्थित करके उनका विश्लेषण व व्याख्या की जाए ताकि विषय के सम्बन्ध में सच्चे ज्ञान की पुष्टि संभव हो ।

श्रीमती यंग ने लिखा है कि "यदि सुव्यवस्थित तथ्यों को सम्पूर्ण से सम्बन्धित किया जाए तो उनका महत्वपूर्ण सामान्य अर्थ प्रकट हो सकता है जिसके कि आधार घटना की सप्रमाण

1–मुकर्जी – पृष्ठ – 31
2–मुकर्जी – पृष्ठ – 31
3–मुकर्जी – पृष्ठ – 32

व्याख्याएं प्रस्तुत की जा सकती है ।"[1].

शोधछात्रा किसी भी घटना को स्वयं सिद्ध नहीं मान लेती है । वह तो संकलित तथ्यों, विद्यमान आदर्शो तथा अर्न्तनिहित सामाजिक दर्शन को सामयिक मानती है ।संकलित तथ्यों की सावधानीपूर्वक जांच, उनके पारस्परिक संबंधों तथा उनका सम्पूर्ण घटना के साथ सम्बन्ध के संदर्भ में करता है । श्रीमती यंग के अनुसार "क्रमबद्ध विश्लेषण का कार्य एक ठोस बौद्धिक भवन का विचार करके एक संगठन का निर्माण करता है जो कि एकत्रित तथ्यों को उनके उचित स्थान तथा सम्बन्धों में प्रस्तावित करने में सहायक होगा ताकि उनसे सामान्य निष्कर्षो को निकाला जा सकें । "इस प्रकार तथ्यों के विश्लेषण के बिना किसी भी घटना के कार्यकारण संबंध की व्याख्या संभव नहीं है, और इस प्रकार की व्याख्या के बिना न तो विज्ञान का कोई औचित्य संभव है और न ही वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति।[2]

तथ्यों के विश्लेषण व्याख्या के लिये तथ्यों का सम्पादन, तथ्यों की परीक्षा, तथ्यों का वर्गीकरण, संकेतन तथा सारणीयन आवश्यक है ।

3. तथ्य संकलन-

राजविज्ञान में तथ्य अपने आप में महत्वपूर्ण है ही, किन्तु उनसे भी अधिक उनके स्त्रोत महत्वपूर्ण है । ये स्त्रोत वास्तविक, विश्वसनीय तथा अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणित होने चाहिये राजनीति व्यक्तियों समूहों, संगठनों तथा राजनेताओं से संबंध रखती है अतएव वे ही उसकी मूल सूचनाएं दे सकते है । उनसे उनके बारे में जानकारी देने वाले कहने या लिखने वाले अधिक उपयोगी नहीं हो सकते । यदि वे स्वयं या उनकी वृत्तियों उपलब्ध है , तो दूसरे व्यक्ति या सूचनाओं के अन्य साधन गौण हो जायेगें । किन्तु स्वयं उन मूल व्यक्तियों से तथ्य प्राप्त करना कोई आसान कार्य नहीं है । जब तक उन व्यक्तियों को शोधकों एवं राजविज्ञानियों में पूर्ण विश्वास एवं सौहार्द्र नहीं है, वे उन्हें सही रूप से जानकारी नहीं देंगे। राजनीति शक्ति, सत्ता, संघर्ष, प्रभाव द्वन्द्व आदि से संबंध रखती है । और उसका प्रभाव तात्कालिक होता है । कोई भी सूचनादाता अपनी इच्छा के विरूद्ध ऐसी गतिविधि में हिस्सा नहीं लेना चाहेगा कि वह विवाद का स्त्रोत बन जाय । कोई भी राजकर्ता अपने प्रभाव एवं शक्ति के वास्तविक स्त्रोतों को सहज रूप से नहीं बताता । हो सकता है कि वह स्वयं भी उन्हें नहीं जानता हो, या जानने पर भी या चाहकर भी वह उन्हें प्रश्न कर्ता को पूरी तरह जानकारी नहीं दे पाये । ऐसी स्थिति में प्रश्नकर्ता को एक ओर प्रत्यक्ष सूचना दाता के अलावा अन्य स्त्रातों का सहारा लेना पड़ेगा, दूसरी और अनेकानेक विशिष्ट प्रविधियों को अपनाना पड़ेगा कि उसे सही रूप से विषय से संबद्ध सभी तथ्य प्राप्त हो जाये । ये प्रविधियाँ आकाश में उड़ रहे वायुयान को देखने के लिये राडार के समान होगी ।

1– **यंग पी.वी.-** सायन्सटिपिक सोशियल सर्वे एण्ड रिसर्च, एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई 1960, पृष्ठ–509

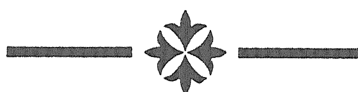
2– **यंग पी.वी.-** वही पुस्तक, पृष्ठ–510.

एक राजशोधक जब समस्या का निर्धारण, प्रकल्पनाओं का निर्माण तथा अभिकल्प का रूपांकन कर चुकता है , तो उसे वास्तविक कार्य करने के लिये मैदान में उतरना पड़ता है । यह कार्य शोध भाषा में क्षेत्र कार्य कहलाता है । क्षेत्र कार्य की सबसे बड़ी चुनौती यही है एवं सम्पूर्ण तथ्यों या आधार सामग्री का संकलन है । यह आधार –सामग्री अध्ययन के विषय से संबंधित होनी चाहिये तथा कम से कम समय धन और मानव शक्ति खर्च करके एकत्रित की जानी चहिये ।

सफल अनुसंधान कार्य करने के लिये स्वयं शोधक में अनेक गुणों का होना आवश्यक है । अनुसंधान कार्य के लियें राजशोधक का व्यक्तित्व आकर्षक, स्वस्थ, अध्यवसायी तथा सहनशील होना चाहिये । उनमें शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता ,कल्पनाशीलता,विचारों की स्पष्टता तर्कशक्ति तथा बौद्धिक, ईमानदारी होनी चाहिये । राजनीति के क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति अनुसंधान कार्य नहीं कर सकता यदि उसमें राजनीतिक वास्तविकता या सत्य को जानने की तीव्र इच्छा, आकांक्षा और जिज्ञासा नहीं है। शोधक का व्यवहार सुसंस्कृत होना चाहिये उसमें अनुकूलन शीलता तथा आत्म नियंत्रण अधिक मात्रा में होना चाहिये तथा अपने विषय का पूरा ज्ञान हो तथा विषय में एकाग्र होकर कार्य करने की क्षमता और उसमें मौलिक योगदान करने की भावना होनी चाहिये ।

"जोबर्ग एण्ड नीट के अनुसार" – अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि उसे विभिन्न अध्ययन पद्धतियों प्रविधियों, युक्तियों एवं उपकरणों का ज्ञान हो । वह उनका सही समय पर सही प्रकार के उपयोग कर सकें । उनकी सीमाओं, पारस्परिक एवं पूरक प्रकृति तथा क्षमता से उसे परिचित होना चाहियें ।

यद्यपि राजविज्ञान के अनुसंधान को तथ्य प्राप्त करने में बड़ी भारी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है, लेकिन शोधकर्ता को प्रत्येक स्थिति में अपने दायित्वों का निर्वहन करना होता है, जहाँ वह ऐसा करने में असमर्थ है उसने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी है ।



अध्याय द्वितीय

पृष्ठभूमि और आधार

1. भारतीय संविधान के संघीय तत्व,
2. केन्द्र राज्य संबंध का सैद्धांतिक पक्ष,
3. केन्द्र राज्य संबंध का व्यावहारिक पक्ष,
4. शोध प्रबंध के उद्देश्य,

पृष्ठभूमि और आधार

केन्द्र राज्य संबंधो का प्रश्न हमारा बावन वर्ष से अधिक का अनुभव और राज्यों की अधिक अधिकारों की मांग के परिवर्तित संदर्भ में गहराई से विचार व व्यापक राष्ट्रीय बहस बन चुका है, जिस पर विशद विचार विश्लेषण व चिन्तन होता रहा है। इस विषय पर सन् साठ के दशक में सीतल बाड की अध्यक्षता में गठित प्रशासनिक सुधार आयोग (A.R.C.) ने तथा तामिलनाडु की द्रमुक सरकार द्वारा नियुक्त राजमन्नार समिति ने विचार किया अथवा कुछ विषय विशेषज्ञों द्वारा केन्द्र राज्य संबंधो की समीक्षा की गई है लेकिन इसके बाद काफी वर्ष बीत चुके हैं और इस अवधि में घटित राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक घटनाओं ने नऐं प्रश्न उत्पन्न कर दिये हैं। फिर यह माना जाना चाहिये कि यह प्रश्न सैद्धांतिक व नीतिपरक होने के साथ व्यावहारिक ताल मेल का भी हैं।

संविधान की वास्तविक कार्य विधि संविधान में उल्लिखित बातो के समकक्ष नहीं होती है। सभी प्रकार की राजनीतिक आर्थिक व सामाजिक शक्तियाँ उनकी कार्य विधि से टकराती हैं और संविधान व्यवस्थाओं व व्यवहार पर उनके असर होते हैं । शक्ति और अधिकारों के प्रयोग की विकृतियाँ निर्धारित ढाँचे को प्रहारित करती हैं अतः सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि केन्द्र अथवा राज्य अपने अधिकारों के प्रयोग में कितने विवेकी हैं और उनके निर्वाह एवं निष्पक्ष व्यवहार का क्या स्तर हैं ?

भारत में 1935 के भारत सरकार अधिनियम लागू होने पर लगातार एक केन्द्रीकृत एकात्मक संविधान कार्यरत था। यद्यपि 1904 के कांग्रेस अधिवेशन से ही भारतीय राष्ट्रवादियों के मानस से "संयुक्त राज्य मानस" (यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ इंडिया) की तस्वीर निहित थी तथा मान्टफोर्ड रिपोर्ट में भी केन्द्रीय सरकार के संरक्षण में ब्रिटिश भारत के स्वायत्त राज्यों तथा भारतीय राज्यों का संघ की रूपरेखा अंकित थी, तथापि भारत सरकार अधिनियम 1915–19 ने आखिरकार मात्र प्रांतीय स्वायत्तता ही प्रस्तावित की। प्रांतीय सरकारें करीब–करीब केन्द्र सरकार की एजेन्ट मात्र थी तथा अपनी शक्तियाँ इसी से ग्रहण करती थी। भारत में संघ निर्माण के तरीके को भली–भांति समझने के लिये हमें 1935 के भारत सरकार अधिनियम की ओर से मुड़ना होगा जिसने पहली बार संघात्मक अवधारणा को लागू किया था तथा भारत से संबंधित संविधान अधिनियम में (खण्ड 5) भारत संघ शब्दावली का प्रयोग किया था।

इसी 1935 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश संसद ने भारत के लिये ठीक कनाडा की ही भांति संघीय व्यवस्था स्थापित की, यानि स्वायत्त इकाइयों का निर्माण कर बाद में एक तथा उसी अधिनियम द्वारा संघ में संयुक्त करके भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस प्रकार मात्र एक संघ में भारतीय राज्यों को उक्त स्वायत्त प्रांतो के साथ संलग्न करने का कार्य किया, जिन्होने (भारतीय राज्यों ने) 1935 में यह बात स्वीकार करने से इंकार कर दिया था। अतः भारतीय संघीयं व्यवस्था के प्रारंभ की इस विशिष्टता को विस्मृत नही किया जाना चाहिये।

भारत में 1935 के भारत सरकार अधिनियम के लागू होने तक लगातार एक केन्द्रीकृत

एकात्मक संविधान कार्यरत था। शक्तिशाली केन्द्र के चारों ओर राज्य रूपी ग्रहों की कल्पना करते हैं। अमेरिकी संघवाद और भारतीय संघवाद में जो प्रमुख अंतर प्रतीत होता है, वह है विभिन्न शक्ति केन्द्रो के मध्य कार्यात्मक, क्रियात्मक सामंजस्य एवं तारतम्य। अमेरिकी संघवाद विपरीत शक्ति केन्द्रों के बीच समन्वय की कल्पना करता है, अतः पिछले 200 वर्षो में उसमें तनाव भले ही आऐं हो परंतु दरार नही देखी गई । भारतीय संघवाद में शक्ति केन्द्र में एवं केन्द्र एक ही होने की वजह से उसमें तारतम्यता का अभाव हैं। इस प्रमुख अंतर को दृष्टि में रखते हुये यदि विचार किया जाये तो यह प्रतीत होता है कि भारत में संघवाद की धारणा और उसका क्रियान्वयन दोनो में भारी अंतर हैं भारतीय संविधान में जहॉ एक ओर समस्त अवशिष्ट शक्तियॉ केन्द्र को सौंपकर केन्द्र की स्थिति सुदृढ़ बनाई गई हैं वही दूसरी ओर संविधान के परिशिष्टों में राज्य सूची को अलग स्थान देकर स्थिति को भ्रामक बनाया गया है। राज्य सूची में दिये गये विषयों पर राज्य विधान सभाओं द्वारा कानून बनाना अभिप्रेत है परंतु ऐसी दशा में जब संसद और विधान सभा दोनो ही एक विषय पर कानून बना रहें हो तब संसद के कानून को वरीयता दी जाती है न कि विधान सभा के।[1]

उपरोक्त तथ्य यह प्रकट करते है कि भारत में केन्द्र राज्य संबंधो के सफल क्रियान्वयन के लिये आवश्यक तत्व विपरीत शक्ति केन्द्रो के होने का अभाव है। मूलतः भारतीय शासन व्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था केन्द्रीय करण की पक्षपाती रही है।

संविधान के उपबंधो में से कई पर हमारे देश मे पिछले कुछ वर्षो से विवाद उठता आया है तथा गत कुछ वर्षो से तो केन्द्र राज्य संबंधो का विषय विपक्षी राजनीति का प्रमुख मुद्दा बन गया है यद्यपि केन्द्र सरकार ने 24 मार्च, 1983 को केन्द्र राज्य संबंधो पर विचार करने और सुझाव देने के लिये उच्चतम न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश आर0 एस0 सरकारिया की अध्यक्षता में एक सदस्यीय आयोग का गठन किया था।

सरकारिया आयोग की नियुक्ति के बाद इस प्रश्न पर व्यापक चर्चा व बहस शुरू हो गई है और सभी विपक्षी दलों का यह अभिमत है कि इस प्रश्न पर विशद विचार के लिये परिषद बनाई जाये।

1787 के बाद अनेक देशों ने संघीय लक्षणों वाले संविधानों को स्वीकार किया है, अमेरिका के संविधान को (जो 1787 में बनायें जाने के कारण सबसे पुराना है) सर्व सम्मति से एक आदर्श संघात्मक संविधान माना जाता है। संघीय सिद्धान्त के बारे में अवधारणा संबंधी कुछ विसंगतियॉ इसलिये पाई जाती हैं। केन्द्रीयकरण के प्रयासों के बावजूद विघटन और विखण्डन के तत्व हमेशा हावी रहे है और यथार्थ दृष्टि से विकेन्द्रीयकरण कभी नही रहा। वैदिक काल में आर्यो की राजनैतिक दृष्टि एक राजा के चारों तरफ केन्द्रित रही भले ही राजा असंख्य हो लेकिन वे अपने आप में परिपूर्ण होते थे, वे विपरीत शक्ति केन्द्र नही थे।

1- **अनुच्छेद 249** (1) भारतीय संविधान राजभाषा, खण्ड विधायी विभाग, विधि न्याय और कंपनी कार्य मंत्रालय, भारत सरकार 1982

भारतीय संघवाद की कल्पना मूलतः 1925 के भारत शासन अधिनियम की देन है, इस अधिनियम द्वारा भारत के ग्यारह राज्यों को मान्यता प्रदान की गई।[1] ये ग्यारह प्रांत ही कोई सोच समझकर न बनाये गये थे।[2] अंग्रेजो ने भारत में प्रांत मुख्यतः भूराजस्व की स्थिति को सुदृढ़ करने एवं प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के लिये बनाये थे। भारत के 5000 वर्षो के इतिहास से भी यही बात प्रकट होती है प्रांतो की संकल्पना मूलतः प्रशासनिक सुदृढ़ीकरण और राज्य की आय के स्त्रोत बढ़ाने मे उद्देश्य से की गई है और व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुये नहीं की गई।[3]

ये तथ्य स्पष्ट करते है कि भारत में प्रांतो की रचना या उन्हें अधिकार सौंपने की बात भारतीय राज्यकर्तायों के दिमाग में नहीं आई । यही अटूट क्रम स्वंतत्रता पश्चात भी भारत में दृष्टिगत हो रहा है, जहॉ एक ओर द्रुतगति से आर्थिक विकास का नारा देकर राज्यों की स्वायत्ता को संकुचित किया जा रहा है, वही दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का नारा देकर राज्यों को केन्द्र के इशारों पर नाचने के लिये वाध्य किया जाता हैं।

भारत में केन्द्र राज्य संबंधो को मुख्यतः तीन दृष्टि से जॉचा परखा गया है। प्रथमतः संवैधानिक दृष्टि से द्वितीयतः कानूनी दृष्टि से और तृतीयतः राजनीतिक दृष्टि से। परंतु केन्द्र राज्य संबंधो का अभीतक व्यवस्था विश्लेषण एवं वस्तु मूलक विश्लेषण की दृष्टि से अध्ययन होना बाकी है। कोई सी भी राजनीतिक व्यवस्था शुद्ध राजनीतिक व्यवस्था नही होती । राजनीति मूलतः अर्थ व्यवस्था नहीं होती । राजनीति मूलतः अर्थ व्यवस्था की अधिरचना है। इसके सांस्कृतिक आर्थिक सामाजिक पारंपरिक मूल्यों के आयाम एवं नैतिक आयाम होते हैं। किसी भी देश की शासन व्यवस्था के मान बिन्दु उसकी आर्थिक संरचना में निहित होते है।। शासन व्यवस्था विकेन्द्रित होती है परंतु राजनीति का चरण हमेशा केन्द्रीयकरण का पाती होता है। राजनीतिक सामाजिक व्यवस्था केन्द्र सदैव सत्ता के चारों ओर घनीभूत होता है, और सत्ता कभी भी विकेन्द्रित नही होती भले ही विखण्डित हो जाये। यहाँ सिद्धान्त केन्द्र राज्य संबंधो पर लागू होता है। केन्द्र राज्य संबंधो का मूल सिद्धांत यह नही है, कि केन्द्र और राज्य एक दूसरे के प्रति क्या रूख अपनायें, परंतु इसका मूल सवाल है सत्ता के कितने केन्द्र होंगे और उन केन्द्रो के मध्य आकर्षण और प्रतिकर्षण की पद्धति क्या होगी।

भारतीय संघवाद में गुरूत्वाकर्षण न होने की वजह से प्रत्याकर्षण अकल्पनीय है। यही कारण है कि भारतीय संघ की प्रवृत्ति एकात्मक संघवाद की ओर है इसका प्रमाण भारतीय संविधान का प्रथम अनुच्छेद है जो कहता है "भारत राज्यों का संघ है।[4] भारतीय संघ के विपरीत

---

1. **1915 के भारत शासन अधिनियम** के अनुसार देशी रियासतों को छोड़कर समूचा ब्रिटिश भारत 11 प्रातों में बांटा गया था, ये प्रांत थे- 1. यूनाइटेड प्रोविन्स 2. बिहार 3. बंगाल 4. असम 5. उडीसा 6. सी० पी० एंडबरार 7. बंबई 8. मद्रास 9. कुर्ग एंड तिरावनकोर 10. एन० डबल्यू० एफ० पी० 11. ब्रिटिश ब्लूचिस्तान
2. **देखे भारत का प्रशासकीय इतिहास, लेखक बैजनाथ पुरी,** भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली के रजत जंयती भाषण, 3 जुलाई 1980 पृष्ठ- 45.
3. **वही पृष्ठ** –38
4. **अनुच्छेद** 1, **भारतीय सविधान** 1950 बाकी संदर्भ संख्या 1 के अनुसार

अमरीकी संघवाद बहुआयामी संघवाद है। उसका तात्पर्य यह है कि अमरीकी संघवाद में समान गुरूत्वाकर्षण वाले विपरीत सत्ता केन्द्रो की स्थापना कर उनमें सहयोगी आकर्षण की परिकल्पना की गई। विश्व के प्रमुख संघो की ओर दृष्टि पात करें तो यह तथ्य नजर आता है कि भारतीय संघ उन तमाम संघो से मात्रा एवं गुणो में भिन्न है। स्विटजरलैण्ड का संघ को आधार मानकर चलता है। दक्षिण अफ्रीका का संघ भी अमरीकी संघ को आधार मानकर चलता है, परंतु सोवियत रूस का संघ वैचारिक केन्द्रीयता के आधार पर कार्यात्मक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के द्वारा संघ के अंगो को एकात्मक बनाये रखता है, परंतु भारतीय संघ उपरोक्त संघो के किसी भी गुणो का अवलम्ब नही करता है। भारतीय संघ स्वंतत्रता पूर्व की देन है और भारतीय संघ में विघटन के बीज स्वयं संविधान ने बोऐ हैं। इसका प्रमाण अनुच्छेद 370,[1] 371[2]क, 371ख[3], 371ग[4], 371घ[5], 371घ[6], 371घ[7] 371च[8], एवं 371छ,[9] हैं। इन अनुच्छेदों के अनुसार राज्यों के दर्जे का आकलन करना चाहिये । परंतु एक ऐसे संघवाद ने जहॉ राज्यों को बुनियाद परस्पर अविश्वास पर रखी गई है वहॉ पर राज्यों की स्थानीय स्थिति राजनैतिक लाभार्जन का पर्याय बन चुकी है इसी कारण भारतीय संघ में उसके जीवन के नवें वर्ष में ही दरारें पड़नी शुरू हुई। जब आंध्र प्रदेश महाराष्ट्र, उड़ीसा, और पंजाब के लिये लोगों ने आंदोलन शुरू किया।[10] भाषायी आधार पर राज्यों का यह गठन भारतीय राज नेताओं की भयंकर भूल थी। जिसका परिणाम देश भुगत रहा है और आगे भी भुगतता रहेगा।[11] इसका कारण यह है कि भाषा मूलतः एक संस्कृति का वहन करती है और जब तक संस्कृति को संस्कृति के साथ संयोजन के विशिष्ट प्रयास न किये जायें तब तक राजनैतिक हितों की एकता भले ही बनी रहे, वास्तविक अर्थो मे जनता की एकता कदापि संभव नही है। यही कारण है, कि भारतीय संघ निरंतर तनाव ग्रस्त रहा है, और इस तनाव ग्रस्तता की स्थिति मे विकास कदापि संभव नही हैं। अतः यह आवश्यक है कि केन्द्र राज्य संबंधो पर नऐ सिरे से सोच विचार किया जाऐं। जस्टिस सरकारिया की अध्यक्षता में केन्द्र राज्य संबंधो का पुनर्मूल्यांकन करने हेतु एक आयोग गठित किया गया , परंतु उसका अधिकार क्षेत्र सीमित था।

1. भारतीय संविधान में संघीय तत्व

भारतीय संविधान स्वयं अपने आपको संघीय नही मानता परंतु उसमें अनेको ऐसे तत्व है, जो भारतीय शासन एवं राजनैतिक व्यवस्था को संघीय बनाते हैं। ये तत्व निम्नलिखित हैं।:–[12]

---

1. **अनु0 370** के अनुसार कश्मीर को विशेष दर्जा प्राप्त है।
2. **अनु0 371** (क) के अनुसार नागालैण्ड को विशेष दर्जा, प्राप्त है, (नागालैण्ड राज्य अधिनियम 1962 के अनुसार संशोधित)
3. **अनु0 370** (ख) के अनुसार आसाम को विशेष दर्जा प्राप्त है
4. **अनु0 370** (ग) के अनुसार मणिपुर को विशेष दर्जा प्राप्त है
5. **वही**
6. **वही**
7. **अनु0 370** (घ) के अनुसार आंध्रप्रदेश को विशेष दर्जा प्राप्त है
8. **अनु0 370** (च) के अनुसार सिक्किम के विशेष दर्जा प्राप्त है
9. **अनु0 370** (छ) के अनुसार मिजोरम को विशेष दर्जा प्राप्त है,
10. **आं0 प्र0, महाराष्ट्र में पृथक राज्य** के लिये चलाया गया आंदोलन, 1954, 1955
11. **राज्य पुनर्गठन अधिनियम** 1956, विभिन्न धाराऐं
12. **भारत सरकार गृहमंत्रालय** ने सरकारिया आयोग का 9 जून, 1983 की अधिसूचना संख्या 4/11017/1/83 **सी0 एस0 आर0 के अनुसार,** केन्द्र राज्य संबंधो के पुनर्मूल्यांकन हेतु गठन किया।

(1) भारतीय राज्य में प्रांतरूपी घटकों का अस्तित्व

संविधान के अनुसार भारत 25 राज्यों का एवं 7 केन्द्र शासित प्रदेशों का एक सम्मिलित संघ हैं । ये 25 राज्य एवं केन्द्रशासित प्रदेश संविधान की अनुसूची एक के द्वारा सीमांकित किये गऐ हैं । ये 25 राज्य एवं 7 संघ शासित प्रदेश मिलकर भारतीय संघ राज्य की भौगोलिक सीमा बनाते हैं।[1] इन 25 राज्य एवं संघ शासित प्रदेशों की मौजूदगी यह आभास कराती है कि भारतीय शासन एवं राजनीति व्यवस्था एक संघीय व्यवस्था है । क्योंकि इन 25 राज्यों के प्रशासन विधान मण्डल एवं आवश्यक राजनैतिक संस्थायी संबंधी प्रावधान संविधान में पृथक रूप से समाविष्ट किऐ गये हैं ।

(2). भारतीय संविधान में ही केन्द्र एवं राज्य के पृथक-पृथक संविधान

भारतीय संविधान में ही केन्द्र एवं राज्य के पृथक–पृथक संविधान समाविष्ट किऐ गऐ हैं । इन प्रावधानों के अनुसार राज्यों की स्वतंत्र विधान पालिकाऐं स्वतंत्र कार्यपालिका एवं स्वतंत्र न्याय पालिका निर्मित की गई हैं।[2]

(3). केन्द्र की पर्यवेक्षक भूमिका

यदि 7 केन्द्र शासित प्रदेशों को स्वतंत्र राज्य मान लिया जाऐ तो संघ या केन्द्रीय प्रशासन केवल पर्यवेक्षकीय मुद्रा का संधारण करता है । व्यंजना के तौर पर इस पर्यवेक्षण में उच्च स्तरीय नीति निर्माण की भूमिका भी शामिल हैं । जैसा कि आम तौर पर विभिन्न संघो में होता हैं । कतिपय महत्वपूर्ण मामले जिसमें सुरक्षा, आंतरिक व्यवस्था, समान मुद्रा, राष्ट्रीय नीति निर्माण, वैदेशिक संबंध आदि केन्द्र को सौंपे गऐ है।[3] ये प्रमुख विषय मूलतः यह इंगित करते हैं कि वास्तविक सत्ता केन्द्र कहॉ घनीभूत हैं । राज्यों के रूप में पृथक सत्ता केन्द्र भारतीय संविधान द्वारा निर्मित किऐ गऐ हैं । ये सत्ता केन्द्र भले ही क्षीण शक्ति रखते हों, परंतु इनका पृथक अस्तित्व भारतीय संघीय संरचना को सूचित करता है ।

(4) राज्य और संघ के बीच कार्यो का बंटवारा [4]

संविधान की 7 वीं अनुसूची में उल्लेखित तीन अनुसूचियों में से प्रथम अनुसूची केन्द्र के अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों को दर्शाती हैं । द्वितीय सूची में वे विषय शामिल हैं जो पूर्णतः राज्य सरकारों की परिधि में केन्द्र व राज्य दोनों की परिधि में आते हैं । परंतु ऐसी स्थिति में जब राज्य विधान सभा और संसद दोनों ही तीसरी सूची में उल्लेखित किसी विषय पर यदि कानून निर्माण कर रहे हों तब संसद के निर्मित कानून को वरीयता प्रदान की जाती है ।

---

1. **भारतीय संविधान** का अनु0 1,2 और 4 और प्रथम अनुसूची,
2. **भारतीय संविधान** का भाग 5 अनु0 52 से लेकर 167 और 168 से लेकर 237
3. **संविधान की अनुसूची** 7 की प्रथम सूची
4. **भारतीय संविधान** का अनुसूची 7

इन तीनों सूचियों के अलावा अन्यकोई भी विषय पूर्णतः केन्द्र की परिधि में रखा गया है, यद्यपि कार्यो का यह विभाजन अनेकों विपरीत प्रभावों को जन्म देता है, फिर भी कार्य विभाजन स्वयं भारत के संघीय स्वरुप को सूवित करता है ।

(5)- पृथक् न्यायपालिका-

संविधान के अनुच्छेद 132, 240 एवं 241 के द्वारा राज्य एवं केन्द्र, के लिऐ पृथक न्यायपालिका की व्यवस्था की गई है । संघशासी क्षेत्रों के लिऐ भी समीपवर्ती राज्य का उच्च न्यायालय, उच्चन्यायालय के रूप में कार्य करता है । संविधान में वर्णित नागरिकों के मूल अधिकार जो संविधान के अनुच्छेद 12 से लेकर अनुच्छेद 34 तक उल्लेखित हैं, कि क्रियान्वयन हेतु सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयोंको क्रमशः संविधान के अनु. 32, 226 एवं 227 के द्वारा समान अधिकार दिऐ है । संविधान द्वारा नागरिकों के अधिकार की रक्षा हेतु प्रदत्त पाँच रिट याचिकाओं के अधिकार भी दोनों न्यायपालिकाओं के समान हैं । यह तथ्य सूचित करते हैं कि संविधान निर्माताओं ने भारत के संघीय ढाँचे की कल्पना को ठोस एवं वास्तविक स्वरूप दिया था ।

(6)- पृथक् राज्य स्तरीय सेवाऐं-

संविधान निर्माताओं ने केन्द्र और राज्यों हेतु अलग–अलग नौकर शाही की परिकल्पना की थी। ये सेवाऐं अपने–अपने क्षेत्रों में पृथक् अस्तित्व एवं मौलिकता लिऐ हुऐ हैं । परंतु राज्य अपनी आवश्यकता अनुसार राज्य सेवाओं का गठन कर सकते है ।

2. केन्द्र राज्य संबंध का सैद्धांतिक पक्ष

भारतीय संविधान, केन्द्र राज्य संबंधों को चार दृष्टियों से देखता है – विधायी संबंध, प्रशासकीय संबंध, आर्थिक संबंध एवं आपात संबंध ।

विधायी संबंधों में संसद और विधान सभा के पृथक–पृथक विषय क्षेत्र बाँटे गऐ हैं । संविधान की सांतवी अनुसूची में तीन उल्लेखित तीन विषय सूचियों केन्द्र सूची पर केन्द्र का एकाधिकार है, सूची पर केन्द्र संसद के कानून को वरीयता प्राप्त है राज्य सूची के विषयों में यदि संसद चाहे तो सामान्य सर्वमान्य अधिनियम बना सकती है। जिसे मानना राज्य सरकारों के लिये आवश्यक हो गया है।

प्रशासकीय संबंधो में केन्द्र सरकार को कानून व्यवस्था सामान्य प्रशासन योजना, क्रियान्वयन विधि एक साधारण प्रशासकीय उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने हेतु राज्यों को समय–समय पर निर्देश् प्रसारित करने का एकाधिकार ।

वित्तीय संबंधो में वित्त आयोग एवं राजस्व अंतरण को व्यवस्था हेतु केन्द्र को वरीयता प्राप्त है, केन्द्र आतंरिक एवं बाह्य सुरक्षा केन्द्र की जिम्मेदारी है। अनुच्छेद 352 और अनुच्छेद 365 यह स्पष्ट करते हैं कि किन–किन दशाओं मे आपात व्यवस्थाओं के अंतर्गत केन्द्र राज्यों को

विशिष्ट परिस्थितियों में निर्णय के पालन हेतु बाध्य कर सकता है।

उपरोक्त चार विशिष्ठ संबंधोके अलावा भारतीय संबंध में ऐसे प्रावधान किये गये है, जो न केन्द्र राज्य की शक्ति को घटाते है, बल्कि उसके विपरीत केन्द्र की शक्ति को बढ़ाते हैं। इन प्रावधानों में प्रमुख है, भारत के महा–लेखा नियंत्रक एवं परीक्षक संबंध प्रावधान। नदी जल विवाद निपटाने हेतु केन्द्रीय बोर्ड के गठन संबंधी प्रावधान।[1] संघात्मक व्यवस्थाओं के संदर्भ में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाग संवैधानिक व्यवस्था की एक केन्द्रीय व्यवस्था मानी जाती है। राज्यों के क्षेत्र में जबकि अन्य संघो में शक्ति और स्वायत्तता का विचार पर्याप्त स्पष्ट नही है यह मानना होगा कि भारतीय संघ निश्चित रूप से केन्द्र प्रधान है और संघ शासन को एक विशिष्ट भूमिका प्रदान करता हैं। केन्द्र और राज्यों के बीच प्रशासकीय संबंधो के प्रावधान अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

धारा 256 में यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यवाही शक्ति इस प्रकार से प्रयोग में लाई जावेगी कि वह केन्द्रीय संसद द्वारा निर्मित कानूनो तथा राज्यों के वित्त संबंधी कानूनों की व्यवस्था में बाधक सिद्ध न हों। इस दृष्टि से केन्द्र को राजकीय कानूनो की व्याख्या कर ऐसे कदम उठाने का अधिकार भी होगा, जिससे वह राज्यों द्वारा किये जाने वाले आवश्यक किन्तु अनुचित कार्यो को भी रोक सके। इसके अतिरिक्त धारा 250 में यह भी व्यवस्था है कि प्रत्येक राज्य की कार्यकारी शक्ति इस प्रकार प्रयोग में लाई जावेगी कि वह केन्द्र की कार्यकारी शक्ति के मार्ग में वाधक न हो, और इस दृष्टि से केन्द्र का अधिकार क्षेत्र है कि वह राज्यों के निर्णयों पर आवश्यक एवं समुचित निर्देश भेजें। यदि राज्य सरकारें केन्द्र की इस कार्यकारी सत्ता के प्रयोग के लिये दिये जाने वाले निर्देशों की अवहेलना करती है तो धारा 365 भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार देती है कि वह ऐसी स्थिति में राज्यों की संपूर्ण शासन व्यवस्था स्वयं अपने हाथो में ले लें।[2] हमारे संविधान मे केन्द्र एवं राज्यों के कार्यकारी क्षेत्रों मे विषयों का आंवटन इस प्रकार किया गया है कि केन्द्र स्वयंमेव शक्तिशाली बन गया।

भारत में वित्तीय विभाजन केन्द्र के पक्ष को प्रबल बनाता है। केन्द्र के पास जो साधन हैं वे अत्यंत लचीले हैं और उनकी तुलना में राज्यों के साधन सापेक्ष दृष्टि से अधिक सीमित रखे गये हैं। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना के आंरभिक चरण में हर पांचवे वर्ष एक वित्त का मूल्यांकन करता है, किन्तु योजना की आवश्यकताओं का मूल्यांकन करता हैं, इसके मूल्यांकन क्षेत्र मे नही आती । यह कार्य योजना आयोग का है। अभी तक का अनुभव तो यह रहा है कि राज्यों की गैर योजना आवश्यकताओं के अनुसार (जो कि विभिन्न वित्त आयेगों द्वारा लगायें गये हैं) गैर योजना व्यय की तुलना में कम प्रमाणित हुयें है। गैर योजना व्यय गत वर्षो में बडी तेजी से और नियमित ढंग से आगे बढ़े हैं। इसका एक परिणाम यह निकला कि सभी राज्य योजना आयोग के साथ निर्धारित किये गये अपने साधनों को विकसित करने में सर्वथा असफल रहे हैं इस तरह पंचवर्षीय योजना के आंरभ में भी जो व्यय निर्धारित किये जाते है वे निर्धारित व्यवस्था के अनुरूप

1. **भारतीय संविधान** का अनुच्छेद 148 एवं 149
2. **इंडियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन** (आई0आई0पी0ए0 नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित) वॉल्यूम 16 नं0 3 जुलाई–सितं0 1970 में प्रकाशित पी0के0 दवे का लेख केन्द्र राज्य स्तरों पर नीति निर्माण के कतिपय पक्ष।

नहीं रह पाते इस स्थिति के फलस्वरूप विभिन्न विकास योजनाओं के प्रशासन मे केवल गडबड़ी ही नही फैलती बल्कि राज्यों की गैर योजनाओं संबंधी आवश्यकताओं के लिये भी समुचित धन राशि उपलब्ध नही हो पाती । दूसरी ओर वित्त आयोग केन्द्रीय सरकार की बजट आवश्यकताओं का कोई व्यापक अध्ययन नही करते और न ही राज्यों के साधन आवंटन संबंधित ये तत्व वित्त आयोग के अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। केन्द्र सरकार की राज्य सरकारों की भांति प्रशासनिक और गैर योजना व्यय में उत्तरोत्तर वृद्धि के प्रश्नों का सामना करती है। किन्तु इसके पास साधन स्त्रोत अधिक लचीले हैं, अतः वह अपने बजट में आवश्यक परिवर्तन करती रहती है।[1]

कर आरोपण क्षेत्र मे भी ऐसे अनेक क्षेत्र देखे जा सकते है, जहाँ पर संयुक्त नीति निर्माण वांछनीय लगता हैं। किन्तु वर्तमान में जैसी भी स्थिति है, उससे इतना स्पष्ट अवश्य है कि राज्यों के साथ वार्तालाप करने का केन्द्र के पास आज कोई अपेक्षित यंत्र नही है। इसी प्रकार केन्द्र सरकार (जो कि योजना निर्माण की अधिष्ठात्री है) इस बात में अधिक रूचि लेती है कि राज्यों के स्तर पर साधन स्त्रोत किस प्रकार जुटायें जायें और यह महत्त्वपूर्ण कार्य उन्हे पूरी तरह राज्यों सरकारों को सौंप रखा हैं। धारा 269 के अंतर्गत जिन करों का उल्लेख किया गया है।[2] उन्हें पूरी तरह से वसूल करने के लिये भी किसी प्रकार की प्रशासी व्यवस्था नहीं है ये कर ऐसे है जो केन्द्र द्वारा लगायें तथा वसूल किये जाते हैं किन्तु पूरी तरह से राज्य सरकारों को सौंप दिये जाते है।

भारतीय संविधान में आर्थिक और सामाजिक योजना आदि विषय समवर्ती सूची में सम्मिलित किये गये हैं। अतः केन्द्र सरकार सूची कें सम्मिलित किये गये हैं। अतः केन्द्र सरकार इस संदर्भ में एक निश्चित भूमिका निभाती है। फिर भी राज्यों के विषय क्षेत्र जैसे शिक्षा स्वास्थ्य, यातायात, सिंचाई, शक्ति आदि के प्रशासन के लिये केन्द्रीय मंत्रालयों का अपना औचित्य है। ये केन्द्रीय मंत्रालय योजना आयोग के साथ मिलकर क्षेत्रीय लक्ष्य निर्धारित करते हैं, और अन्तर क्षेत्रीयं लक्ष्य निर्धारित करते है, और अन्तर क्षेत्रीय प्राथमिकताओं के विषय में निर्णय लेते हैं। ये मंत्रालय केन्द्रीय योजनाओं अथवा केन्द्र द्वारा प्रस्तावित योजनाओं का निर्माण कार्य करते हैं। ये ही मंत्रालय राज्यों की योजनाओं का निर्माण कार्य करते हैं। ये ही मंत्रालय राज्यों की योजनाओं की भी देखभाल करते हैं और उनका अनुमोदन भेजते हैं तथा इन सभी राजकीय योजनाओं को जो कि तकनीकी दृष्टि से बड़ी जटिल है, आरंभ करने की अनुमति भी देते रहते हैं।

केन्द्रीय मंत्रालयों को अपनी यह भूमिका अलग–अलग क्षेत्रों मे अलग–अलग ढंग से निभानी पड़ती है और ऐसा करते समय वे राज्य संगठनो को नीति निर्माण और नीति क्रियान्वित की दृष्टि से उच्च्य स्तरीय क्षमता बढ़ाने में सहायता प्रदान करते हैं।

केन्द्र की उक्त भूमिका के संबंध में दो महत्वपूर्ण बाधाऐं प्रस्तुत होती है। प्रथम तो यह कि पंचवर्षीय योजना के बनाने से पहले केन्द्रीय मंत्रालय राज्यों के अभिकरणों से प्रर्याप्त समय से पहले किसी प्रकार के संपर्क स्थापित नहीं करते। परिणाम स्वरूप राज्यों से जो योजनाओं

---

1. **वही**
2. **भारतीय संविधान** अनु0 269 (1)

के प्रारूप प्राप्त होते हैं वे कुल मिलाकर सूची पत्र बनकर रह पाते हैं और उनका व्यय भी निर्धारित व्यय से कहीं अधिक हो जाता है। इसी प्रकार लक्ष्य और प्राथमिकताओं को भी पर्याप्त महत्व नही मिल पाता । राज्य स्तरपर विभिन्न क्षेत्रों मे उपलब्ध स्रोतों के विषय में जानकारी उन्हें बडे विलंब से मिलती है और इस कारण वे राज्यों की योजनाओं के निर्माण को प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि पंचवर्षीय योजना के लिये तथा विभिन्न क्षेत्रों के वितरण के लिये जो साधन उपलब्ध है, उनके निर्धारण का निश्चित समय बहुत पहले तय कर लिया जाये। ऐसा करने पर ही केन्द्रीय मंत्रालय राज्य योजनाओं के निर्माण में अपनी सम–वयात्मक भूमिका निभा सकेंगे।[1]

दूसरी बाधा केन्द्रीय योजना तथा केन्द्र द्वारा प्रस्तावित योजनाओं में सुधार से संबंधित है। यह प्रश्न निर्विवाद है कि कुछ योजनाऐं केन्द्र द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चलाई जानी चाहिये और कुछ का संचालन केन्द्र को राज्य के माध्यम से करना चाहिये। यह उन क्षेत्रों में और भी आवश्यकताऐं है जहॉ योजनाऐं राष्ट्रीय महत्व की है और केन्द्रीय प्रयोग को प्रोत्साहन देने के लिये गति निर्धारक अथवा अविष्कारक के रूप उन्हें प्रस्तुत किया जाता है। ये सभी योजनाऐं केन्द्र द्वारा नियंत्रित की जाती हैं और उनका पूरा धन भी केन्द्र द्वारा ही प्रदान किया जाता है।[2]

केन्द्र राज्य संबंधो के विषय में प्रशासकीय सुधार आयोग के अध्ययन दल ने यह सिफारिश की है कि केन्द्र स्तर पर एक परामर्शदायी समिति गठित की जानी चाहिये। इस समिति में राज्यों के सरकारी सलाहकार केन्द्रीय प्रतिनिधि तथा योजना आयोग के सलाहकार उपस्थित रहें। इस समिति को बाद में उप समितियों में विभक्त किया जा सकता है तथा विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों को इन उप–समितियों के सम्मिलित कर इन्हें और भी अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। इस स्थाई समिति के द्वारा आवश्यक परामर्श कार्य किये जा सकेंगे और यह समिति राष्ट्रीय विकास परिषद की प्रत्येक बैठक से पहले इसके सदस्यों को समुचित दिशा निर्देश दे सकेगी। राज्य स्तर पर भी संस्थात्मक व्यवस्थाऐं आवश्यक होगी। ये संस्थाऐं केवल योजना मण्डल के रूप में भी ही नहीं है बल्कि सरकारी सलाहकार समितियों के रूप में भी इनका कार्य आवश्यक है। इन समितियों के माध्यम से ही राष्ट्रीय विकास परिषद के सम्मुख आने वाले विभिन्न विषयों पर आंरभिक कार्य हाथ में लिये जा सकते है। इस प्रकार की व्यवस्थाऐं ही आयोजना के क्षेत्र में सहकारी संघवाद की प्राप्ति में सहायक हो सकती है।[3]

राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में यह निश्चित है कि बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार का है और यहॉ केन्द्र और राज्यों के हितों मे कोई विरोध नहीं है। कानून एवं व्यवस्था के क्षेत्र राज्यों के विषय हैं। केन्द्र सरकार राज्यों के इस कार्य में तभी सहायता देती है जब कि अंतर्राज्यकीय विद्रोहों के उपयोग की आवश्यकता अनुभव की जाती है। राज्यों की सहायता के लिये केन्द्र द्वारा केन्द्रीय रिजर्व पुलिस और सीमा सुरक्षा दल जैसे संगठन भेजे

1. **संदर्भ संख्या 23** के अनुसार
2. **योजना निर्माण** यद्यपि केन्द्र राज्य संबंधो को अत्याधिक प्रभावित करता है, परंतु केन्द्र राज्य संबंधो से जुडे हुये संविधानिक प्रावधानों में इसका जिक्र भी नही हैं
3. **यह अनावश्यक है परामर्शदायी समिति** मात्र सलाहकारी भूमिका वहन करेगी यह निर्णय प्रक्रिया मे विलंब तो करते ही है, साथ ही साथ केन्द्रीय आयोजना (Centralised planning) विपरीत खड़ी होती है।.

जाते है।

केन्द्र स्तर पर अंतर्राज्यकीय सुरक्षा स्थिति पर निगरानी रखने के अंतर्गत केन्द्रीय सरकार का एक कार्य यह है कि वह राज्यों की पुलिस का आधुनिकीकरण करें तथा अपराधियों को ढूँढ़ने और शांति और व्यवस्था बनाऐं रखने में तकनीकी सहायता देने के लिये पर्याप्त संस्थाओं की स्थापना करें। उच्च स्तरीय पुलिस अधिकारियों के लिये विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम भी उसे आरंभ करने होते हैं । इन संबद्ध राज्यों के पुलिस संगठनों के अध्यक्षीय सम्मेलन केन्द्र द्वारा समय–समय पर बुलाऐ जाते हैं और उनके निर्णयों को पर्याप्त महत्त्व भी दिया जाता है।[1]

आयोजना संबंधी

एक संघात्मक संविधान का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय सार्वभौमिकता और उसकी विभिन्न इकाइयों के बीच सत्ता के समीकरण को संतुलित करना है। भारतीय संविधान में ऐसा करने का प्रयास शक्ति विभाजन और कार्य विभाजन की व्यवस्था के प्रयत्नों में देखा जा सकता हैं। सामाजिक और आर्थिक आयोजनों को भारतीय संविधान की समवर्ती सूची में सम्मिलित किया गया है। किन्तु योजना से संबंधित सभी महत्त्वपूर्ण विषय कुल मिलाकर केन्द्र व राज्यकीय दोनो सूचियों में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये केन्द्र सूची के महत्वपूर्ण विषय है :– विशाल उद्योग, रेले, राष्ट्रीय राजमार्ग, उड्डयन, बंदरगाह, जहाजरानी, संचार, बैंकिग, बीमा, मुद्रा नीति विदेशी कृपा तथा अंतर्राज्कीय एंव विदेशी व्यापार[2] राजस्व के प्रमुख कर स्रोतो में जो केन्द्र को आंवटित किये गये हैं, कृषि आमदनी पर अतिरिक्त आय कर, निगम (कारपोरेशन) कर, और कस्टमस आदि आते है। राज्य सूची में सम्मिलित किये गये विषयों में प्रमुख है – कृषि, वन मत्स्य पालन, सिंचाई, सड़के, सड़क, यातायात, छोटे बंदरगाह, लघु और मंझले उद्योग तथा सामाजिक सेवाऐं जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य आदि [3] इसी प्रकार राज्यों की उनकी अपनी आमदनी के लिये जो स्रोत दिये गये हैं उनमें से प्रमुख हैं– भू–राजस्व, कृषि आयकर, स्टाम्प पंजीयन डयूटी, व्यवस्था पर कर और विशेषतः बिक्री कर [31(अ)]

विद्युत शक्ति समवर्ती सूची का विषय है : इसी प्रकार मूल्य नियंत्रण व्यापार तथा उत्पादन वाणिज्य, रसद खाद्य पदार्थो का वितरण तिल, रूई, और पटसन आदि विषय भी समवर्ती सूची के अंतर्गत आते है।[4]

भारतीय संविधान में केन्द्र सरकार को राज्य सूची के विषयों को संचालित कर नियंत्रित करने का एक विशेष अधिकार दिया गया है। इस श्रेणी में जो प्रमुख विषय आते हैं वे हैं– सड़के, राष्ट्रीय, जल मार्ग और खाने किन्तु ऐसा तभी किया जा सकता है जब कि वह सार्वजानिक हित में आवश्यक समझा जाये। केन्द्र सरकार को यह विशेष अधिकार है कि वह विशिष्ठ क्षेत्रों में जैसे उच्च स्तरीय अनुसंधान आदि के लिये मापदण्ड निर्धारित करे और राष्ट्रीय

---

1. **संदर्भ संख्या** 23 के अनुसार
2. **भारतीय संविधान की अनुसूची** 6 की सूची प्रविष्टियाँ क्रमांक 52 52, 53, 54, 22, 23, 29, 25, 30, 31, 45, 47, 36, 37, 41,
3. **भारतीय संविधान की अनुसूची** 7 की सूची 2 की प्रविष्टि क्रमांक 45, 46, 63, 58, 61, 18
4. **भारतीय संविधान की अनुसूची** 7 की सूची 3 की प्रविष्टि क्रमांक 38, 34, 11, 17, 22, 3, 33 (ख)

प्रयासों को समुचित दिशा निर्देश दे सकें।[1]

सभी प्रावधान (जिनके अंतर्गत केन्द्र राज्यों पर प्रभावशाली स्थिति रखता है)महत्वपूर्ण है धारा 249 भारत की संसद को उन विषयों पर कानून बनाने की अनुमति देती है जो राज्य सूची में सम्मिलित किये गये है, किन्तु उक्त कानून का राज्य सभी के दो तिहाई बहुमत से पारित किया जाना आवश्यक है धारा 200 तथा 201 के अंतर्गत भारतीय राज्यों के राज्यपाल (जो भारत के राष्ट्रपति के मनोनीत प्रतिनिधि हैं) धन विधेयक के अतिरिक्त किसी भी विल को राज्य विधान सभा द्वारा पारित किये जाने के उपरांत भी राष्ट्रपति बिना कारण बतलासे अपनी स्वीकृति देने से इंकार कर सकता है। इसी प्रकार धारा 262 के अंतर्गत भारतीय संसद उन सभी विषयों और शिकायतों पर मध्यस्थता करने का अधिकार रखती हैं जो अंतर्राज्यकीय नदियों के पानी के उपयोग वितरण और नियंत्रण के प्रश्नो से जुड़े हुये है।[2]

भारतीय संविधान में एक पंचवर्षीय वित्त आयोग की स्थापना का प्रावधान है। यह आयोग केन्द्र और राज्यों के बीच कृषि की उस आमदनी का वितरण करता है जो संविधान में अविभाज्य मानी गई है। इस आयोग द्वारा उन सिंद्धातो का भी निर्धारण किया जाता है जो कि राज्यों को संचित निधि में से अनुदान के रूप में प्रदान किये जाते हैं। यह वित्त आयोग राष्ट्रपति को सुदृढ़ वित्त व्यवस्था के हित में किसी भी महत्वपूर्ण वित्तीय प्रश्न पर सलाह दे सकता है। धारा 270, 272, 273, और 280 के अंतर्गत इन वित्त आयोग को राज्यों की आमदनी अथवा राजस्व के घाटों को पहचानने और पूरा करने का कार्य सौंपा गया है। योजना सहायता राज्यों को संविधान की धारा 202 के अंतर्गत दी जाती है जो वित्तीय दृष्टि से एक फुटकर प्रावधान है। इसके अंतर्गत सार्वजानिक कार्यो के लिये केन्द्र राज्यों को अंतर्राज्यीय ऋण जारी करने का अधिकार दिया गया है। किन्तु यदि किसी राज्य पर पहले से ही केन्द्र का कोई ऋण भार है तो नया ऋण चालू करने से पहले उसे केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति लेनी पड़ती है। (धारा 293)। भारत में उपलब्ध वित्तीय परिस्थितियों को देखते हुये व्यवहार में इस धारा का केवल यह अर्थ है कि राज्यों के सभी ऋण कार्यक्रम केन्द्र द्वारा अनुमोदित किये जाने चाहिये।

भारतीय संविधान की धारा 263 अर्न्तराज्यकीय कौन्सिलों की स्थापना की भी व्यवस्था करती हैं। ये कौन्सिले राज्यों के मध्य समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से स्थापित की गई हैं। धारा 360 भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार देती है कि वह इस प्रकार की विषम स्थिति में जब कि भारत की वित्तीय स्थिति डांवाडोल हो रही हैं उसे संभालने के लिये कोई भी विशिष्ट कदम उठा सकता है।

उपरोक्त संवैधानिक प्रावधानों के अंतर्गत केन्द्र को एक शक्तिशाली साझेदार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गत सौ वर्षो के ब्रिटिश शासन की अनेक सरकारी परंपराऐ ऐसी रही है। जिन्होने केन्द्रीयकरण क़ी इस प्रवृत्ति को और भी अधिक सुदृढ़ बनाया है, अभी अधिक समय नही बीता, है जब कि प्रांतीय सरकारें केन्द्र की केवल एक अधीनस्थ संस्थाऐं मात्र थीं । इस प्रकार

1. **भारतीय संविधान** का अनुच्छेद 248 (2), 249 (2), 252,
2. **आई० जे० पी० ए०** (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित) खंड 11, जनवरी – मई 1970 में प्रकाशित एच0 के0 परांजपे का लेख केन्द्र राज्य संबंध प्रशासन के परिप्रेक्ष्य में

का प्रमाण न्यूनाधिक मात्रा में अभी भी जीवित हैं यद्यपि यह धीरे–धीरे क्षीण भी होता जा रहा है । अखिल भारतीय सेवाओं की विद्यमानता, केन्द्रीय प्रशासकीय इकाईयों का वर्चस्व तथा लोक सेवाओं के वरिष्ठ अधिकारियों की उपस्थिति भारतीय व्यवस्था में केन्द्र सरकार की शक्तिशाली स्थिति की स्वीकृति एवं समर्थन हैं।[1] सन् 1947 से लेकर सन् 1987 की अवधि में जब कि सारे देश में कांग्रेस दल का लगभग एकछत्र राज्य था, केन्द्रीकरण की इन प्रवृत्तियों को बहुत अधिक बल मिला हैं ।[2]

वैसे तो सामाजिक और आर्थिक नियोजन समवर्ती सूची का विषय हैं किन्तु सन् 1950 में एक कार्यकारी आदेश द्वारा भारत सरकार ने यह निर्णय लिया था कि वह एक योजना आयोग स्थापित करेगी । इस दृष्टि से योजना आयोग नामक यह संस्था केन्द्र सरकार की एक अधीनस्थ संस्था कही जा सकती है । शक्ति कार्यो एवं प्रणालियों की दृष्टि से सन् 1950 से लेकर आज तक योजना आयोग ने सभी क्षेत्रों में और विशेषतः राज्यों के साथ संबंध स्थापित करने में विभिन्न परंपरओं के माध्यम से अपने आप को विकसित किया है । इससे यह सिद्व होता है कि वह आयोग राज्य सरकारों पर कोई वैधानिक सत्ता नहीं रखता ।

इस आयोग की नियुक्ति संबंधी प्रस्ताव में यह सिफारिशकी गई थी "यह आयोग केन्द्र सरकार के साथ निकटतम सहयोग और सद्भाव के साथ कार्य करेगा । इस आयोग द्वारा निर्णय लेने और उन्हें क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों पर होगा।[3] इस प्रस्ताव में यह आशा व्यक्त की गई थी कि राज्य सरकारें आयोग को इस प्रकार का सहयोग प्रदान करेंगी, जिससे कि प्रयासों की एकता और नीति का समन्वय अधिकतम सीमा तक उपलब्ध हो सके । योजना आयोग की यह गैर संवैधानिक स्थिति जो केन्द्र सरकार के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति के अंतर्गत जनमी है, आज भी बनी हुई है । साथ ही यह भी निःसंदेह स्वीकार किया जाने लगा है कि इस आयोग ने एक ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, जिसके कारण इसका अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व बन चुका है ।[4] योजना आयोग की इस राष्ट्रीय भूमिका को राज्य भी आज स्वीकार करने लगे है ।

अगस्त सन् 1952 में स्वयं योजना आयोग के सुझाव पर राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन इस उद्देश्य से किया गया था, कि यह संस्था एक सर्वोच्च सलाहकार तथा पर्यवेक्षण संस्थान के रूप में कार्य कर सके । राष्ट्रीय विकास परिषद से केवल यही अपेक्षित नहीं था कि वह समान आर्थिक नीतियों को विकसित करे, बल्कि उससे यह भी अपेक्षा की गई थी कि वह समय पर राष्ट्रीय योजनाओं की क्रियान्विति का मूल्यांकन करे और उनके द्वारा निर्धारित लक्ष्यों और

---

1. **भारत शासन अधिनियम** 1935, प्रविशिष्ट 6 सूची 3, पैराग्राफ 111, 112
2. **भारतीय संविधान में 24 वां संशोधन अधिनियम,** 5 अक्टूबर 1971 के अनुसार संसद विधि निर्माण की सर्वोच्च शक्ति घोषित की गई। संविधान के 42 वे संशोधन अधिनियम (1976 का नं0 104) के अनुसार संसद की संविधान संशोधन शक्ति पर किसी भी न्यायालय में किसी भी प्रकार का प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता
3. **15 मार्च, 1950, की केन्द्रीय अधिसूचना** द्वारा योजना आयोग के संदर्भ शर्त संख्या 4 और 7,
4. **वर्तमान में केन्द्रीय योजना महज सलाहकारी भूमिका** अदा नहीं करता यह न केवल नीति निर्माण प्रक्रिया की भी सर्वोच्च संस्था बन चुकी है।

उद्देश्यों की प्राप्ति में भी अपना सहयोग दे। संपूर्ण राष्ट्र के विभिन्न भागों में विकास की संतुलित और तीव्र गति बनाऐ रखने के लिऐ यह आवश्यक था । इस परिषद में प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री योजना आयोग के सदस्य तथा केन्द्र के अन्य महत्वपूर्ण वरिष्ठ मंत्रियों को सम्मिलित कराना उपयुक्त और आवश्यक समझा गया । कालान्तर में यह परंपरा भी विकसित हुई कि केन्द्रो के केबिनेट स्तर के मंत्री तथा अन्य राज्यों के मंत्री, विशेषतः क्ति मंत्रियों को भी इसकी बैठक में बुलाया जाऐ । इस परिषद ने समय समय पर विशिष्ठ समस्याओं के समाधान के लिऐ उप समितियों का भी गठन किया है ।

इस प्रकार राष्ट्रीय विकास परिषद को एक गैर संवैधानिक संघीय संस्था के रूप में परिकल्पित किया गया है । राष्ट्रीय योजनाओं के निर्माण, आयोजना संबंधी नीतियों में राज्यों की अधिक से अधिक साझेदारी तथा राष्ट्रीय आम राय विकसित करने में इस परिषद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । यह परिषद पंचवर्षीय योजना के निर्माण वर्ष में तो पर्याप्त रूप से सक्रिय दिखाई देती है किन्तु शेष वर्षो में विकास कायों के प्रति इसमें उतना उत्साह दिखाई नहीं देता । सन् 1967 में प्रशासकीय सुधार आयोग की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने राष्ट्रीय विकास परिषद का पुनर्गठन किया, और इस केबिनेट मंत्री, राज्यों के मुख्यमंत्री तथा योजना आयोग के सभी सदस्य सम्मिलित किऐ गऐ ' आयोग ने इसके कार्यो को भी पुनः परिभाषित किया । इन परिवर्तनों के अतिरिक्त एक और संवैधानिक परिवर्तन भी हुआ । वह विकास परिषद अब योजना आयोग द्वारा विचारार्थ लिऐ जाने वाले प्रस्तावों को प्रस्तुत करने के लिऐ उत्तरदायी बना दी गई है।[1]

राज्यों के साथ घनिष्ठ संबंध बनाऐ रखने के लिऐ योजना आयोग ने एक अन्य संस्था को जन्म दिया है, जिसे आयोजना सलाहकार कहा जाता है । इन सलाहकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे राज्यों के अधिकार क्षेत्रों में आने वाले प्रश्नों पर योजना आयोग की ओर से समाधान हेतु किऐ जाने वाले प्रयासों के बोझ को हल्का करे । सन् 1952 में तीन वरिष्ठ अधिकारियों की नियुक्ति इन पदों पर की गई । इन नियुक्ति के पीछे यह उद्देश्य था कि ये अधिकारी राज्यों की विकास समस्याओं और संभावनाओं आदि के प्रश्नों पर राज्य सरकारों के प्रस्तावों के आधार पर योजना आयोग को समुचित सलाह देंगे । साथ ही साथ राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिया गया था कि वे योजनाबद्ध विकास के प्रयास में अपनी ओर से समुचित सहायता दें । यद्यपि ये सभी अधिकारी काफी वरिष्ठ एवं आई.ए.एस. के सदस्य थे, किन्तु इनमें से कुछ की नियुक्ति एक ही स्थान पर पर्याप्त लंबे समय तक चलते रहने के कारण इन उद्देश्यों की पूर्ति में व्यवधान उपस्थित हुऐ ।

सन् 1950 से ही भारत में योजना निर्माण के प्रयास और उसके माध्यम से केन्द्र राज्य संबंधों के ढाँचों का विकास दृष्टव्य है । इस अवधि में विकास प्रक्रिया की क्या प्रमुख विशेषताऐ रही है, इन्हें भी सरलता से पहचाना जा सकता है । सर्वप्रथम योजना आयोग ने लघु स्तर की राष्ट्रीय आयोजना का प्रारूप प्रस्तुत किया, जिसमें अनेक परीक्षणात्मक और महत्वपूर्ण नीतियों की ओर संकेत मिलते है । इस योजना के द्वारा राज्यो को यह सुझाव दिया जाता है कि उनकी राज्यकीय योजनाओं का वित्तीय आकार बहुत बड़ा है । और क्षेत्रीय नीति निर्धारण में उन्हें कुछ

1. **गर्वनेमेण्ट ऑफ इण्डिया रिज्सूल्यूशन** (केबिनेट सेक्रेटेरियट), नं0 आई0 पी0 (सी0), 65 / 15 सी0 एफ0 67, अक्टूबर 7, 1967

निश्चित सिद्धान्तों को मानकर चलना चाहिऐ । इन्हीं सिद्धांतों के प्रकाश में राज्य सरकारें अपने योजना प्रस्ताव तैयार करती है उन्हें योजना आयोग को भेजती रहती है ।

किन्तु सामान्यतः देखने में यह आया है कि सभी राज्य अपने–अपने योजना प्रस्तावों में जो वित्तीय विस्तार चाहते है वह योजना आयोग के सुझावों से सदैव अधिक होता है । यही स्थिति राजकीय स्तर के प्रस्तावों में भी देखी जा सकती है, जहाँ विभिन्न विभाग अपने–अपने प्रस्ताव राज्य सरकारों को भेजते है । अधिकतर विभाग और जिलों द्वारा प्रस्तावित कुल राशि से भी कहीं अधिक बड़ी हो जाती है । विकास परिषद को योजना निर्माण के विभिन्न स्तरों पर योजना आयोग द्वारा विश्वास में लिया जाता है । आरंभ में परिषद के समक्ष व्यापक आर्थिक प्रारूप और नीति संबंधी विषय की रखें जाते है । और बहस के बाद उनका अनुमोदन प्राप्त किया जाता है । फिर भी राष्ट्रीय विकास परिषद ने योजना आयोग को अपना स्पष्ट और सुदृढ़ तथा वचनबद्ध सहयोग देने में प्रायः असमर्थता प्रकट की है । परिषद में जब कभी भी बहस होती है तो विषयों को सामान्य रूप से इसलिऐ स्वीकार कर लिया जाता है कि सरकारी नीतियों के लिऐ अतिरिक्त धन संग्रह किया जा सके तथा योजना को अनुशासन में लाया जाना संभव हो सके । परिषद की अपनी स्वीकृति में कही कोई कठोरता नहीं दिखलाई देती बहुधा देखने में यह आया है कि परिषद के राज्य प्रतिनिधियों ने इस परिषद के मंच को अपने राज्यों के सुझावों को योजना आयोग तक पहुँचाने के लिऐ एक माह के रूप में प्रयुक्त किया है ।

यहाँ राज्य सरकारें बार–बार यह कह कर संतुष्ट हो जाती है कि राज्यों को पर्याप्त केन्द्रीय सहायता मिले बिना बड़ी–बड़ी योजनाओं की पूर्ति संभव नही हो सकती सभी राज्य यह चाहते हे कि विकास कार्यों के लिऐ उन्हें विशेष धन राशियाँ उपलब्ध करवाई जाऐ।[1] प्रश्न यह उठता हे कि वित्त संग्रह में उनका अपना भाग कितना हो ? परियोजना के प्रारंभिक निर्माण काल में अपने वित्तीय कार्यक्रमों को निभाने के लिऐ केन्द्र क्या कुछ कार्य करें ? योजना आयोग और वित्त मंत्रालय के बीच सार्वजनिक उद्यमों के आकार के विषय में जो रस्सा कसी पंचवर्षीय योजना के पहले वर्ष से शुरू हो जाती है । वह सार्वजनिक क्षेत्र की धन राशि के आकार को योजना निर्माण के अंतिम स्तरों तक अनिर्णीत एवं अनिश्चित बनाती रहती है ।

योजना निर्माण की इस अव्यवहारिकता के लिऐ और भी अनेक तत्व उत्तरदायी । उदाहरण के लिऐ हमारी अर्थ व्यवस्था में केन्द्रीय सहायता नीति का विकास इस आधार पर हुआ है कि हमारे बजटों में योजना व्यय और गैर योजना व्यय नामक दोमद बने रहें । गैर योजना मद में पूर्व स्वीकृत व्यय की, वह योजना सम्मिलित की जाती है जो कि योजना काल में क्रियान्विति की ओर मुड़ चुकी है । योजना आयोग यह आशा करता है कि केन्द्रीय सहायता द्वारा राज्यों के योजना खर्चों में आने वाले घाटे को पूरा किया जाऐ, किन्तु दूसरी ओर वित्त आयोग राज्यों को इस आधार पर सहायता देता है कि राज्यकीय वित्त व्यवस्थाओं में गैर योजना व्यय से उत्पन्न हुऐ घाटों की जिम्मेदारी को पूरा किया जा सके । वित्त आयोग के निर्णय योजना के अंतिम स्वरूप प्राप्त कर लेने के बाद आते है । वित्त आयोग की सहानुभूति एवं सहायता प्राप्त करने

1. **आश्चर्यजनक तथ्य यह है,** कि संविधान के किसी भी भाग एंव किसी भी अनुच्छेद मे केन्द्र द्वारा राज्यों को योजना हेतु धन देने का प्रावधान नहीं है।

के लिऐ, प्रत्येक राज्य यह उचित समझता है कि वह जितना अधिक घाटा दिखलाऐगा, वित्त आयोग उसे उतनी ही अधिक सहायता दे सकेगा । योजना सहायता के विषय में यह स्थिति बहुत कुछ अस्पष्ट रही है । एक ओर तो यह मान लिया गया है कि योजना की स्वीकृत राशि और राज्यों द्वारा अनुमानित वित्तीय साधनों के बीच जितनी गहरी खाई होगी, उतनी ही योजना सहायता अधिक मिल सकेगी । किन्तु साथ–साथ दूसरी ओर यह भी माना गया है कि राज्यों के अपने साधनों के अपूर्ण एवं सीमित होने की स्थिति में योजना आयोग नाराज होता है और योजना की राशि को घटा देता है । भूतकाल में राज्य सरकारों का यह भी अनुभव रहा है । कि आयोग द्वारा राशि की स्वीकृति प्राप्त कर लेने के उपरांत कुछ कार्यक्रमों को आरंभ कर दिया जाता है और बाद में यह सरल हो जाता है कि विकास योजना प्रस्ताव के रूप में विशेष विकास सहायता मांग ली जाऐ । हर बार परिणाम यह निकलता है कि राज्यों ने अपनी योजना राशियों को अपने वित्तीय साधनों की तुलना में बहुत अधिक बढ़ा चढ़ा कर निश्चित किया और वे यह मान कर चले है कि केन्द्रीय सहायता तो उन्हें अनंत काल तक निर्बाध रूप से मिलती ही रहेगी ।

क्षेत्रीय दवाबों के कारणों ने भी राज्यकीय योजनाओं के आकार को बढ़ा–चढ़ा कर प्रस्तुत किया है । सामुदायिक विकास शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज कल्याण आदि क्षेत्रों में तो केन्द्रीय मंत्रालयों ने राज्यो को ऐसी योजना सूझाई है जिनके कारण राज्यों की योजना राशियाँ बढ़ती ही चली गई हैं ।[1] यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि तीन योजनाऐं आम चुनाव के साथ लागू की गई जिसके फलस्रूप राज्य सरकारों के योजना प्रस्तावों में ऐसी कितनी ही योजनाओं को जोड़ना पड़ा, जो कि पूर्व नियोजित स्थिति में नही थी । इस कारण भी राज्यों के योजना प्रस्ताव वित्तीय दृष्टि से काफी बड़े हो गऐ और योजनाओं में ऐसे कितने ही प्रोजैक्ट एवं अन्य कार्यक्रम जुड़ गऐ जो प्रस्तावना के लिऐ परिपक्व स्थिति में नहीं थे ।

अपनी योजनाओं के प्रस्तावना के लिऐ केन्द्र पर वित्तीय ढंग से निर्भर रहने के कारण राज्य सरकारों के लिऐ यह आवश्यक हो गया है कि वे योजना तथा संबंधित मंत्रालयों के अनुमोदन के बिना हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे । चूंकि इन परियोजनाओं और योजनाओं की प्रगति के विवरण केन्द्र को भेजे जाते है और उन्हीं के आधार पर योजना आयोग तथा केन्द्रीय मंत्रालय आगामी योजना की सहायता आवश्यकताओं को नापते है, अतः यह स्वाभाविक है कि राज्य केन्द्र के अधिकाधिक मुखापेक्षी बने रहे । किन्तु फिर भी कुछ बड़ी योजनाओं को छोड़कर केन्द्र के लिऐ यह संभव नहीं हो सका है कि वह राज्यों की छोटी–छोटी परियोजनाओं की प्रगति को नाप सके । यह कहा जा सकता है राज्यों की भावी आयोजना में सहायता के लिऐ उन राज्यों की वास्ततिक प्रगति को नापने के कार्य में केन्द्र के साधन काफी कुछ अपर्याप्त रहे हैं । राज्यों के स्तर पर मूल्यांकन संगठनों के योजनाओं की क्रियान्विति और प्रगति के मूल्यांकन में कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं है दिया है । वैसे योजना आयोग का पी.इ.ओ. (योजना मूल्यांकन संगठन) काफी प्रभावशाली है । किन्तु इसका मुख्य कार्य सामुदायिक विकास योजना और ग्रामीण विकास व योजनाओं के मूल्यांकन तक सीमित रहा है । पी.इ.ओ. के प्रतिवेदनों से इन क्षेत्रों में काफी लाभदायक निर्देश मिल सके हैं और योजना निर्माण तथा क्रियान्विति के क्षेत्रों में साधारण उन्नति भी देखी जा सकती है । प्लान प्रोजेक्ट पर गठित समिति ने इस संदर्भ में अध्ययन किऐ है, जो

1. **गाडगिल, डी० आर० फारमुलेटिंग दि फोर्श प्लान,** योजना, न्यू देहली, फरवरी 23, 1961

काफी उपयोगी भी सिद्ध हुऐ है । परंतु ये सारे अध्ययन एक सीमित क्षेत्र तक ही पहुँचे सके । और इनके आधार भी "तदर्थता (एडहाक)" से आगे नहीं बढ़ सके ।

योजनाओं के पुनरावलोकन एवं मूल्यांकन में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह रही है कि इसके उद्देश्य भौतिक लक्ष्यों के रूप में निश्चित नहीं किऐ और योजनाओं का काल बद्ध विभाजन भी सामने नही आ सका । फलस्वरूप कितने ही क्षेत्रों में योजना की क्रियान्वित का एक ही आधार बचा रहा और वह यह है कि किसी योजना पर कितना धन कितने समय में खर्च हो गया । कार्यक्रम सलाहकारों से यह आशा की जाती है कि वे महत्त्वपूर्ण योजनाओं और प्रोजैक्ट्स की प्रगति को समीप से देखने के बाद अपना परामर्श दें । किन्तु ये लोग अपना यह कार्य प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सके । परिणाम यह निकला कि योजना एवं परियोजनाओं की प्रगति के विषय में केवल सूचना और शक्ति क्षेत्रों को छोड़कर केन्द्र सरकार द्वारा पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा सका ।

केन्द्र और राज्यों के बीच संप्रेषण व्यवधान

राज्य प्रायः यह अनुभव करते है कि केन्द्र अधिकारियों को जो सुझाव योजना आयोग द्वारा दिऐ जाते है वे तकनीकी और आर्थिक आधारों पर आधारित होते हैं । नवंबर 1968 में राष्ट्रीय विकास परिषद की एक बैठक में राज्यों को केन्द्रीय सहायता की एक निश्चित धन राशि स्वीकार करने के लिऐ कहा गया था । ऐसा कहते समय राज्यों को यह पता नहीं लगने दिया कि केन्द्र सरकार साधन एकत्रीकरण की दिशा में क्या प्रयास करेगी । राज्य सरकारों ने इस स्थिति का स्वागत नहीं किया । विभिन्न क्षेत्रों तथा केन्द्र और राज्यों के सार्वजनिक उद्यमों के क्षेत्र में यह बंटवारा राज्य सरकारों के लिऐ अत्ययंत महत्वपूर्ण है । वे योजना आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करने के लिऐ उस समय तक तैयार नहीं होते । जब तक कि प्रस्तावित पद्धतियों का पूरा स्वरूप उनकी समझ में नहीं आ जाता । राष्ट्रीय विकास परिषद के माध्यम से योजना निर्माण की प्रक्रिया आरंभिक स्तर पर ही राज्यों को भागीदार बनाने के लिऐ यह आवश्यक है कि व्यावसायिक और वित्तीय स्तरों पर संगठन और प्रक्रियाओं द्वारा फार्मूलों की विधियाँ विकसित की जाऐं । जब तक यह नहीं होता है तब तक सुविधाजनक राजनीतिक स्थिति से मुक्ति नहीं मिल सकती । यहाँ यह आशा करना सर्वथा अनुचित होगा कि राज्य सरकारें योजना आयोग द्वारा सुझाऐ गऐ आधारों को हाथ जोड़कर स्वीकार कर लेगी । यह तथ्य इस ओर संकेत करता है कि यह कार्य कितना कठिन है । इस विषय में केन्द्र की अपनी अस्पष्ट और ढिल–मिल नीतियों के कारण यह समस्या और भी अधिक जटिल बनी है ।

प्रस्तावित योजना को आम राय द्वारा अनुमोदित किया जाता है । विभिन्न राज्यों सरकारें योजना प्रस्तावों के विभिन्न पहलुओं पर अपने–अपने अलग–अलग दृष्टिकोण रखती हैं । सभी का यह प्रयास रहता है कि केन्द्र से अधिक से अधिक केन्द्रीय सहायता छीनी जाऐ । प्रत्येक राज्य यह भी अनुभव करता है कि यह सहायता राज्यों के बीच ईमानदारी से नहीं बंटती । जब योजना आयोग ऐसे राज्यों को जो घाटे की स्थिति में हो तथा जिनके गैर योजना मद भारी घाटे की स्थिति में हो, विशेष योजना सहायता देने के प्रस्ताव रखे तो, राज्यों में आपस में ही एक विवाद खड़ा हो जाता है । जो राज्य इस सहायता के अंतर्गत लाभान्वित नहीं हो रहे होते है

और जिन्होंने अपनी अर्थ नीतियों को संतुलित करने के लिऐ भागीरथ प्रयत्न किऐ हों वे भारी नुकसान में रहते है और कहते है कि यह योजना सहायता तो अकर्मण्य राज्यों को एक प्रकार का फ्री बोनस है ,। कहीं–कहीं तो यह आशंका भी व्यक्त की जाती है कि ऐसी सहायता मनमाने ढंग से केवल राजनीतिक कारणों के आधार पर दी जाती है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कुछ सीमा तक इस प्रस्ताव द्वारा केन्द्रीय योजना सहायता संबंधी बहुत से सैद्धान्तिक पूर्व निर्णय समाप्त हो जाते है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है ,कि वित्त आयोग के उन निर्णयों के बावजूद भी जिनके अंतर्गत राज्यों की गैर योजना घाटे की आपूर्ति करने का प्रस्ताव था । यह पाया गया कि पंचवर्षीय योजना के दौरान राज्यों में गैर योजना घाटे की व्यवस्थाऐं चलती रहीं । यह स्थिति तब तक चलती रहेगी जब तक कि इस समस्या से निपटने के लिऐ विशेष प्रयास नहीं किऐ जाते । यदि केन्द्र राज्य वित्त संबंधों में गैर योजना मांगों को प्राथमिकता मिलती रही तो उनका योजना बजट बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित होगा और कुल मिलाकर पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय विकास की योजनाऐं प्रतिकूल ढंग से प्रभावित होंगी । अभी तक जिन राज्यों में इस प्रकार का संकट था वे रिजर्व बैंक से "आथराइज्ड ओवर ड्राफट " ले रहे थे, जिसे केन्द्र को एडहॉक ऋण के रूप में चुकाने के लिऐ विवश होना पड़ता था । सन् 1980 में केन्द्र ने यह सुझाव दिया था कि इस प्रकार की कठिनाईयों को पहले से मानकर ही चला जाऐ और राज्यों को इसके लिये विशेष प्रकार की सहायता दी जाऐं। ऐसा करने से दोनो समस्याऐं सुलझ सकेंगी और ओवर ड्राफट के आधार पर चलने वाले राज्यों के विकास कार्यो में भी कोई बाधा नही आऐगी। यह भी अनुभव किया गया कि इस नई प्रस्तावित योजना से राज्यों के वित्तीय प्रबंध पर भी प्रभाव पडेगा और उन्हे अपना वित्तीय अनुशासन सुधारने में भी सहायता मिल सकेगी।

राज्यों द्वारा इस प्रस्ताव का बहुत जोर–शोर से विरोध किया गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि योजना को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों पर केन्द्र राज्यों के बची दृष्टिकोण का कितना भारी अंतर था। केन्द्र द्वारा दिये गऐ स्पष्टीकरण के बाद इस आलोचना मे कुछ कमी आई और योजना आयोग ने विशेष योजना सहायता के प्रस्तावों को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया। किन्तु जो कुछ हुआ उससे यह स्पष्ट अवश्य होता है कि केन्द्र और राज्यों के बीच एक व्यवस्थित एवं निरंतरता पूर्ण संवाद आवश्यक हैं। दूसरी बात उभर करयह भी सामने आई कि यह संवाद तभी उपयोगी और प्रभावी होगा जब कि केन्द्र तथा राज्य दोनो के स्तरों पर योजना यंत्रो को सुधारा जाये।

केन्द्र राज्य विवाद और विचारधारा के प्रश्न

सामान्यतः अनुमान यह लगाया जाता रहा है कि केन्द्र अथवा राज्यों में विभिन्न राजनैतिक दलों या उनके मिले जुले गठबंधनो के सत्ता में आने पर राष्ट्रीय योजना निर्माण के कार्य में विशेष कठिनाईयों उपस्थित होंगी। वास्तव में सभी राज्यों ने केन्द्र के प्रति एक सा ही दृष्टिकोण अपनाया है। अपने साधनों को बढ़ाने के विषय में वे सभी चाहते है, कि केन्द्र उन्हें अधिक से अधिक सहायता दे किन्तु जब भी योजना आयोग द्वारा निर्दिष्ट किये गये तरीकों का प्रश्न आता है तो वे लोग केन्द्र का समर्थन नही करते और विशेषतः ऐसे प्रश्नों पर मौन रहना

चाहते है जो उनकी राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करते हैं।

भारत वर्ष में आर्थिक विकास की निश्चित समस्याओं को देखते हुये (विशेषतः उन क्षेत्रो में जो राज्यों को आवंटित किये गये हैं) ऐसा लगता है कि विचार धारा सम्बन्धी मतभेद काफी महत्त्वपूर्ण है एक विषय जिस पर मतभेद सबसे गहरा लगता है वह है, भूमि सुधार । आज भी अनेक राजनीतिक दल ऐसे है जो सिद्धांततः इसका विरोध करते है। वास्तव में समस्या विचार धारा की उतनी नहीं है जितनी कि स्पष्ट साझेदारी के साथ एक प्रभावशाली यंत्र द्वारा इन सुधारों को लागू करने की है जनसंख्या के सभी वर्गो पर (जिन्होनें विकास प्रयासों से भूतकाल में लाभ उठाया है और जिनके योगदानों के बिना भावी विकास की गति तेज नही की जा सकती) करारोपित करने के लिये राजनैतिक साहस आवश्यक हैं। इसके बिना वर्तमान स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आ सकता । इस दिशा में निश्चित कदम उठाने पर वैचारिक मतभेद संबंधी कठिनाईयाँ आना स्वाभाविक है । फिप भी हमारी भूल कठिनाई दूर, दृष्टि राजनीतिक विज्ञान तथा प्रशासकीय क्षमता का अभाव ही मानी जानी चाहिऐ ।

सभी संघों में केन्द्र राज्य संबंधी समस्याऐं समय–समय पर उभर कर सामने आती रहती है । इसका एक कारण तो यही है कि संविधान निर्माण के समय इन संबंधों के बहुत से पहलू धूमिल रह जाया करते है और बाद में उभर कर तनाव उत्पन्न करते हैं । भारतवर्ष को संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियों के बावजूद भी विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ दुर्बल नही बना सकीं है और जनतंत्र के प्रसार ने इनके क्षेत्र को और भी अधिक बढ़ाया है । राष्ट्र की अनेक विभिन्नताओं ने भी इस प्रवृत्ति को उकसाया है । किन्तु 1962–65 में जब देश के सामने बाहरी आक्रमण का संकट आया तो सभी विभिन्नताओं के बावजूद भी हमारे राज्य केन्द्र के तत्वाधान में संगठित होकर सामने आऐ । यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम आर्थिक विकास जैसे सकारात्मक उद्देश्य के लिऐ भी एक जुट होना सीखें । पं0 जवाहर लाल नेहरू ने देश की एकता को सुदृढ़ बनाने के लिऐ विकास आयोजनाओं के संदर्भ में अनेक नऐ सशक्त और सकारात्मक तरीके सुझाऐ थे । इन्हीं के अनुरूप योजना आयोग तथा राष्ट्रीय विकास परिषद जैसी संस्थाऐं गठित की गई है । इन संस्थाओं ने भारत की सारी संघ व्यवस्था को संचालित करने में एक अत्यंत अनूठी भूमिका निभाई है । कितने ही क्षेत्रों में नऐ कार्यो से संबंधित नूतन परंपराऐं विकसित हुई है ।इन सभी संस्थाओं में विकास एवं निर्माण के प्रश्नों पर एक सामान्य सहमति रही है तथा विकास के बड़े–बड़े अनुष्ठानों को इन्हीं के परामर्श के अनुसार पूरा किया जा सकता है ।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को एक आदर्श संघ शासन कहा जा सकता है । वहाँ का संविधान तीन मूल सिद्धांतों पर आधारित है– प्रथम तो यह कि संविधान को बनाने की दृष्टि से संघ और राज्य दोनों सरकारों के स्तर बराबर है, वहाँ के संघीय संविधान में संघीय शक्तियों की सीमाऐं और संघीय इकाईयों के गठन की प्रकृति वर्णित की गयी है । प्रत्येक राज्य का भी अपना संविधान है जिसे वह परिवर्तित भी कर सकता है । केन्द्र और राज्य अपने–अपने निर्धारित क्षेत्रों में स्वायत्तता रखते है । अमेरिका के राज्य अपने–अपने राज्यपाल चुनते हैं और केन्द्राधिकारियों की नियुक्तियों को अनुमोदित करते है दूसरा सिद्धांत यह है कि राज्यों विधान मण्डलों द्वारा बनाऐ जाने वाले कानून अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा न तो अनुमोदित किऐ जाते है और न ही उसके द्वारा

उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है । सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है वह केन्द्र और राज्य विधानण्डलों के बीच के विधायी अधिकार क्षेत्र की सीमाऐं निर्धारित करें । तीसरा सिद्धान्त शक्ति विभाजन का सिद्धांत कहलाता है । अमेरिकी संविधान में कार्यकारणी और न्यायपालिका तीनों के अधिकार क्षेत्र अलग–अलग रखे गऐ है । राज्यों के अपने–अपने न्यायालय है, जिनका राज्यों के कानून की क्रियान्विति पर एकाधिकार है । इस प्रकार संघीय न्यायालय संघीय कानूनों को प्रयुक्त करते है । इन सिद्धांतों पर जो सबसे बड़ी सीमा है वह केवल यह कि युद्ध और संकट काल में अमेरिका का राष्ट्रपति वे सारी शक्तियाँ हाथ में ले सकता है जो कि राज्यों और संघीय कानूनों के आपसी विरोधों के कारण आवश्यक हो जाती है । सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायिक क्षेत्र में सर्वोपरि है ।

अमेरिका में संघ राज्य संबंधों की दुनिया में काफी दूरगामी परिवर्तन हुऐं हैं। वस्तुतः इस शताब्दी के कुछ परिवर्तन निश्चय ही दृष्टव्य हैं। सैनिक और वित्तीय दृष्टि से वहाँ की संघीय सरकार एक महान शक्तिशाली केन्द्र विकसित कर चुकी है। जिसके सामने राज्य बड़े बौने लगते है जो विषय एक से अधिक राज्यों को प्रभावित करते हैं वे अनिवार्य रूप से संघ के पास जा चुके है और राज्यों के पास उद्योग परिवहन वाणिज्य आदि ऐसे विषय रह गऐ हैं जो एक राज्य की सीमा में सीमित नही हो सकते। अतः कांग्रेस का विधायी अधिकार क्षेत्र बहुत कुछ व्यापक बन गया है। यद्यपि स्वायत्ता का सिद्धांत वहाँ पर अभी भी वैसा ही बना हुआ है। तथापि अमेरिका में समवर्ती सूची में अधिक विषय नही हैं। यहाँ छोटे–छोटे विषयों जैसे मनोरंजन, नौका विंहार सरकारी कानून आदि विषयों पर केन्द्र और राज्य दोनो के लिये कानून बनाना आवश्यक हो गया हैं। सन् 1957 से नई सीनेट सदस्यों स्टाफ अधिकारियों राज्य रक्षकों तथा नौका, उद्योग और जनता के प्रतिनिधियों की एक मिली जुली समिति बनाई गई है। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार सन् 1958 में एक संघीय अधिनियम पास हुआ था जो प्रमुख रूप से मनोंरजन, नौका बिहार आदि से संबंधित है। इस समिति ने एक "माडल स्टेट एक्ट" भी तैयार किया है जिसके आधार पर विभिन्न राज्यों में विधायी एक रूपता स्थापित करने के प्रयास किये गये हैं। इन सामान्य परिवर्तनों के होते हुये भी अमेरिका की संघीय व्यवस्था को निर्देशित करने वाले सभी सिद्धांत कुल मिलाकर अपने पूर्व स्वरूप में यथावत बने हुये है।

भारतीय संघ व्यवस्था निसंदेह ही एक संघात्मक व्यवस्था है। केन्द्र और राज्यों के पास अपने अपने स्वंतंत्र विधायी और कार्यकारी अधिकार क्षेत्र है। उनके अपने वित्तीय साधन है। प्रशासकीय सेवाओं आदि की दृष्टि से संविधान में केन्द्र और राज्यों का स्तर समान नहीं है। केवल युद्ध और संकटकाल में ही नहीं अपितु सामान्य समय में भी केन्द्र की एक विशिष्ट स्थिति मिली हुई है। राज्यों की स्वायत्ता सीमित है। राज्यों के संविधान भारतीय संविधान के अंग मात्र हैं किसी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अपना संविधान बदल सके किन्तु संसद को यह अधिकार हैं। कि वह संविधान के अनेक महत्त्वपूर्ण भागों को भी पूरी तरह बदल सके। उसमें यह अधिकार भी शामिल है कि वह अपनी इच्छानुसार राज्यों के क्षेत्रफल, सीमाऐं और नाम आदि भी बदल सकती हैं। केवल कुछ विशेष दशाओं में ही वह आवश्यक रखा गया है कि राज्यों का बहुमत इस निर्णय को अनुमोदित करे।

समवर्ती सूची मे कितने ही महत्वपूर्ण विषय है इनमें से कुछ विषय जैसे दीवानी और फौजदारी कानून, सीमाओं की सुरक्षा, कानून सेवा, चिकित्सा व्यवसाय मूल्य नियंत्रण मोटर यातायात, विद्युत, फैक्ट्रीज इत्यादि ऐसे विषय है जिनके लिये यद्यपि केन्द्र और राज्यों दोनो ही कानून बना सकते है किन्तु भारतीय संसद द्वारा निर्मित कानून ही अंतिम एंव स्थाई माने जाते है। यह प्रावधान भारतीय संसद की प्रधानता स्थापित करता है। इसी प्रकार राज्यपाल तथा हाई कोर्ट के न्यायधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। अखिल भारतीय सेवाओ के लिये चयन संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा किया जाता है। धारा 356 एवं 357 में संकट काल की घोषणा के अंतर्गत भारतीय राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह राज्य सरकारों को निलंबित कर राज्यों पर केन्द्र सरकार का प्रभुत्व स्थापित कर सके।[1]

राज्यों ने सन् 1947 में शाक्तियों के हस्तांतरण द्वारा भारत को स्वतंत्र कर दिया था। ऐसी स्थिति में भारतीय नेताओं ने मांग की थी कि रियासतों की शासन व्यवस्था राष्ट्रीय सरकार को सौंप दी जाऐं। यद्यपि ऐसा यकायक नही हुआ, किन्तु सरदार पटेल ने जूनागढ़, हैदराबाद आदि राज्यों को जो कि भारत सरकार के गृहमंत्री की बात मानने के लिये उद्यत नही थे। संघ में विलीन करने के लिये रास्ते निकाल लिये । पुरानी देशी रियासतों का संघ में पूरी तरह विलय हो गया किन्तु पैरामाउंटेसी के पुराने सिद्धांत भारतीय संविधान में पुनर्जीवित हो गये। ये सिंद्धात मुख्य रूप से केन्द्र राज्य संबंधो के ढ़ाँचे के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका रखते है। सर्वोच्च न्यायालय में हाल ही में इस सिद्धांत को और भी अधिक स्पष्ट किया है। पश्चिमी बंगाल की सरकार ने केन्द्र सरकार के विरूद्ध इस बात का एक दावा किया था। कि उसने बंगाल राज्य की कोयला भूमि को हड़प लिया है। बहुमत की ओर से निर्णय देते हुये मुख्य न्यायधीश ने कहा था कि कानून के अंतर्गत केवल भारत की संसद को ही यह अधिकार है कि वह राज्यों की सीमाऐं बदल सकें क्षेत्रफल घटा सके और यदि चाहे तो राज्यों की शक्तियों को सदा के लिये समाप्त कर सकें। अतः राज्यों की प्रमुत्व संपन्नता की बातें करना निराधार है। केन्द्रीय संसद को राज्यो के किसी भी अधिकार को कुचलते हुये अपने केन्द्रीय कानून बनाने का अधिकार हैं। संविधान के अनुसार भारत में केन्द्र एवं राज्य दोनो ने अपने –अपने संबंधो को सुनियोजित करने मे काफी सतर्कता बरती है और यह कहा जा सकता है कि अन्य संघो को इस क्षेत्र में जो कठिनाईयाँ भुगतनी पड़ती है उनसे निपटने का प्रयास भारत में अधिक गंभीरता से किया गया है। भारतीय संविधान का यह प्रावधान निम्न सिंद्धातो पर आधारित है– 1. केन्द्र और राज्यों के बीच सभी करों को इस तरह बांटा जाये कि उनमें अनुचित असमानता न हो। 2– करों की वह राशि जिन्हें केन्द्र आरोपित करता है और केन्द्र ही वसूल करता है। राज्यों के मध्य उन सिंद्धातो के अनुसार बांटी जाये जिनका निर्धारण संसद करेगी। केन्द्र को जो अन्य कर आदि मिले है तथा आयकर से जो आमदनी केन्द्र को होगी, उसे वह राज्यों के साथ बांटेगा। राज्यो को दिया जाने वाला आयकर का भाग भी राष्ट्रपति वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार निश्चित किया जाऐगा। एक्साइज डयूटी का हिस्सा संसद द्वारा निर्धारित होगा और उसे वित्त आयोग की सिफारिश का लाभ मिल सकेगा। 3– राज्यों को जो अनुदान दिया जाऐगा, उसका आधार योजना आयोग की सिफारिशें होंगी। 4– केन्द्र और राज्य दोनो को बडे कार्यो के लिये सार्वजनिक ऋण लेने की सुविधाऐं होंगी।

---

1. आई० जे० पी० ए० जुलाई–सिंतबर 1963 में प्रकाशित के0 संथानम का लेख भारत में केन्द्र व राज्यों के बदलते संबंध

यह एक बहुत व्यापक और जटिल व्यवस्था है, किंतु इसका उद्देश्य राज्यों को काफी सीमा तक स्वायत्ता देना है और साथ ही उनकी आवश्यकतानुसार वित्त संबंधो की एक सुनियोजित व्यवस्था प्रस्तुत करना है।

3. भारत मे केन्द्र संबंध व्यावहारिक पक्ष

केन्द्र राज्य संबंधो पर व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि केन्द्र राज्य संबंधो मे मूलतः एक तरफा संप्रेषण विधि अपनाई गई है । यह संप्रेषण विधि केन्द्र से राज्य की ओर जाती है, राज्यों से केन्द्रो की ओर नहीं जाती। यद्यपि कतिपय संगठनो के माध्यम से राज्यों को अपनी बात केन्द्र के सामने रखने का अवसर मिलता हैं। परंतु इस बात की निश्चित पुष्टि नही की जा सकती कि केन्द्र राज्यों की बातों को गंभीरता से लेता है। यहॉ तक कि 9 जून 1983 की अधिसूचना क्रमांक 4/11017/1/83 सी0 एस0 आर0 के द्वारा गठित सरकारिया आयोग को जो प्रश्न विचारार्थ दिये गये है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन प्रश्नों मे केन्द्र सरकार का सोच अधिक है । यह प्रश्न निम्न है – 1) आयोग संघ और राज्यों के बीच सभी क्षेत्रों मे शक्तियों, कार्यो और जिम्मेवारियो के बारे में मौजूदा व्यवस्था के कार्य प्रबंध की जॉच और समीक्षा की और उचित परिवर्तनो या अन्य उपायों की सिफारिश करें।

(2) संघ और राज्यों के बीच वर्तमान व्यवस्था के कार्य प्रबंध की जॉच और समीक्षा तथा अपेक्षित परिवर्तनों और उपायों की सिफारिश करते समय आयोग ऐसे सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को ध्यान में रखे, जो पिछले वर्षो में हुऐ हैं और संविधान की रूप रेखा और उसके स्वरूप को उचित सम्मान दें जिसे संविधान के निर्माताओं ने देश की स्वतंत्रता की रक्षा करने उसकी एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने के लिये जो कि लोगो के कल्याण में वृद्धि करने के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है, बड़ी मेहनत से बनाया था।[1]

सरकारिया आयोग की प्रश्नावली के व्यापक अध्ययन से यह प्रतीत होता है, कि सरकारिया आयोग यह मानकर चला है, कि केन्द्र की विशिष्ट स्थिति को देखते हुये केन्द्र को राज्यों से अधिक अधिकार और शक्ति स्त्रोत दिया जाना वांछित है, इस तथ्य की पुष्टि आयोग द्वारा जारी प्रश्नावली के निम्नलिखित प्रश्नो से होती है।

प्रश्न-1

प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल के अनुसार संविधान के निर्माताओं ने संविधान के निर्माण में अपनी इस घोषणा का दृढ़ता से पालन किया है, कि हमारे संविधान का सर्वोत्तम आधार शक्तिशाली केन्द्र युक्त राज्यसंघ है। क्या हमारे संविधान को उसकी अनेक विशिष्टताओं के बावजूद भी जो कि अन्य राज्य संघो मे नही पाई जाती है, वास्तविक अर्थो में

---

1. **ग्रह मंत्रालय,** भारत शासन की अधिसूचना क्रमांक 4/1107/1/83 सी0 एस0 आर0 दिनांक 9 जून, 1983 के द्वारा सरकारिया आयोग के गठन के समय उसे दिय गये विचारार्थ प्रश्न

संघीय कहा जा सकता है। इस प्रश्न का वास्तविक तात्पर्य यह प्रतीत होता है, कि शाक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की कल्पना सहित राज्यसंघ के संविधान निर्माताओं के विचार से आयोग सहमत है, प्रशासनिक सुधार आयोग और सरकारिया आयोग दोनो भारत को संघीय राज्य मानते है परंतु यह विचार सही नहीं है, वस्तुतः भारत एकात्मक राज्य है संविधान में कही भी फेडरेशन शब्द का प्रयोग नही किया गया है। भारतीय संविधान मे भारत को फेडरेशन के बजाऐं यूनियन शब्द का प्रयोग किया गया है। इस संघ की सार्वभौमिक शक्ति जनता में निवास करती है, और भारत की जनता, भारत की नागरिक है। अतः जनता की सार्वभौमिक शक्ति, केन्द्र की सार्वभौमिक शक्ति में निहित है। अतः भारत को यथार्थ शब्दों में सघींय राज्य नही कहा जा सकता है।

प्रश्न-1.3

यह कहा गया है कि भारत जैसे विशाल और विविधता पूर्ण देश में सामान्य स्थिति मे कार्य कुशलता और समानता की दृष्टि से शक्तियों और कार्यो के क्षेत्रीय और कार्यात्मक स्तर पर पर्याप्त विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। यद्यपि आपातकाल में अधिक केन्द्रीकरण की व्यवस्था होनी चाहिये।

क्या आप इससे सहमत है ? आपके विचार मे इस दृष्टि से सर्वोत्तम संवैधानिक उपलब्धि क्या होना चाहिऐ ?

यह तथ्य आश्चर्यजनक है, कि आयोग की दृष्टि में शक्ति का विकेन्द्रीकरण हो सकता है। वस्तुतः शक्ति कभी भी विकेन्द्रित नहीं होती । शक्ति हमेशा सत्ता का आधार होती है, और राज्य शक्ति का आधार सत्ता ही है, बिना सत्ता के राज्य की संकल्पना व्यर्थ है। यह देखा जाना व्यर्थ है कि शक्ति के केन्द्र कौन से है, और वे किस मात्रा तक किन स्त्रोतो से शक्ति अर्जित करते हैं ? यदि शक्ति विकेन्द्रित कर दी जाऐ तो यह विकेन्द्रिकरण वस्तुतः समानांतर विपरीत हित वाले परस्पर विरोधी शक्ति केन्द्र बनाता है। जो आकर्षण और प्रतिकर्षण के सिंद्धात पर संतुलित तो हो सकते हैं परंतु सम्मिलित नही हो सकते । अतः यह आशा करना कि शक्तियों और कार्यो का क्षेत्रीय और कार्यात्मक विकेन्द्रीकरण किया जाना चाहिये, संभव है भ्रामक हैं।

प्रश्न - 1.6

क्या आप इस बात से सहमत है, कि स्वतंत्रता की रक्षा करना और देश की एकता और अखण्डता बनाऐ रखना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है ? यदि हो तो इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आपके विचार से संविधान मे क्या उपबंध किये गये हैं ?

यह सही है कि देश की एकता और अखण्डता की रक्षा करना और स्वतंत्रता बनाऐं रखना अत्याधिक महत्वपूर्ण है। परंतु इसकी आड में राज्यों की स्वायत्ता का हनन तर्क संगत नही होता यह तथ्य जानना रोचक है कि राज्यों को अधिक स्वायत्ता और समस्त अवशिष्ट शक्तियाँ दिये जाने के बावजूद अमेरिका की एकता अखण्डता और स्वतंत्रता को कोई छीन नहीसका। अतः यह तर्क कि देश की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिये राज्यों की कीमत पर केन्द्र को शक्तिशाली बनाना चाहिये उचित प्रतीत नही होता।

प्रश्न - 1.7

क्या संपूर्ण रूप से देश के संबंध मे और आपसी संबंधो मे केन्द्र और राज्यों के दायित्वों के बारे में संवैधानिक उपबंध युक्ति–युक्त हैं ? इस संबंध मे अन्य उपबंधो के साथ–साथ संविधान के अनुच्छेंद 256, 257, 354 से 357 और 365 देखें।

उपरोक्त प्रश्न से यह प्रतीत होता है कि आयोग यह मानकर चला है कि वर्तमान केन्द्र राज्य संबंधो के संदर्भ में संवैधानिक प्रावधान समुचित और युक्ति युक्त है। इस प्रश्न की शब्दावली से यह भी प्रतीत होता है, कि आयोग उक्त विषय से संदर्भित संवैधानिक प्रावधानों को बनाऐ रखने का पक्षधर है और इस तरह यथास्थिति का पक्षधर है।

प्रश्न-2.1

यह विचार व्यक्त किया गया है कि संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के वितरण की योजना में कोई आधारभूत त्रुटि नही है। इस योजना मे सामान्य समय में राज्यों को पर्याप्त मात्रा मे विधायी स्वायत्तता प्रदान की गई है किन्तु वर्षो से संघ ने "राष्ट्रीय हित" और जनहित की घोषणा की आड़ में राज्य में राज्य के विधायी क्षेत्र का अतिक्रमण किया है । क्या आप ऐसे अतिक्रमणों के, यदि कोई हो, स्पष्ट उदाहरण दे सकते हैं।

इस प्रश्न की शब्दावली से यह प्रतीत होता है कि सरकारिया आयोग यह मानकर चला है कि केन्द्र राज्य के बीच विधायी शक्ति का बंटवारा संतोषजनक है और इसमें कोई त्रुटि नहीं है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि जहॉ पर विधायी शक्ति वितरण में तीन से दो सूचियों पर (केन्द्र सूची और समवर्ती सूची) पर संसद को शीर्षक्रम दिया गया हो। वहॉ पर संघीय भावना के अनुरूप शक्ति वितरण केन्द्र और राज्य के बीच संभव नहीं है, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब केन्द्र और समवर्ती सूची मे अत्याधिक महत्त्वपूर्ण विषय शामिल किये गये हो, ऐसी स्थिति मे केन्द्र द्वारा की गई कोई घोषणा राष्ट्रीय हित और जनहित की आड़ में जनता के कोष से बचाई जा सकती है राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र का कोई भी विद्यार्थी भली–भांति जानता है जब सरकार द्वारा राष्ट्रहित या जनहित की बात की जाती है। यह सही है कि राज्यों के दायरे मे जनहित अथवा राष्ट्राहित की आड़ में केन्द्र सरकार द्वारा लगातार अतिक्रमंण किये गये हैं। परंतु ये अतिक्रमण वे अतिक्रमण है जो पृष्ठ भाग पर आये है। केन्द्र द्वारा प्रशासनिक मामलों में राज्य सरकार को निर्देश देने का अधिकार अपनी व्यापकता के अलावा राज्य सरकारों के कार्य क्षेत्रो के अतिक्रमण का सबसे सुरक्षित हथियार हैं।

प्रश्न -2.4

क्या आपका यह विचार है कि जिन विषयों के संबंध में कानून बनाने के लिये राज्य पूर्णतः सक्षम है उन विषयों पर "राष्ट्रीय हित" और जनहित में कानून बनाने के लिये संसद को समर्थ बनाऐ जाने की घोषणा स्थाई रूप की होनी चाहिये या आपका यह विचार है कि वह

घोषणा अवधि विशेष के लिये ही होनी चाहिये, जिस पर समय–समय पर पनुर्विचार किया जाना भी आवश्यक हो ?

इस प्रश्न की शब्दावली से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन विषयों के मामले में भी जिसमें राज्य सरकारें कानून बनाने के लिऐ सक्षम हों, आयोग संसद को कानून निर्माण शक्ति प्रदान करने की अभिलाषा रखता है । यह खतरनाक सुझाव हे । क्योंकि इसको यदि अमल में लाया जा सकता है, तो शक्ति वितरण सरीखी कोई चीज भारतीय संविधान के लिए दिवा स्वप्न सरीखी रह जाऐगी ।

प्रश्न 3.5

भारतीय विधि संस्थान के तत्वाधान में आयोजित 1956–65 की अवधि के 170 विधेयकों के अध्ययन से पता चलता है, कि "राष्ट्रपति की स्वीकृति देने में केन्द्र, राज्यों "पर अपनी नीतियाँ थोपने की कोशिश करता है । यद्यपि इस तथ्य से कि केवल कुछ ही मामलों में वास्तवमें स्वीकृति रोकी गई है, यह प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति की स्वीकृति की प्रक्रिया से अभी राज्यों की स्वायत्तता को कोई बड़ा खतरा नहीं हुआ है ।

इस प्रश्न की शब्दावली से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के अनुमोदन के लिऐ भेजे गऐ बिलों के संबंध में आयोग यह मानकर चलता है कि यद्यपि राज्यों के विधेयकों को स्वीकृति देने में केन्द्र सरकार द्वारा अनावश्यक विलंब स्वायत्तता पर गंभीर कुठाराघात था, व्यापक खतरा उत्पन्न नहीं हुआ है । घोर आश्चर्य का विषय है कि सक्षम रीति से निर्वाचित राज्य विधान मण्डल के अधिनियम को किसी अतिरिक्त पुष्टि की आवश्यकता न होने के बावजूद केन्द्र सरकार द्वारा विधेयकों की स्वीकृति में अनावश्यक विलंब राज्य सरकारोंके कार्य क्षेत्र पर अतिक्रमण ही है और कुछ नहीं, और सरकारिया आयोग अपनी प्रश्नावली द्वारा इस घातक प्रवृत्ति को संबल प्रदान करता है ।

प्रश्न 3.9

अक्सर यह आलोचना की जाती है, कि राज्य विधान मण्डल में राज्य सरकार के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित किऐ जाने के कारण राज्य में सरकार के त्यागपत्र दिऐ जाने के बाद पार्टी के डांवाडोल होने की स्थिति में मुख्यमंत्री के चयन के बारे में अपनी राय बनाने में राज्यपाल निष्पक्ष रूप से कार्य नहीं करते । बल्कि किसी विशिष्ट राजनीतिक पार्टी या दल के हितो को बढ़ावा देने के लिऐ पूर्व नियोजित ढंग से काम करते है । सरकारों को अस्थिरता से बचाने के लिऐ फेडरल रिपब्लिक ऑप जर्मनी ने एक युक्ति निकाली है । मूल कानून के अनूच्छेद 67 में यह निर्दिष्ट किया गया है कि वुडस्टेग, संघीय विधान मण्डल फेडरल चांसलर के प्रति अपना अविश्वास भी व्यक्त कर सकता है जबकि वह उसके साथ ही उत्तराधिकारी का भी चयन कर ले । उसके बाद ही वह संघीय अध्यक्ष से फेडरल चांसलर को बर्खास्त करने का अनुरोध कर सकता है । क्या आप सोचते है कि, यदि ऐसा ही उपबंध हमारे संविधान में समाविष्ट कर दिया

जाऐ तो एक ओर तो यह राज्यपाल और निर्वाचित प्रतिनिधियों के बीच अनावश्यक मतभेद को रोकेगा । दूसरी ओर इससे राज्यपाल के विरूद्ध उपर्युक्त आलोचना करने के अवसर कम हो जायेंगे। क्या आपका कोई अन्य सुझाव है ?

इस प्रश्न में राज्यपाल की राज्य में भूमिका के एक पक्ष पर प्रकाश डाला गया है, परंतु वस्तुस्थिति को पूर्ण रूप से नहीं दर्शाया गया । समस्या यह नहीं है, कि राज्यपाल पूर्व नियोजित ढ़ंग से कार्य करता है या नहीं, मूल समस्या यह है कि राज्यपाल के चयन की राजनीतिक प्रक्रिया क्या है । यह निर्विवाद है कि राज्यपाल के चयन में केन्द्र में सत्तारूढ़ राजनैतिक दल निर्णायक भूमिका अदा करता है । संविधान में भले ही राज्यपाल का पद एक प्रशासनिक एवं कार्यपालिक पद बनाया गया हो । मूलतः एक राज्यपाल का पद एक राजनीतिक पद है और चयन की प्रक्रिया भी राजनीतिक ही है । भारतीय राजनीति के परिप्रक्ष्य में ऐसे अनेकों अवसर आऐ है, जब केन्द्र में सत्ता परिवर्तन के कारण राज्य के राज्यपालों ने या तो त्यागपत्र दिऐ है, या उन्हें पद मुक्त किया गया है । ऐसी स्थिति में राज्यपाल से केन्द्र के विपरीत रूख की अपेक्षा नहीं की जाती है । यदि राज्यपाल केन्द्र का पक्ष लेता है तो राज्य की स्वायत्तता नष्ट होती है । इसका ज्वलंत उदाहरण हरियाणा के राज्यपाल श्री महावीर प्रसाद द्वारा केन्द्र में सत्तारूढ़ दल भाजपा के इशारे पर राज्य में निर्वाचित वैध सरकार श्री बंसीलाल की सरकार को बर्खास्त किया गया और अल्पमत वाली ओम प्रकाश चौटाला को भाजपा के समर्थन पर मुख्यमंत्री बनवाया गया यही स्थिति अनेकों बार देखने को मिली ।

प्रश्न 3.10

प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह सिफारिश की थी कि राज्यपालों को अपनी विवेक शक्तियों का प्रयोग किस रीति से करना चाहिऐ । इस बारे में मार्गदर्शी सिद्धांत अंतर राज्य परिषद द्वारा तैयार किऐ जाऐं और वे केन्द्र से स्वीकृति मिलने पर राष्ट्रपति के नाम से जारी किऐ जाऐं। उन्हें संसद के दोनों सदनों के समक्ष भी प्रस्तुत किया जाऐ ।

वस्तुतः राज्यपाल के स्वविवेक के निर्णय के लिऐ कोई स्वविवेक सिद्धांत निश्चय नहीं किऐ जाते हैं । इस तरह मार्ग–दर्शक सिद्धांतों के प्रतिपादित कर देने से राज्यपाल उन सिद्धांतों का अवलंबन करेगा ही, इस तथ्य की कोई गारंटी नहीं दी जा सकती ।

प्रश्न 4.2

एक विचार यह है कि अनुच्छेद 365 को हटा दिया जाऐ, एक अन्य विचार यह है कि चूँकि यह केवल परिणात्मक अधिकार खण्ड है जिसका वास्तव में कभी भी प्रयोग नहीं किया गया, इसलिऐ इसे एक आरक्षित उपबंध के रूप में रहने दिऐ जाऐं । आप किस विचार का और किन कारणों से समर्थन करते है ?

यह तथ्य ज्ञातव्य हे कि यदि अनुच्छेद 365 को संविधान से निकाल भी दिया जाऐ

तो उसके समकक्ष अन्य प्रभावकारी अनु0 356 जिसका कि बारंबार प्रयोग राज्यपालों द्वारा किया जाता रहा है, संविधान में मौजूद है ।

प्रश्न :–

4.4, 4.5, 4.7, 4.12, 5.3, 5.9, 5.13, 5.32 एवं 5.39 में भी कतिपय ऐसे प्रश्नों का जिक्र है, जिससे स्पष्ट होता है, कि आयोग मूलतः केन्द्र शासन का पक्षधर है और केन्द्र राज्य संबंधों में केन्द्र की वरीयता और राज्यों की सीमितता का ही पक्षपाती है, प्रश्नावली के भाग 6 में सम्मिलित प्रश्न इस तथ्य को निर्विवाद रूप से सूचित करते है कि आयोजना संबंधी केन्द्र राज्य संबंधों में सरकारिया आयोग नीतियों के क्रियान्वयन में भी राज्यों की बात सुनने को तैयार नहीं है । राज्यों की योजना के निष्पादन में आने वाली कठिनाईयों के संबंध में एक भी प्रश्न पूछा नही गया है । भाग 7,8,9,10,11, जो कि विशिष्ट विषयों से संबंधित है, में भी केन्द्रीय प्रशासन का पक्षपाती स्वर ही उभर कर सामने आया है । भाग 12 में जो एक प्रश्न शामिल किया गया है, वह अमेरिकी संघीय पद्धति में संबंध में है और इस संबंध सलाहकार परिषद के संबंध में है और इस विषय पर चर्चा वर्तमान में अनावश्यक है ।

4 शोध प्रबंध के उद्देश्य

(1) प्रस्तुत शोध प्रबंध भारत मेंसंघीय ढाँचे में केन्द्र राज्य संबंधों की एक विशेष कालावधि में क्रियात्मकता का मूल्यांकन करता है ।

(2) भातीय संघ का उद्भव एवं उद्भव की परिस्थितियों को ज्ञात करना है जिससे भारतीय संघ की मूल प्रवृत्तियों को ज्ञात करने में सुविधा हो ।

(3) 1966 के पश्चात् कतिपय ऐसे अवसर आऐ है जबकि केन्द्र और राज्य संबंधों में भिन्न–भिन्न सरकार होने के कारण केन्द्र और राज्यों में भारी तनाव आया है, वर्तमान में भारत के कई राज्य विपक्षी सरकारों के अधीन है । केन्द्र राज्य संबंधों का पुनर्मूल्यांकन करने की मांग करने वाले राज्य भी यही राज्य है। अतः शोधछात्रा का एक उद्देश्य यह भी है कि यह ज्ञात किया जाऐ कि वे कौन सी परिस्थितियाँ हैं, जिनके कारण राज्यों को अधिक स्वायत्तता की मांग रखने की न केवल आवश्यकता पड़ी बल्कि उसके लिऐ कड़ा संघर्ष भी करना पड़ रहा है ।

(4) शोधछात्रा का अन्य उद्देश्य यह भी है कि भारत के मध्य प्रदेश राज्य और केन्द्र के बीच 1986 से लेकर आज तक संबंध किस तरह वृद्धिगत एवं संवृद्ध हुऐ है ।

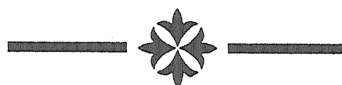
(5) शोधछात्रा का एक अन्य उद्देश्य यह भी है कि राज्य और केन्द्र के बीच अंतः संबंध मूलतः किन कारणों को लेकर प्रभावित हुऐ है और उन कारणों के अवशिष्ट परिणाम भारतीय संघीय ढाँचे पर किस प्रकार दृष्टिगत होते है ।

(6) शोधछात्रा का एक अन्य उद्देश्य यह जानना है केन्द्र राज्य संबंधों में अधिक और अधिक सुधार कौन से हो सकते है जिनसे भारत में ने केवल विकास के लक्षणों को पूरा किया जा सके, बल्कि केन्द्र और राज्य के बीच तारतम्य और समझदारी की निरंतरता बनाई जा सके ।

शोधछात्रा का यह विश्वास है कि इस शोध प्रबंध के जरिऐ केन्द्र राज्य संबंधों का मूल्यांक़न एवं आकलन हेतु एक नया दृष्टिकोंण भारत के शोध छात्रों के सम्मुख उपलब्ध होगा ।

शोध प्रणाली

प्रस्तुत शोध प्रबंध में मूलतः ग्रंथालय पद्धति का अवलंबन किया गया है । ग्रंथालय में उपलब्ध सामग्री के आधार पर शोधछात्रा ने केन्द्र राज्य संबंधों का वस्तुपरख मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है एवं वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग द्वारा शोध प्रबंध के क्षेत्र का निर्धारण कर उपकल्पना का निर्माण कर तथ्यों का विश्लेषण व वर्गीकरण किया गया है । विभिन्न विशेषताओं से सन्निहित मेरा विषय अध्ययन की दृष्टि से वैज्ञानिक पद्धति परिलक्षित करता है ।



अध्याय तृतीय

भारत के केन्द्र राज्य संबंध- सिद्धांत एवं व्यवहार

1. केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव के राजनीतिक व न्यावहारिक कारण,
2. वित्तीय प्रावधान,
3. संविधानेत्तर प्रवृत्तियाँ एवं केन्द्र राज्य संबंध पर उसका प्रभाव
4. सरकारिया आयोग से अपेक्षाऐं,

भारत में केन्द्र राज्य संबंध - सिद्धांत एवं व्यवहार

स्वतंत्रता पश्चात की भारतीय राजनीति परिवर्तनशील एवं बहुआयामी रही । उस राजनीति के बदलते स्वरूप 1962 के चीनी आक्रमण से दृष्टिगोचर होने लगे थे । राजनेताओं की गम्भीर असफलता, बढ़ती हुई समस्याऐं, गम्भीर जन असंतोष को जन्म दे रही थी । इसी जन असंतोष का परिणाम श्री जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु, के पश्चात भारतीय राजनीति पर दिखाई पड़ता है । 1965 का भारत पाक युद्ध कतिपय अन्य समस्याओं को जन्म दे गया और 1966 में श्रीमति गांधी के प्रधानमंत्री बनने के पश्चात भारतीय राजनीति ने बहुत तेजी से करवट बदली । 1963 से 1966 तक के घटनाक्रम यह स्पष्ट कर चुके थे कि भारतीय समस्याओं का मूल प्रधानतः उसकी सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में हैं । द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजना के क्रियान्वयन के कुछ अनुभव जनता को दर्शा चुके थे कि, राजनेता कितने भी आश्वासन देते रहें, जब तक आर्थिक समाजिक व्यवस्था में सुधार नहीं लाया जा सकता है तब तक जनता की वास्तविक समस्याओं का निदान नहीं हो सकता । यही कारण था कि 1966 में कांग्रेस के हाथ में से 8 राज्य गऐ और यही वह घटना थी जो केन्द्र राज्य संबंधों में नया मोड़ ले आई ।

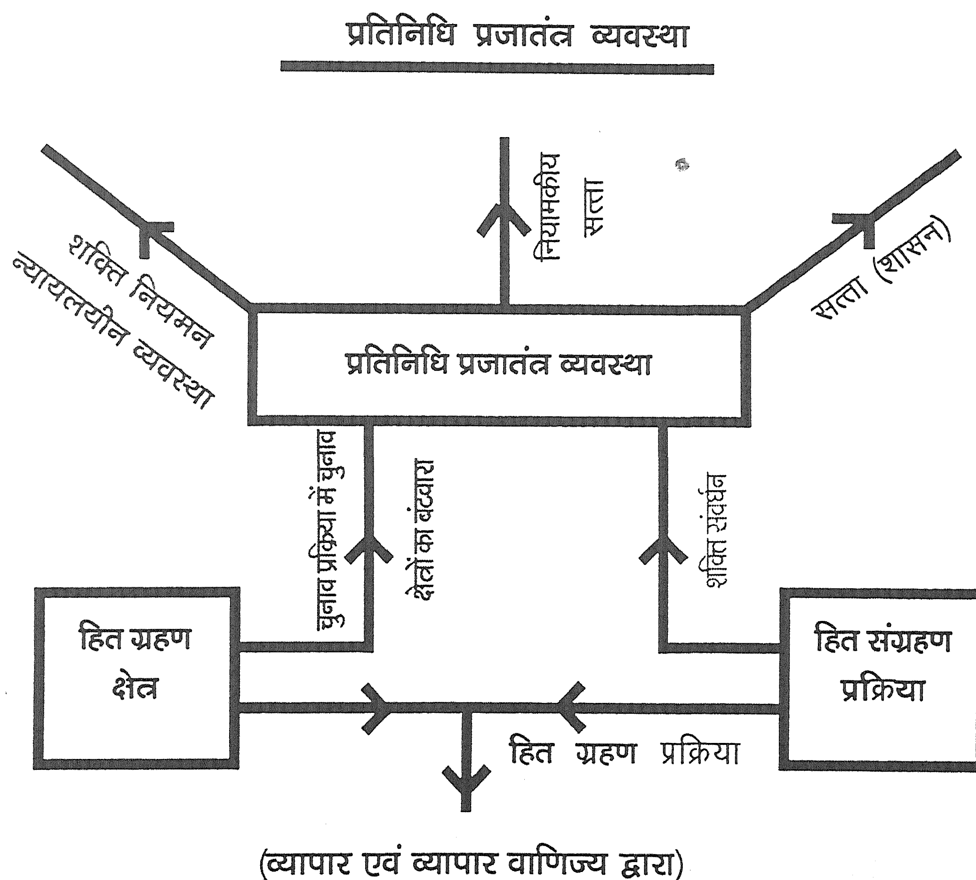
राजनीति विज्ञान में प्रजातंत्र की मूल संकल्पना के बारे में अनेकों भ्रांतियां फैली हुई है । प्रथम भ्रांति यह है, कि प्रजातंत्र में जनता को अंतिम निर्णायक शक्ति दी गई है । वस्तुतः ऐसा नही है, जनता के पास में जो होता है वह चुनाव का अधिकार होता है । चुनाव के अधिकार को समयांतार से उपयोग में लाया जा सकता है । परन्तु राजनीतिक चेतना हीन जनता से हमेशा सही चुनाव की अपेक्षा नही की जा सकती अतः प्रजातंत्र में जो मुख्य चीज कार्य करती है, वह है प्रतिनिधि व्यवस्था में संख्यात्मक अनुपात के आधार पर बहुमत का निर्णय होता है । यह बहुमत जनता का न होकर उस विशेष हित का होता हैं, जिसके प्रतिनिधि अधिक संख्या में चुनकर आते हैं । यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि भारत में चुनाव प्रक्रिया जटिल ओर खर्चीली है, साथ ही चुनाव में सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाला व्यक्ति चुना जाता है । परन्तु खेद कारक तथ्य यह है, कि मत संख्या कभी भी कुल जनसंख्या के अनुपात में 15 प्रतिशत से आगे नहीं बढ़ी । मूलतः प्रजातांत्रिक व्यवस्था हित प्रतिनिधत्व की व्यवस्था है, और पूँजीवाद के प्रारंभ की देन है । ब्रिटेन के प्रजातंत्र का इतिहास यह दर्शाता है । कि पूंजीवाद के विकास के साथ – साथ जनता की सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना का विकास होता गया । पुनर्जागरण आंदोलन के द्वारा सभी प्रकार के अंधविश्वासों के खिलाफ लम्बी लड़ाई लड़कर यह चेतना हासिल की गई है । भारत में पुनर्जागरण आंदोलन केवल धर्म तक सीमित रहा अतः जनता की चेतना का विकास नहीं हो सका । इस अर्ध विकसित चेतना वाले जनसमूह को चुनाव का अधिकार जब दिया गया, तभी से प्रतिनिधि हितों का चुनाव होता आया है । 1986 तक केन्द्र राज्य संबंधों में, विशेष तनाव न आने का कारण जनता नहीं थी परंन्तु विरूद्ध दिशाओं में शक्तिशाली व्यक्तित्व का केन्द्र और राज्य संबंधों पर होता रहा । इससे परस्पर संतुलन,

की स्थिति निर्मित हुई और यही परस्पर संतुलन, केन्द्र राज्य संबंधों को प्रभावित करता रहा । परन्तु 1986 के बाद, शक्ति प्रारूप में परिवर्तन हुआ । लगातार बढ़ती हुई समस्याओं से जनता असंतुष्ट तो थी, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से सचेत न होने के कारण जनता ने चुनाव में प्रखर रूप से संगठित हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली कांग्रेस के विरूद्ध स्थानीय हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले क्षेत्रीय दलों को उभारा । इसका नतीजा यह हुआ, कि इन क्षेत्रीय हितो को अपनी पहचान जमाने का अवसर मिला । संवैधानिक तौर पर शक्ति संतुलन के कारक न होने, की वजह से हित राजनीति के दो घटक राष्ट्रीय हित, क्षेत्रीय या स्थानीय हित, विपरीत हितों के टकराव के कारण एक दूसरे के विरूद्ध हो गऐ । केन्द्र राज्य संबंधों के मध्य तनाव, मूलतः इसी परिप्रेक्ष्य में देखे जाने चाहिये।

भारतीय राजनीतिविदों में प्रजातंत्र में शक्ति प्रारूप के बारे में भ्रांति है । वस्तुतः शक्ति संविधान से निर्मित नहीं होती । संविधान सत्ता का स्रोत है, शक्ति का नहीं शक्ति प्रारंभ से ही उस हित रचना, हित ग्रहण क्षेत्र में होती है, जो अपने विशिष्ट दायरों में हित संवर्धन के द्वारा शक्ति अर्जित करता है, और इन्हीं संवर्धित हितों का प्रतिनिधि चुनाव प्रक्रिया के ज़रिऐ चुना जाता है । इस प्रक्रिया को निम्नांकित चार्ट के द्वारा समझा जा सकता है ।

चार्ट क्रमांक - १

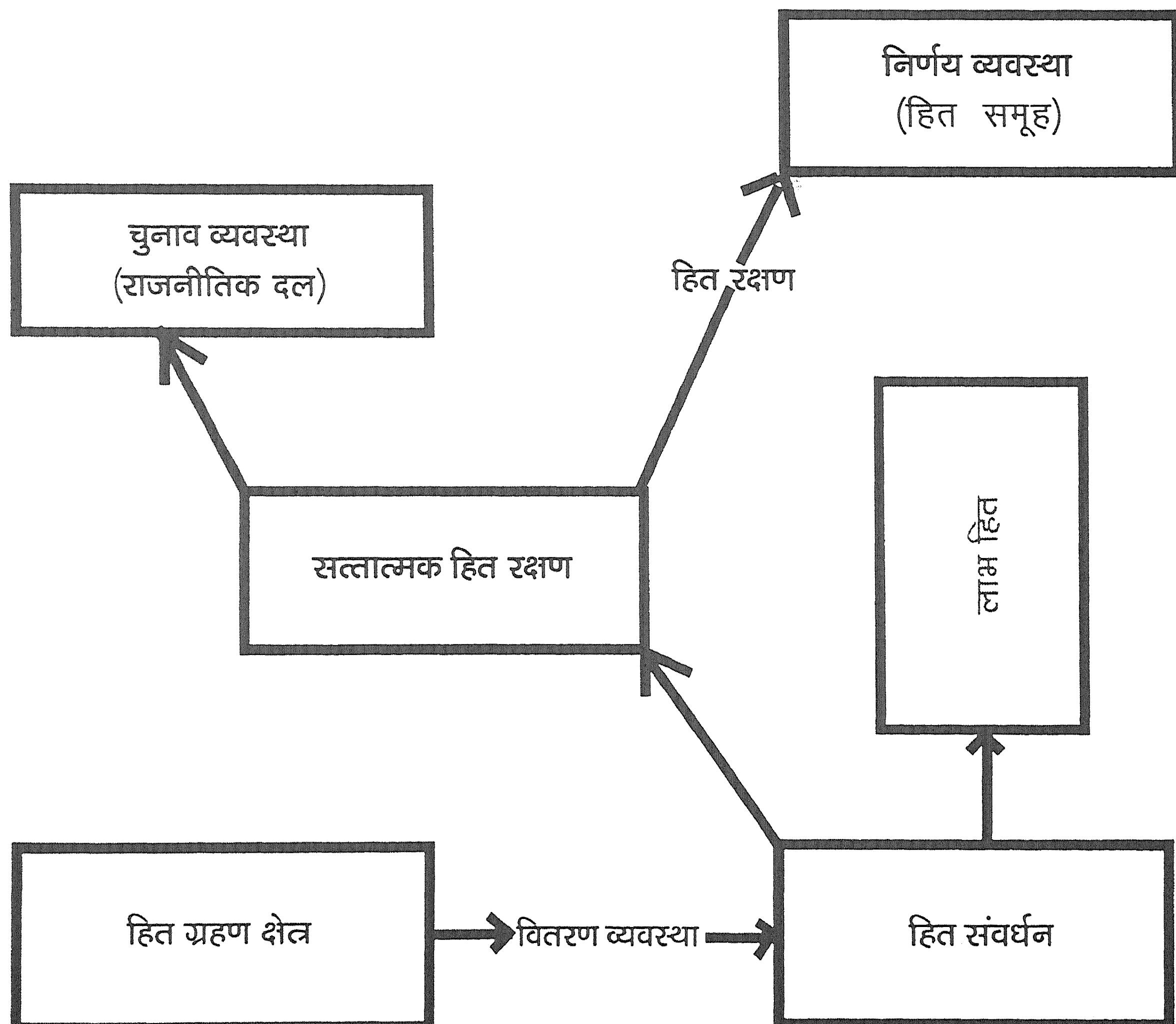
प्रतिनिधि प्रजातंत्र व्यवस्था



उपरोक्त चार्ट से यह स्पष्ट हो जाता है, कि आर्थिक सामाजिक व्यवस्था ही सत्ता का मूल स्रोत है, क्योंकि बाजार अर्थ व्यवस्था ही हित संग्रहण को शक्ति प्रदान करती है, और यही शक्ति सत्ता का प्रमुख स्रोत होती है । अतः संविधान द्वारा सत्ता का प्रारूप निर्मित होता है, शक्ति का नहीं । सत्ता तीन भागों में बँटी होती है प्रबंधन, नियमन एवं नियंत्रण । प्रबंधन कार्यपालिका शक्ति में निहित है, नियमन विधायी शक्ति में निहित है, और नियंत्रण न्यायपालिका में निहित है । किसी भी संविधान द्वारा सत्ता के इन तीन प्रमुख जिक्र होता है । संविधान के द्वारा ही इन तीनों कार्यों के बीच समन्वयात्मक संतुलन के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था निर्मित की जाती है । यह तथ्य इस रोचक जानकारी से और भी प्रखर हो उठता है, कि विश्व में प्रजातंत्र के जनक ब्रिटेन का अपना लिखित संविधान नहीं है, क्योंकि वह पूंजीवाद के प्रारंभ से ही विकासित हो रहा है, या दूसरे शब्दो में ब्रिटिश संविधान का विकास ब्रिटिंश पूंजीवाद की देन है । प्रकारांतर से यही बात भारतीय संविधान पर भी लागू होती हैं ।

चार्ट क्रमांक -2

हित ग्राही राजनीति



1) उत्पादन प्रक्रिया
2) उत्पादन के साधन
3) उत्पादन के कारक
4) समन्वित बाजार
5) संचार एवं संवहन
6) एकीकृत अर्थ एवं मुद्रा नीति,

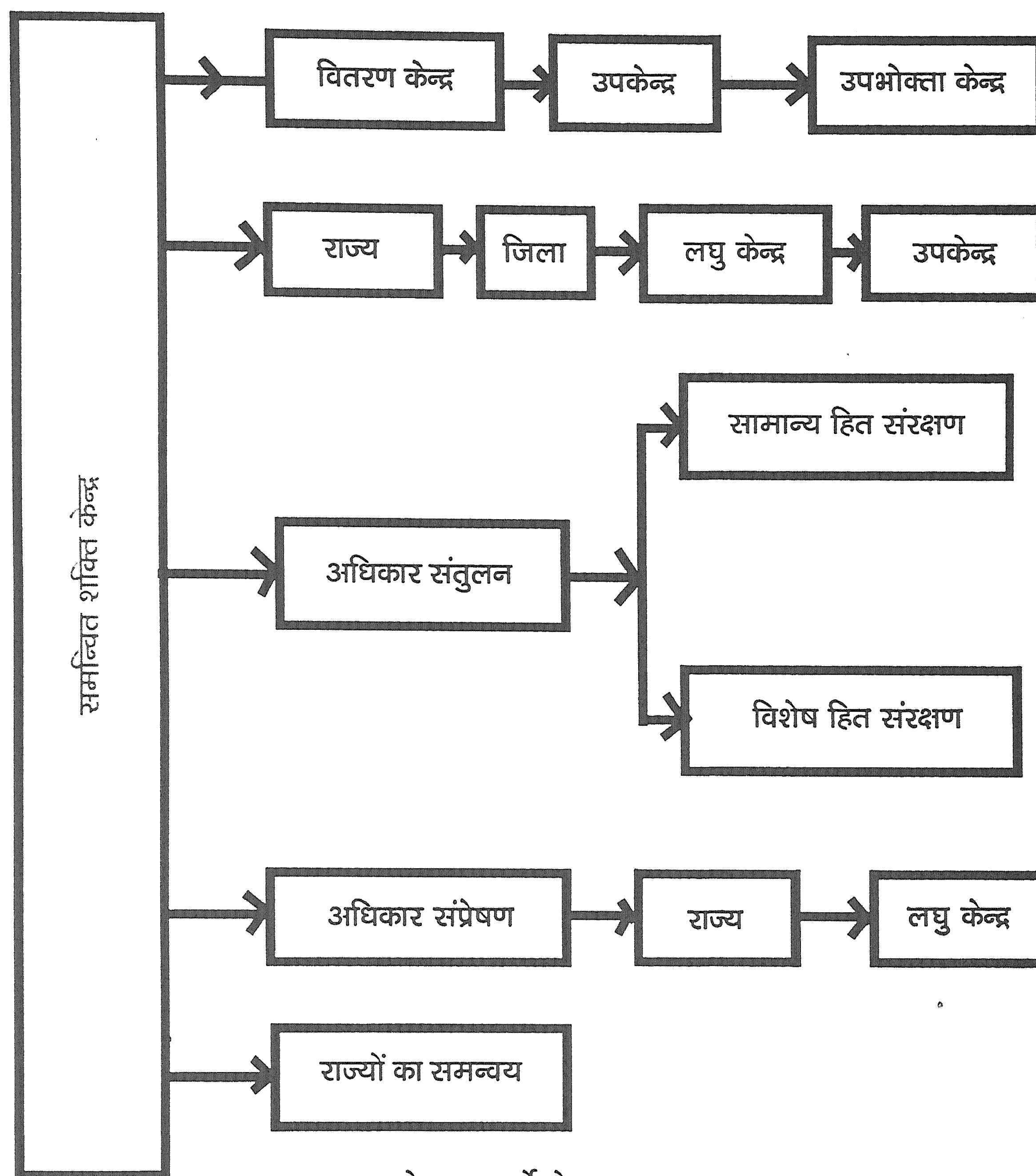
उपरोक्त चार्ट से यह स्पष्ट हो जाता है, कि हित ग्रहण क्षेत्र एवं हित संवर्धन जिसे वितरण व्यवस्था द्वारा समन्वित किया जाता है, में जनता केवल, लाभ के औजार के रूप में कर्य करती है । निर्णय प्रक्रिया में उसकी कोई भूमिका नहीं होती । बाजार अर्थ–व्यवस्था में जनता की भूमिका उपभोक्ता की हैसियत से होती है, और उपभोक्ता उत्पादन की ग्रहणशीलता का चुनाव करता है, राजनीतिक क्षेत्र में यही चुनाव का अधिकार कहलाता है ।

किसी भी स्थापित राजनैतिक व्यवस्था में शक्ति वितरण और शक्ति समन्वय को समवेत दृष्टि से देखा जाना चाहिऐ । समन्वित शक्ति केन्द्र है, विरीत शक्ति राज्य है । शक्ति का पुनर्वितरण शक्ति के लघु केन्द्र निर्मित करता है । जिस प्रकार विघुत प्रेषण में, विद्युत उत्पादन गृह से प्रेषण कर विद्युत को माध्यम केन्द्र उपकेन्द्र के द्वारा उपभोक्ता तक पहुंचाया जाता है, उसी प्रकार समन्वित शक्ति को, शक्ति अंतरण की प्रक्रिया के माध्यम से प्रशासन के लघुत्तम केन्द्र तक पहुंचाया जाता है ।

परन्तु यह बात ध्यान रखने योग्य है कि विद्युत प्रेषण की तरह शक्ति अंतरण की यह प्रक्रिया एक मार्गी है, द्विमार्गी नहीं । लघुत्तम केन्द्र पर जाकर शक्ति समाप्त होती है। पुनः उत्पादन प्रक्रिया की ओर नहीं बढ़ती हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शक्ति का स्रोत हित है । अतः केन्द्र राज्य विवाद मूलतः हित संग्रहण की प्रक्रिया में हैं । हित अंतरण की प्रक्रिया में नहीं हैं । क्योंकि क्षेत्रीय हित समूह जो क्षेत्रीय दलों के रूप में उभर कर सामने आते हैं । मूलतः अलग सत्ता केन्द्र की मांग करते हैं । परन्तु अलग सत्ता केन्द्रों में अलग शक्ति संग्रहणों की प्रक्रिया होती हैं । ये प्रक्रियाऐं एक दूसरे से मेल नहीं खातीं । यही तनाव का मूल कारण है, जो केन्द्र राज्य विवाद बनकर उभरता है । अतः राज्य संबंधों में तनाव मूलतः दो विपरीत सत्ता केन्द्रों की अधिसत्ता वाले हित संग्रहण क्षेत्रों की टकराहट है । इसे निम्नलिखित चार्ट से समझा जाता है ।

चार्ट क्रमांक - 3
अधिकार अंतरण एक मार्गी प्रेषण



योजना कार्यो हेतु

उपरोक्त चार्ट से यह स्पष्ट हो जाता है, कि शक्ति वितरण की तीनों प्रक्रिया अंतरण, समन्वय एवं संतुलन एक मार्गी है । जो परिधि को केन्द्र से जोड़े रखती हैं । जहाँ केन्द्र और परिधि का सवाल उत्पन्न होता है, वहाँ पर संघीय राज्य की कल्पना करना व्यर्थ है । भारतीय संविधान की मूल भावनाओं के अनुसार राज्यों का शक्ति स्रोत स्वयं केन्द्र ही है । इसे अनुच्छेद 249 के द्वारा अधिक स्पष्ट समझा जा सकता हैं – "इस राज्य

सभा ने उपस्थिति और मत देने वाले कम से कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा घोषित किया है, कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि संसद राज्य सूची में प्रगणित ऐसे विषय के संबंध में जो उस संकल्प में विनिर्दिष्ट है, विधि बनाऐ तो जब तक वह संकल्प प्रवृत्त है, संसद के लिऐ उस विषय के संबंध में भारत के संपूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिऐ विधि बनाना विधि पूर्ण होगा।"[1]

यह तथ्य अब यदि प्रखर हो जाता है, जब अनुच्देद 245 (1) और 245 (2) की मूल भावना को देखा जाऐ –"इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुऐ संसंद भारत के संपूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिऐ विधि बना सकेगी और किसी राज्य का विधानमण्डल संपूर्ण राज्य या उसके किसी भाग के लिऐ विधि बना सकेगी।"

"संसद द्वारा बनाई गई कोई विधि इस आधार पर अधिमान्य नहीं समझी जाऐगी कि उसका राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन होगा।"[2]

इसे अनुच्छेद 248 के साथ रखकर देखा जाऐ तो कुछ और ही तथ्य सामने आते हैं।

"संसद को किसी ऐसे विषय के संबंध में जो समवर्ती सूची या राज्य सूची में प्रगणित नहीं है विधि बनाने की शक्ति है।" एवं

"ऐसी शक्ति के अन्तर्गत ऐसे कर के अधिरोपण के लिऐ जो उन सूचियों में से किसी में वर्णित नहीं है, विधि बनाने की शक्ति हैं।"[3]

उपर्युक्त तीनों अनुच्छेदो को देखने से यह ज्ञात होता है, कि इस संसद के पास टकराहट की स्थिति में अंतिम निर्णायक शक्ति प्राप्त है । यहां ब्रिटिश परिपाटीका संवहन किया गया है, जहां पर ब्रिटिश संसद पुरूष को स्त्री को पुरूष बनाने के अलावा अन्य सभी कार्य विधायी दायित्व में ले सकती हैं । यही कारण है कि ब्रिटेन की सर्वोच्च न्यायपालिका संसद से जुड़ी हुई है जो उसे नियंत्रण की शक्ति प्रदान करती है । परन्तु भारतीय संसद की नियमन शक्ति को संविधान के अनुच्छेद 131 के अधीन न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार दिया गया है। जिसका तात्पर्य यह है, कि भारतीय संसद, ब्रिटिश संसद सरीखी सर्व शक्तिमान नहीं है । वस्तुतः व्यवहार में संसद बहुमत दल की अनुगायी होती है, अतः अनुच्छेद 245, 248, 249 की समस्त शक्तियां वस्तुतः केन्द्र में सत्तारूढ़ बहुमत दल की कहती

---

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद 249
2. **भारतीय संविधान,** अनु0 245 (1) और 245 (2)
3. **भारतीय संविधान,** अनु0 248

है, चूंकि यह सत्तारूढ़ दल संगठित हित समूहों के प्रभाव से सत्ता में आता है अतः परोक्ष रूप से 245, 248, 249, की शक्ति इन संगठित हित समूहों की होती है, जिन्हें राष्ट्रपति पूंजी के हित समूह कहा जाता है । यदि इसे संविधान की अनुसूची 7 के सूची विभाजन के अनुसार समझा जाऐ, तो न केवल केन्द्र सूची बल्कि समवर्ती सूची के विषयों पर नियमन के अधिकार, इन राष्ट्रीय पूंजी के हितों कों प्राप्त होते हैं । अनुच्छेद 249 के खण्ड (2) के प्रावधानों को अधिक गहराई से समझने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि राज्य सूची के विषय भी संसद की परिधि के बाहर नहीं है । संविधान की अनुसूची (4) देखने पर यह ज्ञात होता है, कि राज्य सभा की संरचना में इस बात का ध्यान रखा गया है कि राष्ट्रीय हित की पूंजी के हित समूहों का सुविधा संतुलन हमेशा बना रहे । पश्चात वर्ती घटना क्रमों से यह बात प्रमाणित हो जाती है ।

अनुच्छेद 246 (3) के अनुसार "खण्ड (1) और खण्ड (2) के अधीन रहते हुऐ किसी राज्य के विधान मण्डल को सातवीं अनुसूची की सूची 2 में जिसे इस संविधान में 'राज्य सूची' कहा गया है । प्रमाणित किसी भी विषय के संबंध में उस राज्य उसके किसी भाग के लिऐ विधि बनाने की अनन्य शक्ति है।"[1]

इन प्रवाधानों को देखने पर ज्ञात होता है, कि राज्य को 7 वीं अनुसूची की सूची (2) में नियमन की शक्ति प्रदान की गई है, परन्तु अनुच्छेद 251 और 252 राज्य की नियमन शक्ति को पूर्णतः प्रभावहीन बना देते हैं। यह अनुच्छेद निम्नानुसार हैं ।

"इस संविधान के अनुच्छेद 249 और 250 की कोई बात किसी राज्य के विधान मण्डल को ऐसी विधि बनाने की शक्ति को जिसे इस संविधान के अधीन बनाने की शक्ति उसकों है, निबंधित नहीं करेगी, किन्तु यदि किसी राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधि का कोई उपबंध संसद द्वारा बनाई गई विधि के जिसे उक्त अनुच्छेदों में से किसी अनुच्छेद के अधीन बनाने की शक्ति संसद को है, किसी उपबंध के विरूद्ध है तो संसद द्वारा बनाई गई विधि अभिभावी होगी चाहे वह राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधि से पहले या बाद में पारित की गई हो और राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधि उस विरोध की मात्रा तक अपरिवर्तन शील होगी किन्तु ऐसा तभी तक होगा, जब तक कि संसद द्वारा बनाई गई विधि प्रभावी रहती है,[2] एवं

यदि किन्हें दो या अधिक राज्यों के विधान मण्डलों को यह वांछनीय प्रतीत होता है, कि उन विषयों में से जिनके संबंध में संसद को अनुच्छेद 249 और 250 में उपबंधित के सिवाय, राज्यों के लिऐ विधि बनाने की नहीं है, किसी विषय का विनियमन ऐसे राज्यों में संसद विधि द्वारा करे और यदि उन राज्यों के विधाम मण्डलों के सभी सदन

1. **भारतीय संविधान,** अनु0 246 (3)

2. **भारतीय संविधान,** अनु0 24

उस आशय के संकल्प पारित करते हैं, तो उस विषय का तदनुसार विनियमन करने के लिऐ कोई अधिनियम पारित करना संसद के लिऐ विधि पूर्ण होगा और इस प्रकार पारित अधिनियम ऐसे राज्यों को लागू होगा और ऐसे अन्य राज्यों को लागू होगा, जो तत्पश्चात अपने विधानमण्डल के सदन द्वारा या जहां दो सदन है वहां दोनों सदनों में से प्रत्येक सदन द्वारा, इस निमित्त पारित संकल्प द्वारा, उसको अंगीकार कर लेता हैं।"[1]

आश्चर्यजनक तथ्य वह है, कि सरकारिया आयोग की प्रश्नावली के भाग (2) में इन अनुच्छेदों के संदर्भ में एक भी प्रश्न नहीं पूंछा गया है, मजे की बात यह है कि आयोग अपने प्रश्न क्रमांक 2.1 में यह मानता है कि संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के वितरण की योजना में कोई आधारभूत त्रुटि नहीं है, जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि अनुच्छेद 251 और 252 के रहते हुऐ केन्द्र ओर राज्यों के बीच सत्तावितरण संभव है, जो कि पूर्णतः भ्रांतिपूर्ण है । अनुच्छेद 253, अनुच्छेद 246 के अधिकार और संकुचित कर देता है । और संपूर्ण शक्तिसंग्रहण संसद में अभिकल्पित किया गया है । यह अनुच्छेद निम्नानुसार हैं–

"इस अध्याय के पूर्वगामी उपबंधों में किसी बात के होते हुऐ भी, संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथ ही गई किसी संधि, करार या अभिसमय अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मलेन, संगम या अन्य निकाय में किऐ गऐ किसी विनिश्चय के कार्यान्वयन के लिऐ भारत् के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिऐ कोई विधि बनाने की शक्ति हैं।"[2]

अतः ऐसी परिस्थितियों में केन्द्र और राज्यों के बीच शक्ति वितरण संभव नहीं है, संविधान की भूल भावना ही राज्यों को केन्द्र का अभिकर्ता निर्मित करने की रही है, यही कारण है, कि राज्य की प्रबन्धक शक्ति जिस पद में सौंपी गई है, वह राज्यपाल का पद केन्द्र द्वारा सीधी नियुक्ति से भरा जाता है और राज्यों को राज्यपाल के चुनाव में कोई अधिकार नहीं दिया गया है । और यह व्यक्ति न केवल सामान्य परिस्थितियों बल्कि असामान्य परिस्थितियों में कार्यो का संचालन प्रत्यक्ष रूप से कर सकता है । संविधान का अनुच्छेद 356 –

(1) यदि राष्ट्रपति का, किसी राज्य से राज्यपाल का रिपोर्ट मिलने पर या अन्यथा यह समाधान हो जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसमें उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबंधों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है, तो राष्ट्रपति उदघोषणा द्वारा –

---

1. **भारतीय संविधान** अनु0 250
2. **भारतीय संविधान** अनु0 253

(a) उस राज्य की सरकार के सभी या कोई कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधान मण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियां अपने हाथ में ले सकेगा ।

(b) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधानमण्डल की शक्तियाँ संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी ।

(c) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से संबंधित इस संविधान के किन्ही

उपबंधों के प्रवर्तन को पूर्णतः या अंशतः निलंबित करने के लिऐ उपबंधों सहित ऐसे अनुषंगिक और परिणामिक उपबंध कर सकेगा जो उदघोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिऐ राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हो,[1]

इन प्रावधानों से यह स्पष्ट होजाता है कि राज्य की संवैधानिक मशीनरी के संविधान के प्रावधानों के अनुसार न चलना इस बात की संतुष्टि के लिऐ राष्ट्रपति का समाधान इस हेंतु कोई निश्चित नियम नहीं है । इस प्रकार अनुच्छेद 356 जो राष्ट्रपति और परोक्ष रूप से राज्यपाल को स्वविवेक की शक्ति प्रदान करता है, के उपबंध भारत शासन अधिनियम 1935 के भाग 3, अध्याय (4) के अनुरूप हैं ।[2]

अतः केन्द्र द्वारा नियुक्त राज्यपाल आजादी के बाद के संघ के घटकों (राज्यों) में वही भूमिका अदा करता है, जो आजादी पूर्व का प्रांत का गवर्नर ब्रिटिश प्रांतों के एकीकृत शासन व्यवस्था में अदा करता था अतः राज्यों की कार्यपालिक शक्ति और अधिक नियंत्रित की गई हैं ।

केन्द्र द्वारा राज्यों को समय समय पर निर्देश देने की प्रवृत्ति यह स्पष्ट दर्शाती है, कि राज्यों की स्वायत्तता संविधान में कहीं भी अभिप्रेत नहीं है, केवल विधायी शक्ति का दे देना और संविधान की अनुसूची 7 में सूची (2) का जोड़ा जाना इस तथ्य को प्रमाणित नहीं करता कि भारत के राज्य अमेरिका ओर स्विट्जरलैण्ड की भांति स्वायत्त हैं ।

संविधान में राज्यों को पृथक दर्जा केवल इस हेतु दिया गया है, कि एक केन्द्र से इतने विशाल देश का शासन चलाना संभव नहीं है । अतः भारत के राज्य शासन के केन्द्र हैं सत्ता या शक्ति के नहीं । केन्द्र राज्य संबंधों को समझने का एक पृथक दृष्टिकोण यह भी है, अतः सार रूप में केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव के संवैधानिक कारण

1. **भारतीय संविधान** अनु0 356
2. **भारत शासन अधिनियम,** 1935

निम्नलिखित कहे जा सकते हैं ।

(1) संविधान द्वारा राज्यों के पृथक सत्ता केन्द्रों की कल्पना न की जाना ।

(2) सत्ता शक्ति और अधिकारों के बीच संविधान द्वारा निर्मित भ्रम जिसके द्वारा अधिकार को शक्ति कहा गया है, वस्तु स्थिति ऐसी नहीं होती ।

(3) केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के बीच भ्रांति । यह कहना भ्रांतिपूर्ण है, कि शक्ति विकेन्द्रित हो सकती है। वस्तुतः जो विकेन्द्रित किऐ जा सकते हैं, वे अधिकार होते हैं, परन्तु शक्ति अधिकारों को समन्वयकारक होने की कारण कभी भी विकेन्द्रित नहीं होती।

4) हित राजनीति पर निर्मित राजनीतिक व्यवस्था का वास्तविक आकलन न किया जाना, जिसके कारण क्षेत्रीय हित समूह विकास के नाम पर सत्ता जुड़े होते हैं, परन्तु वास्तविक टकराव क्षेत्रीय और राष्ट्रीय हितों के बीच उनकी हित अर्जन पद्धति में है । अतः एक क्षीण संघवाद में जहां प्रारंभ से ही शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की गई हो, क्षेत्रीय हित समूहों के अस्तित्व के कारण, केन्द्र राज्य विवाद निरंतर बना रहेगा ।

1 केन्द्र राज्य संबंधों में तनाव के राजनैतिक व व्यावहारिक कारण -

भारत का संघ राज्य, विश्व के अन्य संघ राज्यों से भिन्न हैं, क्योंकि जहां अन्य संघ राज्य स्वतन्त्र या सम्प्रभु राज्यों की इकाईयों से मिल कर बने हैं वहां भारत का संघ राज्य ऐसे प्रान्तों को मिलाकर बनाया गया है जो वर्षो से अंग्रेजी शासन के अधीनता में एक ही केन्द्रीय शासन के विभिन्न प्रादेशिक इकाईयों के रूप में रहे हैं । स्वतन्त्र सत्ता कभी प्राप्त ही न थी । वे राज्य नहीं थे बल्कि प्रान्त थे, और सारे देश की शासन व्यवस्था प्रायः एकात्मक और संघात्मक शासन के बीच एक ऐसी ढुलमुल व्यवस्था थी जिसकी सही व्यवस्था राजनीति की परिभाषा में नहीं की जा सकती थे । अमर नंदी ने लिखा कि है "विशाल मूर्ति की तरह केन्द्र ही सारे रंगमंच पर छाया रहता हैं।"[1]

केन्द्र राज्यों के बीच क्या सम्बन्ध हो, इस पर भारतीय संविधान के भाग 11 और 12 में धारा 245 से लेकर 300 तक विचार किया गया हैं । भारत एक संघ राज्य हैं, इस लिये केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बन्धों को संविधान में विस्तार से दिया गया हैं। संविधान निर्माण के समय इस बात पर विशेष जोर दिया गया था कि केन्द्र ओर राज्यों के बीच सम्बन्ध इस प्रकार का हो कि देश की अखण्डता और राष्ट्रीय भावना को सुदृढ रखा जा सके ।

---

1. **द्रसेन्टर डोमिनेट्स द सीन लाइक ए कोलोससद्र** अमर नंदी, कॉस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया पृ0सं0 19

नेहरू युग अर्थात चतुर्थ आम चुनावों के पूर्व केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध मधुर थे । कालावधि में देश के राजनैतिक क्षितिज पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था और केन्द्र एवं राज्यों के बीच संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारतीय राजनीति में एक नया मोड आया, कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त हुआ और अनेक राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की सरकारें बनी । ये गैर–कांग्रेसी दलों की सरकारें केन्द्रीय सरकार को अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखने लगीं । उनका यह दृष्टिकोंण रहा कि केन्द्र की कांग्रेसी सरकारें राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों को पदच्युत करना चाहती हैं ।

चतुर्थ आम चुनावों के फलस्वरूप लोकसभा में कांग्रेस दल का संख्या बल काफी घट गया, सत्तरह में से सात ही राज्यों मे गैर–कांग्रेसी सरकारों बनी और क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक दलों का अभ्युदव हुआ । क्षेत्रीय दलों का ध्येय अपनी शक्ति में वृद्धि करना और केन्द्रीय सत्ता को दुर्बल करना रहा । गैर–कांग्रेसी दलों के मुख्यमंत्री तो सदैव छोटी–छोटी बातों को तूल देने लगे और केन्द्र के विरूद्ध बार–बार शिकायतें प्रस्तुत करने लगे । वस्तुतः केन्द्र और राज्यों के मध्य तनाव, संघर्ष और मतभेद के युग का सूत्रपात हुआ । केन्द्र राज्य संघर्ष के प्रमुख विषय इस प्रकार थे–

(1)- कानून और व्यवस्था

कानून और व्यवस्था बनाये रखना राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आता हैं । अनुच्देद 256 एवं 257 के अनुसार सार्वजनिक व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर भी हैं । केन्द्रीय सरकार इस संबंध में राज्यों को निर्देश दे सकती हैं। इस हेतु केन्द्रीय सरकार राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेज सकती हैं। 18 सितम्बर 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिये केन्द्र ने राज्यों को आदेश दिया । किन्तु केरल के संयुक्त मोर्चा सरकार के मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने केन्दीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कह कर उसे मानने से इन्कार कर दिया । 1968 में ही पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिये, जिसे पश्चिमी बंगाल के उपमुख्यमंत्री ज्योति बसु ने राज्य के मामलों में केन्द्रीय हस्तक्षेप कहा । केरल और पश्चिमी बंगाल की संयुक्त मोर्चा की सरकारों की अनुत्तरदायित्वपूर्ण नीतियों को देखते हुये केन्द्रीय सरकार ने प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिऐ केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को भेजा जिसे दोनों ही सरकारों ने अनुचित कदम बताया । दिसम्बर 1971 में तमिलनाडू के सिम्पसन औद्योगिक प्रतिष्ठान में हड़ताल हुई और केन्द्रीय मुख्यमंत्री सुब्रम्हमण्यम ने मजदूरों की मांग के औचित्य को स्वीकार किया तो तमिलनाडू के मुख्यमंत्री ने आरोप लगाया कि केन्द्र राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप कर रहा हैं ।

(2).राज्यपालों का आचरण :-

राज्यपालों के अधिकार क्षेत्र को लेकर भी केन्द्र राज्य सम्बन्धों में तनाव उपस्थित हुये हैं । गैर–कांग्रेसी सरकारें बराबर यह आरोप लगाती रही हैं कि केन्द्र राज्यपालों के माध्यम से गैर–कांग्रसी सरकारों को पदच्युत कने में लगा हुआ हैं । गैर–कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों का यह कहना भी था कि उनके राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श लिये जाने की परम्परा का केन्द्र पालन नहीं कर रहा हैं । राज्यपाल धर्मवीर की भूमिका को लेकर पश्चिमी बंगाल और केन्द्रीय सरकार के मध्य विवाद इतना उग्र हो गया कि अन्ततः राज्यपाल को स्थानान्तरित करना पड़ा ।

(3). वित्तीय क्षेत्रों में मतभेद :-

चतुर्थ योजना के स्वरूप को लेकर केन्द्र और राज्यों के बीच मतभेद रहा । गैर–कांग्रेसी सरकारों की मांग थी कि राज्य सरकारों को योजना बनाने और औद्योगिक दायित्वों का निर्वाह करने के लिये अधिक अधिकार दिये जायें । राज्यों द्वारा केन्द्रीय अनुदान व्यवस्था और ऋण प्रणाली के बारे में भी असंतोष प्रकट किया गया । राज्यों का कहना था कि केन्द्र द्वारा अनुदान व्यवस्था के स्थान पर उन्हें सीधें साधन प्रदान किये जाये क्योंकि संघ द्वारा विशेष अनुदान की व्यवस्था से गैर–कांग्रेसी सरकारों पर दबाव डाला जाता हैं ।

(4)-अंतर्राज्यीय विवाद :-

अन्तर्राज्यीय विवादों में बेलगांव के प्रश्न पर महाराष्ट्र और कर्नाटक का विवाद चण्डीगढ़ पर हरियाणा और पंजाब का विवाद, नर्मदा नदी के पानी के उपयोग पर राजस्थान गुजरात और मध्यप्रदेश का विवाद, फाजिल्का और अबोहर पर पंजाब और हरियाणा का विवाद कड़ाणा बांध के निर्माण पर गुजरात और राजस्थान का विवाद, तमिलनाडू, आन्ध्रप्रदेश और कर्नाटक के बीच कावेरी जल विवाद के कारण केन्द्र, राज्यों में आपसी विवाद में फैसला करता है । गैर–कांग्रेसी सरकारें यह आरोप लगाती हैं कि केन्द्र उन राज्यों का पक्ष लेता है जहां पर कांग्रेसी सरकारें कार्य करती हैं ।

(5).राज्य सूची के विषयों पर केन्द्रीय हस्तक्षेप :-

राज्यों द्वारा यह भी शिकायत की गई हैं कि केन्द्र, उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य जैसे विषयों पर कानून बनाने लग गया हैं जबकि ये विषय राज्यसूची में उल्लिखित

हैं । सन् 1951 में संसद में उद्योग, विकास एवं नियंत्रण अधिनियम पारित किया गया, जिसमें उन उद्योगों का उल्लेख किया गया जिनकों जनहित में केन्द्र द्वारा नियंत्रित करना आवश्यक था । धीरे–धीरे अनेक उद्योगों को इस अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया । इस प्रकार राज्य सूची में वर्णित 24,26 तथा 27 संख्या वाले विषयों पर केन्द्र का अधिकार स्थापित हो गया । यही नहीं, रेजर पत्ती कागज, गौंद, जूते, माचिस, साबून, आदि विषयों पर भी केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया । राज्यों के नेताओं का कहना है कि इस प्रकार के अत्याधिक केन्द्रीयकरण से राज्यों का आर्थिक विकास अवरूद्ध हो रहा हैं ।

6.आवश्यक वस्तुओं पर केन्द्रीय नियंत्रण :-

दैनिक उपयोग की आवश्यक वस्तुयें जैसे, शक्कर, मिट्टी का तेल, चावल वनस्पति आदि केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में आ गये है । अनेक राज्य सरकारों का कहना है कि केन्द्रीय सरकार इन वस्तुओं के वितरण में राजनीतिक लक्ष्यों को ध्यान में रखती है । गैर–कांग्रेसी को अनाज, चावल, शक्कर आदि का अधिक कोटा लेने के लिये प्रदर्शनों का आयोजन करना पड़ता हैं । केन्द्र उन राज्यों को अधिक मात्रा में कोटा देता हैं जहां कांग्रेस दल की सरकारें हैं ।

कांग्रेस संघ के कुछ राज्यों ने तो समय समय पर केन्द्र का डट कर विरोध करना अपनी नीति बना लिया था । चतुर्थ आम चुनावों के बाद केरल, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडू की गैर–कांग्रेसी सरकारों ने केन्द्र का लगातार उग्र विरोध करते हुये अपनी असफलताओं को छिपाने का प्रयास किया गुजरात की जनता मोर्चा सरकार ने तो आपातकालीन स्थिति में केन्द्रीय निर्देशों की कई बार उपेक्षा की । डी. एम. के (द्रविड मुनेत्र कडगम) ने राज्यों में एन0 सी0 सी0 को भी विघटित करके राज्य के लिये अलग झण्डे की मांग करने, त्रिभाषा फार्मूले को रद्द करने, आल इण्डिया रेडियो के समय–परिवर्तन की मांग करने में सदैव केन्द्र का ही विरोध किया । ऐसा कहा जाता है कि जब भी डी0 ़एम0 के0 के नेता संकट में होते है राज्य के आक्रोश को केन्द्र के विरोध हेतु मोड़ देते हैं ।

भारतीय संघ में केन्द्र-राज्य प्रशासनिक और राजनैतिक सम्बन्ध

संघात्मक शासन व्यवस्था की सबसे कठिन समस्या संघ तथा राज्यों के प्रशासनिक सम्बन्धों का समायोजन करना हैं । यदि संविधान में तत्सम्बन्धी स्पष्ट तथ्य उपलब्ध न हों तो दोंनों को अपना दायित्व निभाने में कठिनाई का अनुभव होता हैं । इसलिये भारतीय संविधान–निर्माताओं ने इस सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्धों की आवश्यकता अनुभव की ताकि प्रशासनिक क्षेत्र में संघ तथा राज्यों मे मध्य किसी प्रकार के विवाद उत्पन्न न हों

प्रशासनिक संबंध सवैधानिक परिप्रेक्ष्य में :-

भारतीय संविधान में ग्यारहवें भाग के दूसरें अध्याय में केन्द्र तथा राज्यों कें बीच प्रशासनिक सम्बन्धों की चर्चा की गयी हैं । संविधान के अनुच्छेद 73 के अनुसार केन्द्र की प्रशासकीय शक्ति उन विषयों तक सीमित हैं जिन पर संसद को विधि निर्माण का अधिकार प्राप्त हैं । इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 162 के अनुसार, राज्यों की प्रशासकीय शक्तियां उन विषयों तक सीमित हैं जिन पर राज्य विधानसभाओं को कानून बनाने का अधिकार हैं । समवर्ती सूची के विषयों के सम्बन्ध प्रशासनिक अधिकार साधारणतया राज्यों में निहित हैं किन्तु इन विषयों के सम्बन्ध प्रशासनिक अधिकार साधारणतया राज्यों में निहित हैं, किन्तु इन विषयों पर राज्य की प्रशासकीय शक्तियों को संघ की ऐसी प्रशासनिक शक्तियों द्वारा सीमित रखा गया है जो या तो संविधान द्वारा या संसदीय विधि द्वारा प्रदत्त हैं ।

प्रशासनिक सम्बन्धों में केन्द्र को राज्यों के ऊपर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्रदान किया गया हैं, किन्तु इसके बावजूद राज्यों को स्वायत्ता एवं जिम्मेदारी का बड़ा क्षेत्र मिला हुआ हैं । फिर भी, कुछ विद्वानों को महसूस होता हैं कि इन सम्बन्धों ने राज्यों की स्वायत्तता को कम किया हैं, क्योंकि एक ही दल का बोलवाला हैं, और राज्यों के मुकाबले एक अत्यन्त शक्तिशाली संस्था के रूप में केन्द्रीय कार्यपालिका का उदय हुआ है, तथा केन्द्र को अधिकार मिल गयें हैं ।

राज्यों के उपर संघीय नियन्त्रण की विधियां - संविधान के अन्तर्गत संघीय तथा राज्यों के प्रशासकीय सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता हैं कि राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से संघीय सरकार को राज्यों के सम्बन्ध में कतिपय प्रशासकीय शक्तियां प्राप्त है जो निम्नवत् हैं ।

(i)राज्यों का दायित्व :- संविधान के अनुसार राज्यों को अपनी कार्यपालिका शक्ति का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे संसद के कानूनों का पालन होता रहे । हर राज्य का यह कर्तव्य हैं कि वह संसद के कानूनों को अमल में लाने के लिऐ हर सम्भव उपाय काम मेंलाये । राज्यों का यह भी दायित्व हैं कि वे केन्द्रीय प्रशासन में कोई बाधाउत्पन्न न होने दें ।[1]

(ii) केन्द्र सरकार राज्यों को निर्देश दे सकती हैं :- केन्द्र को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों को यह निर्देश दे सके कि उन्हें अपनी कार्यकारी शक्ति का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए । राष्ट्रीय व सैनिक महत्व के मार्गो व पुलों आदि का निर्माण साधारणतथा केन्द्रीय सरकार ही करती हैं । परन्तु केन्द्र को यह अधिकार प्राप्त है कि

---

1. **भारतीय संविधान**, धारा 257
2. **भारतीय संविधान**, धारा 256

इस प्रकार के मार्गो के निर्माण व उनके उचित रख–रखाव के लिए वह राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकें इसी प्रकार रेल मार्गो तथा रेलगाड़ियों की सरुक्षा के लिऐ भी निर्देश जारी किये जा सकते हैं ।[2]

(iii) केन्द राज्यों की सरकारों का उपयोग अपने एजेण्ट के रूप में कर सकता हैं । राष्ट्रपति राज्यों की सरकारों अथवा उसके पदाधिकारियों को अपने एजेण्ट के रूप में कोई भी कार्य करने की जिम्मेदारी सौंप सकता हैं । इसका अभिप्राय यह है कि संघ सूची में दिये गये किसी भी विषय से सम्बन्धित कोई भी कार्य राज्यों के पदाधिकारियों को सौंपा जा सकता हैं ।

(iv) सरकारी कृत्यों अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाही को पूरी मान्यता दी जायेगी :- केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार दोनों का यह कर्तव्य है कि वे सभी सरकारी कृत्यों का आदर करें और देश के सभी न्यायालयों द्वारा दिये गये अन्तिम निर्णयों को लागू करें।

(v) दो या अधिक राज्यों में बहने वाले जलाशयों व नदियों के जन का बंटवारा :- ससंद को यह अधिकार है कि अन्तर राज्यीय नदियों के बंटवारे से उत्पन्न विवाद को निपटाने के लिऐ वह उचित कानून बनायें । या नियंत्रण सम्बन्धी विवाद के सिलसिले में मध्यस्थता की व्यवस्था कर सकती हैं। संसद, सर्वोच्च न्यायालय या किसी अन्य न्यायालय को इस प्रकार के विवादों पर विचार करने से रोक सकती हैं । यह एक महत्वपूर्ण अधिकार हैं और उसके इस्तेमाल कृषि एवं औघोगिक विकास के लिऐ पानी और बिजली जैसी सुविधाओं की व्यवस्था के लिए किया जा सकता हैं । साथ ही इसका उपयोग दामोदर घाटी निगम जैसी बहु उद्देशीय परियोजनाओं के लिए किया जा सकता हैं ।

(vi) अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना :- संविधान राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि वह एक अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना करें[1] जिसके निम्नलिखित तीन विशेष कार्य होंगे ।

1– राज्यों के बीच उठ खड़े होने वाले विवादों की जांच करना तथा उनके सम्बन्ध में सलाह देना,

2– उन विषयों पर छानबीन कर विचार करना जिनमें राज्यों की एक समान दिलचस्पी हों,

3– इन विषयों, और विशेषकर इनसे सम्बन्धित नीति एवं कार्य के बेहतर समन्वय के सम्बन्ध में सिफारिशें करना । राष्ट्रपति इस परिषद् के संगठन और प्रक्रिया को निर्धारित एवं इसके कर्तव्यों को परिभाषित कर सकता हैं ।

---

1 **भारतीय संविधान,** धारा 263

(vii) अखिल भारतीय सेवाएं :- संघ द्वारा राज्यों को नियंत्रित करने का एक महत्त्वपूर्ण तरीका हैं अखिल भारतीय सेवाएं । यद्यपि राज्यों और केन्द्र की पृथक सेवाऐं और लोक सेवा आयोग है, फिर भी संविधान अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना के लिए संघकों अधिकार देता हैं । संघ को इन सेवाओं के सदस्यों को राज्यों के महत्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर रखने का अधिकार होता है।

(viii) राज्यपाल :- राज्यों के राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और एक प्रकार से वे राज्यों में केन्द्र के एजेण्ट के नाते कार्य करते हैं । उनके माध्यम से केन्द्रीय सरकार राज्यों के शासन पर अंकुश रख सकती हैं ।
इनके अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी विषय हैं, जिनका सम्बन्ध यद्यपि दोनों सरकारों से हैं तथापि जिनका निर्धारण केन्द्रीय सरकार ही करती हैं । उदाहरण के लिए, निर्वाचन, लेखा, परीक्षण आदि ।

राज्यों की स्वायत्तता में कमी :- संक्षेप में, संविधान केन्द्रीय कार्यपालिका के प्रबल्य का प्रावधान करता हैं । हपकी और शर्मा की दलील हैं । कि संघीय प्रशासकीय सम्बन्धों की क्रिया के कारण राज्यों की स्वायत्तता में इतनी कमी आ गयी है कि संघीय राजतन्त्र 3के सहकारी स्वरूप पर अधित पहुंचा है ।

केन्द्र - राज्य विवादास्पद क्षेत्र : कतिपय प्रशासनिक और राजनैतिक मामले

अपने प्रारम्भिक वर्षो में भारतीय संघ व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी, केन्द्र–राज्य सहयोग ज्यों–ज्यों संविधान और संघ प्रणाली प्रौढ़ होती गयी त्यों त्यों उसमें दरारें दिखने लगी और आज ऐसे मुद्दे प्रशासनिक तौर से दिखाई देते हैं जहां केन्द्र और राज्यों में मतभेद की झलक मिलती हैं ।

चतुर्थ आम चुनाव (1967) से पूर्व नेहरू युग में केन्द्र और राज्यों के संबंध में "मधुर" कहे जा सकते है । इस कालावधि में देश के राजनीतिक क्षितिज पर कांग्रेस दल का एकाधिकार था और केन्द्र व राज्यों के बीच संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न नहीं हुई । केन्द्र – राज्य विवाद को "कांग्रेस दल के अन्तरंग का मामला" समझा जाता था और उसका निराकरण उसी प्रकार खोजा जाता था, जैसे किसी पारिवारिक विवाद का हल खोजते हैं । नेहरू जैसे करिश्माती व्यक्ति के आगे तो छोटे–मोटे विवादों का हल खोजना कोई मुश्किल भी नहीं था ।[1] किन्तु यह अभिप्राय नहीं है कि उस युग में मतभेद के कोई मुद्दें नहीं होते थे । हम सभी जानते हैं कि राज्यों के कतिपय शक्तिशाली मुख्यमंत्री तो कभी कभी दबाव की भाषा में ही बात करते थे । पश्चिमी बंगाल में तात्कालिक मुख्यमंत्री

1. **इकबाल नारायण,** पोलिटिकल चेन्ज इन इंडिया 1967, 71 पृ0सं0 92–93

डा0 वी0 सी0 राय ने, दामोदर घाटी कारपोरेशन (डी. वी. सी.) के मामले पर कितना दबावपूर्ण और उग्र रूख अपनाया था ।[1] भारत में पनपी कांग्रेस व्यवस्था अथवा "एक" दल प्रधान व्यवस्था के विशेषता थी परामर्श और सर्वानुमति की विधि और इस विधि के माध्यम से मतभेदों को उग्र रूप धारण नहीं करने दिया जाता था । डॉ0 इकबाल नारायण के शब्दों में, ऐसा लगता है मानों संघ व्यवस्था एकात्मक दलीय ढांचे के अन्तर्गत कार्यरत थी और यह आश्चर्य की ही बात है कि इसने संघ व्यवस्था के विकास का मार्ग अवरूद्ध नहीं किया ।[2]

चतुर्थ आम चुनावों के बाद (और छठी एवं आठवीं लोकसभा एवं उसके बाद राज्य विधान सभाओं के चुनावों के बाद) भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आया । अब संघ प्रणाली का क्रियान्वयन "एक–दल प्रधान ढांचे" के बजाय "बहुदलीय प्रतियोगी राजनीति" के ढांचे में होने लगा । चतुर्थ आम चुनावों के बाद सरकारें बनी । ये गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार को अविश्वास और शंका की दृष्टि से देखने लगी । इसी कालावधि में कई राज्यों में क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक दलों का अभ्युदय हुआ । क्षेत्रीय दलों का ध्येय अपनी शक्ति में वृद्धि करना और केन्द्रीयसत्ता को दुर्वल करना रहा । गैर–कांग्रेसी दलों के मुख्यमंत्री तो प्राय : छोटी छोटी बातों को तूल देने लगे और केन्द्र के विरूद्ध बार–बार शिकायतें प्रस्तुत करने लगे । वस्तुतः केन्द्र और राज्यों के मध्य तनाव और मतभेद के युग का सूत्रपात हुआ ।

संक्षेप में, केन्द्र तथा राज्यों के मध्य उठने वाले विवादस्पद राजनैतिक प्रशासनिक मुद्दे निम्नलिखित हैं :

1–राज्यपाल का पद :-

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक कार्यकारी हैं। चतुर्थ आम चुनावों के बाद राज्यपालों के अधिकार क्षेत्र, नियुक्ति के तरीके आदि को लेकर केन्द्र–राज्य मतभेद उत्पन्न हुए । गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारें बराबर यह आरोप लगाती रहीं कि केन्द्रराज्यपालों के माध्यम से उनकी सरकारों को पदच्युत करने में लगा हुआ हैं । गैर–कांग्रेसी मूख्यमंत्री का यह भी कहना था कि उनके राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करते समय उनसे परामर्श किये जाने की परम्परा का केन्द्र पालन नहीं कर रहा है। कतिपय राज्यपालों ने तो सुनिश्चित लोकतान्त्रिक अभिसमयों का भी पालन नहीं किया और ऐसा आभास मिलता था । कि उन्होनें केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट की भूमिका का निर्वाह करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली । राज्यपाल धर्मवीर की भूमिका को लेकर पश्चिमी बंगाल और केन्द्रीय सरकार के मध्य विवाद इतना उग्र हो गया कि अन्तः राज्यपाल को स्थानान्तरित ही करना पड़ा ।[3] आन्ध्र प्रदेश के तात्कालिक राज्यपाल रामलाल ने एन0टी0 रामाराव की तेलगू देशम

1. **मार्कस एफ फ्रजिदा**–वेस्ट बंगाल एण्ड फेडरेलाइजिंग प्रोसेस इन इंडिया, 1968
2. **इकबाल नारायण,** पोलिटिकल चेन्ज इन इंडिया पृ0सं0 93
3. **ओ. पी. गोयल,** इंडियाः गवर्नमेंट एंड पोलिटिक्स इन न्यू देहली, 1979 पृ0सं0 110–125

सरकार (1984) को बर्खास्त करके राज्यपाल पद को अत्यन्त हास्यापद बना दिया, जबकि विधान सभा में रामाराव को स्पष्ट बहुमत प्राप्त था । समूचे आन्ध्र प्रदेश में राज्यपाल और केन्द्र के खिलाफ जनआक्रोश जब अपनी चरम सीमा पर पहुंचा तो रामाराव की सरकार को पुनः पदासीन करना पड़ा और राज्यपाल को बेआवरू हटना पड़ा हैं ।

(2)– नौकरशाही -

नौकरशाही दूसरा प्रशासनिक विषय है जिस पर केन्द्र तथा राज्यों की बीच मतभेद दिखायी देते हैं । भारत में अखिल भारतीय सेवाओं के माध्यम से संघ सरकार राज्यों पर नियंत्रण रखती हैं । संविधान में संघ राज्य दोनों सरकारें के लिऐ अलग–अलग सेवाओं की व्यवस्था की गयी है । परन्तु ब्रिटिश शासन से विरासत में हमने एकीकृत उच्च प्रशासनिक सेवाओं की पद्धति भी प्राप्त की हैं । तदनुसार अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारी संघ तथा राज्य दोनों जगह कार्य करते हैं। संविधान में यह व्यवस्था है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा संघ और राज्यों में समान रूप से कार्य करेंगें । चतुर्थ आम चुनाव के बाद नौकरशाही के संबंध में दो प्रश्न सामने आये: पहला प्रश्न –यह था कि क्या नौकरशाही गैर –कांग्रेसी राज्य सरकारों की नीतियों का क्रियान्वयन उसी उत्साह तथा प्रतिबद्धता से कर पायेगी, जिस उत्साह से वह अब तक कांग्रेस सरकार की नीतियों का क्रियान्वयन करती हैं । यह प्रश्न वस्तुतः सरकारी कर्मचारियों की तटस्थता से जुड़ा हुआ हैं । कतिपय लोगों के मन में यह धारणा थी कि तीस वर्षो तक कांग्रेस दल के कार्यक्रमों और नीतियों को कार्यान्वित करने वाली नौकरशाही तमिलनाडू में द्रमुक–अन्ना द्रमुक, केरल में साम्यवादी दल, पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी साम्यवादी दल और पंजाब में अकाली दल की नीतियों और कार्यक्रमों का सहजता से कैसे क्रियान्वयन कर पायेगी । दूसरा सबाल नयी अखिल भारतीय सेवाओं के गठन से सम्बन्धित था । कुछ गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारों ने कहा कि अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारी केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट होते है तथा वे राज्य की नीतियों को ठीक ढंग से लागू नहीं करते हैं । कई राज्यों ने निम्नलिखित कारणों से अखिल भारतीय सेवाओं का विरोध किया प्रथम – अखिल भारतीय सेवाओं के निर्माण से राज्य सेवाओं का विस्तार रूक जाता हैं । और स्थानीय लोगों के उच्च सेवाओं में आने के अवसर कम हो जाते हैं । द्वितीय अखिल भारतीय सेवाएं राज्यों की स्वायत्तता को कम करती हैं । तृतीय अखिल भारतीय सेवाओं के कर्मचारियों का वेतन स्तर उच्च होता है जिससे राज्य की वित्तीय स्थिति प्रभावित होती है ।[1] वस्तुतः अखिल भारतीय सेवाऐं केन्द्र राज्य संबंधों में कटुता बढ़ाने का कारण इसलिए बन जाती है क्योंकि वे उनकी नियुक्ति, पदोन्नति और अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के मामलों पर केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करती हैं और राज्यों में उनके प्रति अपनत्व की भावना नहीं दिखलाई देती हैं ।

---

1. **बी० एल० माहेश्वरी** : सेन्टर सटेट रिलेशन्स इनसेवेन्टीज 1973

(3). कानून और व्यवस्था के मसलों पर राज्यों को केन्द्रीय निर्देशः-

क्या राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार के निर्देशों का पालन करना बाध्यकारी हैं ? यदि राज्य सरकारें संघीय निर्देशों को पालन न करें तो क्या व्यवस्था होगी ? यह एक विचारणीय प्रश्न हैं कि जब राज्य सीमा के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति की सुरक्षा राज्य सरकारें न कर सकें तो केन्द्रीय सरकार क्या करें ? जब राष्ट्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने रिजर्व पुलिस को कतिपय राज्यों में तैनात किया तो केरल, पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडू सरकारों ने केन्द्रों की इस शक्ति पर अपत्ति उठायी और इससे केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों में कटुता आयी । 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को एक अध्यादेश द्वारा वांछित निर्देश प्रदान किये । केरल की साम्यवादी सरकार ने केन्द्रीय अध्यादेश को संविधान विरोधी और श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया । ऐसी गंभीर स्थिति में जब राज्य में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस तैनात की गयी तो केन्द्र राज्य संबंध का उग्रतम रूप उभरने लगा । मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने आरोप लगाया कि राज्य में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस का आगमन राज्य के आन्तरिक मामलों में सरासर हस्तक्षेप हैं ।

वस्तुतः केन्द्र का यह संवैधानिक अधिकार है कि वह कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए, केन्द्रीय प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिए केन्द्रीय रिजर्व पुलिस राज्यों में तैनात करें । किन्तु वे राज्य सरकारें जो केन्द्र में सत्तारूढ़. दल से मेल नहीं खाती, इसे राज्य के आन्तरिक मामलों में अनूचित हस्तक्षेप कहकर केन्द्र–राज्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती हैं ।

(4)– आर्थिक नियोजनः-

के0 सन्थानम् के अनुसार, नियोजन व्यवस्था ने नीति और वित्त संबंधी सभी मामलों में राज्यों की स्वायत्तता को एक छाया का रूप प्रदान कर दिया है । वस्तुतः नियोजन का संघवाद पर जो प्रभाव पड़ा हैं । उसने केन्द्रीयकण को प्रोत्साहन दिया हैं । भारत में सम्पूर्ण देश, केन्द्र एवं राज्यों के लिए, योजना निर्माण का कार्य योजना आयोग करता है। यह एक केन्द्रीय अभिकरण है जिसका निर्माण केन्द्रीय मंत्रीमण्डल के एक प्रस्ताव के आधार पर हुआ हैं । इसमें, प्रधानमंत्री, कुछ केन्द्रीय मंत्री तथा विशेषज्ञ होते हैं । इसमें राज्यों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं हैं । यह नीतियों की एकरूपता पर बल देता हैं। यह आयोग समूचे देश के लिए यह मानकर योजना बनाता है कि मोटे तौर से सभी राज्यों की परिस्थितियों समान हैं । नियोजन का संबंध शासन के समस्त विषयों से हैं, चाहे वह विषय, संघ सूची का हों अथवा राज्य सूची का । राज्य सूची के विषयों पर भी योजना आयोग एक "सुपर मैन" बन गया हैं । नियोजन के परिणाम स्वरूप ही केन्द्र, व्यापार एवं

वाणिज्य जैसे विषयों पर कानून बनाने लगा, जबकि ये विषय राज्य सूची में उल्लिखित है । यही नहीं, आज रेजर पत्ती, कागज गौंद माचिस साबून जैसे विषयों पर भी केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण स्थापित हो गया हैं ।

बदले राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखा गया है कि अब राज्य योजना आयोग तथा केन्द्रीय सरकार के निर्णयों को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेते हैं । इस बात का आभास 19 व 20 अप्रैल, 1969 को दिल्ली में हुई राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक से मिलता है । राष्ट्रीय विकास परिषद के इतिहास में पहली बार कुछ राज्यों ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की । पश्चिमी बंगाल तथा केरल के मुख्यमंत्री और, दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद ने योजना को उसी रूप में स्वीकार करने से इंकार कर दिया । वस्तुतः अब अनेक राज्यों में केन्द्र की सरकार से भिन्न दलों की सरकारें होने के कारण हां मिलाने की प्रवृत्ति नहीं रही और आर्थिक नियोजन विवादास्पद मसला बनता गया ।

केन्द्र और राज्यों के बीच समायोजन के उपकरण

केन्द्र और राज्यों के मध्य विचार–विमर्श आवश्यक ही नहीं, बांछनीय भी है ? ऐसा करने से एक संघ व्यवस्था में केन्द्र व राज्यों के बीच साझेदारी की भावना बढ़ती है और सद्भाव के साथ कार्य करने के लिए निर्णय प्रक्रिया के "आगत (इनपुट)" भी बढ़ते है । यद्यपि भारत के संविधान ने केन्दीय सरकार पर बहुत सारे कार्यो का भारी भार डाला हैं, फिर भी राष्ट्र निर्माण के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यो में जैसे–कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा शान्ति व्यवस्था, आदि में केन्द्र के निर्देश राज्यों के लिए बाध्यकारी नहीं हो सके, अतः यह आवश्यक है कि केन्द्र और राज्यों के बीच विचार–विमर्श के यन्त्र विकसित किये जायें । संविधान की समवर्ती सूची में ऐसे 47 विषयों का उल्लेख हैं जिन पर केन्द्र और राज्यों दोनों ही कानून बना सकते हैं । इस सूची के विषयों के प्रशासन में केन्द्र और राज्यों के मध्य परामर्श का क्षेत्र और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बन जाता हैं ।

भारत में केन्द्र–राज्य प्रशासनिक समायोजन की दृष्टि से राज्यपाल सम्मेलन, राष्ट्रीय विकास परिषद, मुख्यमंत्री सम्मेलन, मुख्यसचिव, पुलिस महानिरीक्षक आदि महत्त्वपूर्ण हैं । उपर्युक्त में से प्रथम तीन राजनीतिक स्तर पर कार्य कर रहें हैं । प्रशासकीय स्तर पर जो सम्मेलन महत्त्वपूर्ण हैं उनमें मुख्य सचिवों का सम्मेंलन तथा विभिन्न कार्यकारी सचिवों के सम्मलेन उल्लेखनीय हैं ।

फिर भी भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसे परामर्श यन्त्रों का विकास एक नया प्रयोग हैं । यह अभी असन्तुलित और अविकसित हैं । उनका प्रयोग अधिकतर उन्हीं विषयों के लिए हुआ हैं । जो राज्य सूची में हैं । स्थूल रूप से यह कहा जा सकता

हैं कि केंन्द्र ने अपने निर्णयों को राज्यों द्वारा मनवाने के लिए ही इसका प्रयोग किया हैं ।

प्रशासकीय संघ का स्वरूप :-

भारतीय संघ व्यवस्था में प्रशासनिक एकरूपता पर बल दिया गया हैं । अमेरिका की तरह दोहरी न्याय व्यवस्था का प्रबन्ध करने के स्थान पर न्याय व्यवस्था को एकीकृत कर दिया गया हैं । अखिल भारतीय प्रशासनिक और पुलिस सेवाओं का प्रावधान किया गया । भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक के अधीन भारत की लेखो परीक्षा तथा लेखा सेवा का आयोजन हैं, जो एक केन्द्रीय सेवा हैं, किन्तु यह संघ के साथ–साथ राज्यों के व्यय का लेखा तथा परीक्षा कार्य को भी सम्पन्न करती है, निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और आयोग संसद के साथ–साथ राज्य विधानमंडलों के निर्वाचनों को भी सम्पन्न करता है । संघ तथा राज्यों के बीच अथवा दो से अधिक राज्यों के बीच विवादों का निपटारा करने के लिए संघ की स्थिति महत्वपूर्ण है। केन्द्रीय सरकार के पास समन्वयकारी शक्तियां है और क्षेत्रीय परिषदों के माध्यम से केन्द्र राज्य सरकारों की शक्तियों पर नियंत्रण रखता है संकटकालीन शक्तियों के प्रवर्तन काल में केन्द्रीय शासन को राज्यों पर सभी प्रकार के प्रशासकीय नियंत्रण प्राप्त हो जाते है । इसी कारण नारामन डी. पामर ने भारतीय संघ व्यवस्था को प्रशासकीय संघ कहकर पुकारा हैं ।[1]

केन्द्रीकरण की विद्यमान प्रवृत्ति के बावूजद भी प्रशासकीय स्वरूप वाले भारतीय संघ के घटक राज्यों के हाथों में देश के शासन का आज भी बहुत बड़ा भाग है । यद्यपि उन्हें अर्थिक संसाधनों के लिए केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है और विकास कार्यो का संयोजन भी केन्द्र करता हैं, फिर भी राज्यों में अपनी अधिकारों पर जोर देने की प्रवृत्ति हैं और देश के शासन में वे ज्यादा हाथ चाहते हैं । भारत में सरकारी नीतियों और विकास कार्यक्रमों को अमल में लाने का काम राज्य शासन का ही हैं । पाल एय0 ऐपिलबी ने ठीक ही लिखा है कि भारतीय शासन व्यवस्था ऐसी हैं कि इसमें प्रशासक के महत्वपूर्ण कार्य राज्य सरकारें करती हैं और योजनाओं की क्रियान्विति के लिए केन्द्र को उन्हीं पर निर्भर रहना पड़ता हैं । ऐसी स्थिति में राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता के समर्थकों का यह कहना कहां तक सार्थक हैं कि हमारे राज्य प्रशासनिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के अनुचर मात्र है ? हां,. यदि राज्यों के वित्तीय संसाधनों में वृद्धि के उपाय किये जाते हैं तो निश्चित ही उनकी प्रशासनिक क्षमता में वृद्धि होगी । वस्तुतः राष्ट्रपति एकता और तीव्र विकास के लिए शक्तिशाली केन्द्र और समृद्ध राज्यों के संघीय ढांचे का होना ही लाभकारी है । राज्यों

---

1. **नारमन डी. पॉलीमरः** द इंडियन पॉलिटिकल सिस्टम 1970

को महसूस करना चाहिए कि दुर्बल केन्द्र का सिद्वान्त राजनीतिक दृष्टि से आत्महत्या के समतुल्य होगा । यदि शक्ति का सन्तुलन राज्यों की तरफ झुकता जाता हैं तो राष्ट्रीय शक्ति का ही ह्वास होगा जिससे हमारी राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति शून्य उभरेगा ।

2– वित्तीय प्रावधान

प्रत्येक संघात्मक संविधान इस प्रकार की व्यवस्था करता हैं कि वित्त के सम्बन्ध में संघ–सरकार और इकाई सरकारें परस्पर स्वतंत्र रहे तथा उनके पास अपने उत्तर–दायित्वों का निर्वाह करने के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन हों ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 264 से 291 में केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों का उल्लेख हैं । केन्द्र और राज्यों में राजस्व–वितरण की व्यवस्था बहुत कुछ भारत सरकार अधिनियम, 1935 का अनुसरण ही हैं । ऐसा करते समय संविधान निर्माताओं ने किसी कठोर सिद्धांत को लागू न करके लचीलेपन के तत्वों का समावेश किया है । संविधान में बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल समय–समय पर वित्त स्थिति पर पुनर्विचार करने और संशोधन एवं परिवर्तन का सुझाव देने के लिए एक वित्त आयोग की स्थापना का उपबन्ध भी किया गया हैं । विश्व की किसी भी संघात्मक संविधान में इस तरह की कोई विस्तृत व्यवस्था नहीं पाई जाती जिसके माध्यम से संघ और इकाइयों में राजस्व वितरण का समयानुकूल समायोजन औरे वितरण होता रहे । यह व्यवस्था भारत का अपना मौलिक योगदान है जिसने केन्द्र और राज्यों के जटिल वित्तीय सम्बन्धों का एक प्रकार से सरलीकरण कर दिया है । कार्यक्षमता, पर्याप्तता और उपयुक्तता । इन तीनों उद्देश्यों की एक साथप्राप्ति कठिन कार्य हैं, अतः हमारे संविधान में समझौतावादी प्रवृत्ति अपनाई गई हैं ।। तदनुसार विषय को दो भागों में विभक्त किया गया हैं – प्रथम, संघ एवं राज्यों के मध्य राजस्व का विभाजन, एवं द्वितीय, सहायक अनुदानों का वितरण ।

संविधान की सातवीं अनुसूची में केन्द्र और राज्य सरकारों की आय के साधनों का उल्लेख किया गया है । इसकी सूची (1) में संघ–सरकार तथा सूची (2) में राज्य सरकारों का प्रावधान हैं ।

संघ एवं राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों का विवेचन निम्नांकित शीर्षकों में करना उपयुक्त होगा ।

(1)–विधि के प्राधिकार के बिना करारोपण का निषेध :-

अनुच्छेद 265 में स्पष्ट उल्लिखित हैं– "विधि के प्राधिकार के सिवाय कोई

कर न तो आरोपित और न एकत्र किया जाएगा । इसका स्वाभाविक अर्थ हैं कि कोई भी कर केवल विधि द्वारा ही आरोपित और एकत्र किया जा सकता हैं, किसी कार्यपालिका आदेश द्वारा नहीं । साथ ही कर आरोपित करने वाली विधि वैध होनी चाहिऐ अन्यथा कर भी अवैध होंगे । यदि संविधान के किसी उपबन्ध द्वारा करारोपण का निषेध हैं तो वह कर –विधि अवैध होंगें । उदाहरणार्थ, वह कर –विधि नहीं मानी जाएगी जो संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समता के मूल अधिकार का उल्लंघन करती हो । यह ध्यान रखने वाली बात है, कि इस अनुच्छेद 265 में निहित व्यवस्था केवल करों के सम्बन्ध में लागू होती है, शुल्क के सम्बन्ध में नहीं।"

(2)– संघ और राज्यों में राजस्व वितरण :-

अनुच्छेद 268 संघ और राज्यों में राजस्व के वितरण की व्यवस्था करता है । राज्य सूची के विषयों पर राज्यों को कर लगाने का अन्य अधिकार है संघ–सूची के विषयों पर केन्द्रीय सरकार को । समवर्ती सूची में कवेल कुछ ही करों का उल्लेख हैं ।

[1] संघ-सरकार के राजस्व स्त्रोत निम्नलिखित हैं :-

कृषि आय को छोड़कर अन्य आय पर कर, सीमा–शुल्क निर्यात–शुल्क, निगम–कर तम्बाकू तथा' भारत में निर्मित और उत्पादित कुछ वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा–शुल्क, हुण्डियों तथा चैकों और प्रॉमिजरी नोटों पर मुद्रांक–शुल्क स्टॉक एक्सचेंज पर कर, वायदा बाजार पर कर रेल के जन – भाड़े और वस्तु भाड़े पर कर, रेल, समुद्र, व वायु, द्वारा ले जाई जाने वाली वस्तुओं पर कर अथवा यात्रियों पर सीमा–शुल्क, विदेशी – ऋण, संघ सरकार की सम्पत्ति, कोई दूसरा कर जो राज्य सूची या समवर्ती सूची में उल्लिखित न हो, आदि । निस्संदेह, राज्यों की तुलना में केन्द्र की आय से साधन और स्त्रोत बहुत अधिक है । राज्य केन्द्रीय सहायता की तरफ निहारते रहते हैं ।

[2] राज्य सूची के अनुसार राज्य सरकारों के राजस्व के साधन हैं:-

मालगुजारी, कृषि आय पर कर, कृषि भूमि के उत्तराधिकार पर कर कृषि भूमि पर सम्पत्ति कर, भूमि और भवन कर, प्रति व्यक्ति कर बिजली के उपयोग तथा विक्रय पर कर, स्थानीय क्षेत्र में प्रवेश करने वाली या बेची जाने वाली वस्तुओं पर कर, वाहनों

1. न्याय सम्बन्धी स्टाम्प शुल्क के अतिरिक्त अन्य स्टाम्प शुल्क
2. समवर्ती सूची के विषयों में से किसी एक के सम्बन्ध में शुल्क जिसमें किसी

पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, समाचार पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर विक्रय पर कर, समाचार–पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर, स्टाम्प शुल्क आदि ।

[3] समवर्ती सूची में निम्नलिखित कर हैं :-

(न्यायालय में लिया जाने वाला शुल्क शामिल नहीं हैं) ।

उल्लेखनीय है कि राज्य सूची में वर्णित विषयों पर लगाए गए करों को राज्य एकत्रित करके अपने ही पास रखते हैं । जबकि संघ–सूची में वर्णित विषयों पर लगाए कुछ कर पूर्णतया अथवा अंशतः राज्यों में वितरित कर दिऐ जाते हैं । संविधान में ऐसे चार प्रकार के संघीय करों का उल्लेख है जो पूर्णतया या आंशिक रूप में राज्यों को सौंप दिया जाते हैं –

(क) संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर :

अनुच्छेद 269 (1) के अनुसार निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपिंत और संग्रहीत किए जाएंगे किन्तु राज्यों को खण्ड (2) में उपबन्धित रीति से सौंप दिए जाएंगें– (1) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक शुल्क, (2) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति विषयक शुल्क (3) रेल, समुद्र व वायु द्वारा ले जाए गए माल और यात्रियों पर सीमा कर (4) रेल भाड़ों वस्तु भाड़ों पर कर (5) शेयर बाजार और सट्टा बाजार के सौंदों पर मुद्रांक – शुल्क के अतिरिक्त अन्य कर, (6) समाचार–पत्रों के क्रय–विक्रय तथा उसमें प्रकाशित विज्ञप्तियों पर कर, एवं (7) समाचार–पत्र के अलावा अन्तर्राज्यीय व्यापार अथवा वाणिज्य के माल के क्रय विक्रय पर कर

(ख) संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संग्रहीत तथा विनियोजित किए जाने वाले शुल्क

अनुच्छेद 268 के अुनसार ऐसे मुद्रांक–शुल्क तथा औषधीय एवं प्रसाधनीय सामग्री पर उत्पादन–शुल्क, जो सूची में वर्णित हैं, भारत सरकार द्वारा अरोपित किए जाएंगे । किन्तु ये शुल्क राजय सरकार द्वारा वसूल किए जाएंगे और राज्य ही उनका विनियोजन करेंगे।

(ग) संघ द्वारा आरोपित और एकत्रित कर, जिनका विभाजन संघ व राज्यों के मध्य होता है :-

अनुच्छेद 270 के अनुसार कृषि–आय के अतिरिक्त आय–कर संघ द्वारा ही लगाया

जाता हैं और उसी के द्वारा एकत्रित किया जाता है, पर समय–समय पर निर्धारित रीति के अनुसार उसका विभाजन संघ और राज्यों के बीच होता है । आयकर में निगम–कर सम्मिलित नहीं है । आयकर की प्राप्तियों का संघ और राज्यों के बीच वितरण वित्त–आयोग की सिफारिशों के अनुसार किया जाता है।

(घ) संघ द्वारा ग्रहण और संग्रहीत उत्पादन-शुल्कों का वितरण :-

अनुच्छेद 272 के अनुसार संघ सूची में वर्णित औषधीय और प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन–शुल्क के अतिरिक्त अन्य संघ उत्पादन–शुल्क भारत सरकार द्वारा ग्रहण और संग्रहीत किए जाएंगें किन्तु इनके शुद्ध आगमों को संसद द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार संघ एवं राज्यों में वितरित कर दिया जाएगा ।

संविधान की उपर्युक्त व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि कर –निर्धारण की शक्ति का विभाजन इस तरह किया गया है कि केन्द्र राज्यों की सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों में समन्वय स्थापित करने में समर्थ रहें । इसी को ध्यान में रखकर ही संविधान–निर्माताओं ने केन्द्र को विस्तृत और लचीले आय–स्त्रोत प्रदान किये जबकि राज्यों की आय के स्त्रोंत कुछ कठोर और सीमित रह गए । परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ग्रामीण क्षेत्रों से राजस्व का विशाल स्त्रोत राज्यों के लिए मुक्त रहा और इसे खेदजनक ही कहा जाएगा कि राज्य अपने आय के इस स्त्रोत का पूर्ण लाभ उठाने की ओर से उदासीन रहे है । इसका कारण राजनीतिक है । राज्य इस क्षेत्र की तरफ छेड़खानी करके अपने "वोट ब्रैक" समाप्त नहीं करना चाहते है।

[3] केन्द्रीय अनुदान :-

भारतीय संविधान में राज्यों को केन्द्रीय अनुदान प्रदान करने के सम्बन्ध में निम्नानुसार व्यवस्थाऐ की गई है–

1. संविधान के अनुच्छेद 275 द्वारा संसद को अधिकार दिया गया है कि वह उन राज्यों को, जिन्हें उसके अनुसार सहायता की आवश्यकता है, ऐसी राशि सहायक अनुदान के रूप में प्रदान करेगी जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे । भिन्न–भिन्न राज्यों के लिए भिन्न–भिन्न राशि तय की जा सकती है ।
2. अनुच्छेद 273 में पटसन अथवा पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात शुल्क से प्राप्त होने वाली कुल राशि का कुछ अंश असम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल और बिहारी राज्यों को सहायक अनुदान के रूप में दिये जाने की व्यवस्था है । केन्द्रीय अनुदान की राशि राष्ट्रपति वित्त आयोग के परामर्श से निर्धारित करता है ।

3. यदि राज्य केन्द्र की स्वीकृति से अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए कोई योजना प्रारम्भ करते है तो उसकी पूर्ति के लिए भी केन्द्र वित्तीय अनुदान प्रदान करता है । अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी केन्द्र द्वारा राज्यों को सहायक अनुदान दिए जाने का प्रावधान हैं ।
4. केन्द्र ऐसे विषय के सम्बन्ध में भी अनुदान दे सकता है जिस पर विधि निर्माण का अधिकार संसद के पास सामान्यता नहीं है । विवेकाधीन अनुदानों का अनुपात दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है और राज्यों के बजट सम्बन्धी घाटों की पूर्ति के लिए भी केन्द्र से अनुदान दिए जाते रहे है ।

वित्तीय अनुदान एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रखने सहायता मिलती है । इसके अतिरिक्त इसके माध्यम से केन्द्र राष्ट्रीय विकास की योजनाओं में संघ और राज्यों के बीच सहयोग और समन्वय ला पाता है । केन्द्र ने स्वयं की क्षमता और राज्य–विशेष की आवश्यकता के सिद्धान्त के आधार पर यथा–सम्भव निष्पक्ष रूप में वित्तीय अनुदान दिए है । धन मांगने सीमा कोई नहीं होती, पर धन दिये जाने की सीमा अवश्य होती है । राष्ट्रीय विकास योजनाओं के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा राज्यों को बड़ी मात्रा में अनुदान मिले है और राज्यों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे अपने यहां किसी बड़े उद्योग आदि की स्थापना के लिये केन्द्र पर दवाब रहते है केन्द्रीय सरकार ने राज्य–सरकारों के आग्रह पर सदैव सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है । उसका भरसक प्रयत्न रहा है कि राज्यों के राजस्व (आय–व्यय) में सन्तुलन लाने और विषमता की स्थिति में उन्हें व्यवस्थित करने में सहायता अनुदान प्रभावी सिद्ध हो । राज्यों की आवश्यकता की कसौटी के लिए न केवल उनकी वित्तीय आवश्यकता बल्कि कर–प्रयत्न, व्यय में मिव्ययता सामाजिक सेवाओं का स्तर, विशिष्ट परिस्थितियां और राष्ट्रीय महत्त्व का दृष्टिकोण प्रमुख रहा है । वित्तीय अनुदान केन्द्र–राज्य संबंधों में एक विवाद का पहलू रहा है । सन् 1967 के बाद गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारों द्वारा केन्द्र की कांग्रेसी सरकार पर खुले आम यह आरोप लगाया गया कि वह इस शक्ति का प्रयोग गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारों को दबाने के लिए करता है । केरल के मुख्यमंत्री ई0एम0एस0 नम्बूद्रीपाद, पश्चिमी बंगाल के अजय मुख्र्जी, तमिलनाडू के एम0 करूणानिधि और पंजाब के सरदार गुरनाम सिंह ने इस बात को प्रभावशाली ढंग से उठाया । सन् 1980 के बाद पश्चिमी बंगाल में ज्योति बसु, त्रिपुरा में नृपोन चक्रवर्ती, केरल में ई0 के0 नयनार, आन्ध्र प्रदेश में एन0टी0 रामाराव, कर्नाटक में रामकृष्ण हेगड़े के नेतृत्व वाली गैर–कांग्रेसी सरकारों का भी केन्द्र पर यही आरोप रहा है कि वह गैर–कांग्रेसी राज्य सरकारों को सहायता देने में भेदभाव की नीति का सहारा लेती है ।

राजीव गांधी के कार्यकाल में भी गैर–कांग्रेसी सरकारों का भी केन्द्र पर यही आरोप लगाती रही । आन्ध्र प्रदेश के मुख्य मंत्री एन0टी0 रामाराव, असम के प्रफुल्ल कुमार महन्त, हरियाणा के चौधरी देवीलाल, कर्नाटक के रामकृष्ण हेगड़े और एस0आर0 बोम्मई, त्रिपुरा

के नृपेन चक्रवर्ती अपने –अपने राज्यों के लिए अधिक केन्द्रीय अनुदान प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहे हैं केन्द्र पर यह आरोप लगाते रहे कि वह उनको सहायता देने में भेदभाव पर बरत रहा है । जनवरी, 1989 में सत्ता में आते ही एम0 करूणानिधि ने तमिलनाडू के लिए 200 करोड़ रूपये की आर्थिक सहायता की मांग की । नरसिम्हाराव के कार्यकाल में पूर्व भारतीय जनता पार्टी शासित राज्य सरकारें, जनता दल की सरकारें, पश्चिमी बंगाल और त्रिपुरा की वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चे की सरकारें राज्यों के लिए अधिक अनुदान की मांग करती रही है और केन्द्रीय वित्तमंत्री डा0 मनमोहन सिंह द्वारा रखे गये बजट प्रावधानों के प्रति असंतोष व्यक्त किया ।

[4] केन्द्र एवं राज्य सरकारों के उधार लेने की शक्ति :-

संविधान के अनुच्छेद 292 के अनुसार केन्द्रीय सरकार संसद द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर भारत के संचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकती है और इन सीमाओं तक किसी ऋण की गारण्टी भी दे सकती है। अनच्छेद 293 के अनुसार कोई भी राज्य भारत की सीमाओं के अन्दर राज्य विधान विधान मण्डल द्वारा नियत सीमाओं में रहते हुऐ राज्य की संचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकता है और इन्हीं सीमाओं के भीतर किसी ऋण का गारण्टी दे सकता है । लेकिन राज्यों को धन उधार लेने की शक्ति पर ये प्रतिबन्ध है कि– (1) कोई भी राज्य भारत के बाहर से कर्ज नहीं ले सकता, (2) किसी भी ऐसे राज्य को केन्द्रीय सरकार तब तक धन उधार देने से इन्कार कर सकती हैं जब तक कि पिछला उधार दिया गया धन राज्य ने लौटा नहीं दिया हैं एवं (3) यदि पिछला कर्ज बकाया रहते हुए भी राज्य धन उधार लेने का आग्रह करे तो केन्द्रीय सरकारें संघ के ऋण भार से दबी पड़ी हैं । अतः उन्हें संघ सरकार की शर्तो को अधिकांशतः मानना पड़ता हैं । केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की सरकार पर उन गैर–वाजिब शर्ते लादने का प्रयत्न करती हैं । केन्द्र सरकार द्वारा उसका खण्डन किया जाता रहा हैं ।

[5] वित्त आयोग :

संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग सम्बन्धी प्रावधान हैं । इसकी भी केन्द्र–राज्य संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका हैं । वित्त आयोग मुख्यतः निम्नलिखित विषयों पर अपना प्रतिवदेन राष्ट्रपति को प्रस्तुत करता हैं ।

(क) संघ और राज्यों के बीच उन करों की विशुद्ध प्राप्तियों के वितरण के सम्बन्ध में जो संघ एवं राज्यों में विभाजित होती है अथवा होगी और राज्यों के बीच ऐसे करों की प्राप्ति कि उस अंश के बारे में जो राज्यों को प्राप्त हो, में मतभेद होने पर।

देश की संघीय व्यवस्था में वित्त–आयोग की भूमिका के महत्व का विश्लेषण

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्व के लिए सहायता अनुदान के सिद्धान्तों के निर्धारित करने के बारे में ।

(ग) और भी विषयों के बारे में जो राष्ट्रपति, सुव्यवस्थित वित्त व्यवस्था के हित में, आयोग को सौंपें ।

करते हुए एम0 वी. पायली ने लिखा है कि "वित्त–वितरण के प्रश्न को संघ तथा राज्यों के मध्य अन्य राजनीतिक विवादों से दूर रखने का श्रेय इसको, प्राप्त है । वस्तुतः वित्त आयोग राज्यों तथा संघ के बीच एक ऐसे प्रत्यावरोध का कार्य करता है जो एक और निरन्तर अधिक वित्त की मांग करने वाले राज्यों के राजनीतिक दबाव से संघ की रक्षा करता है, दूसरी और आवश्यकता ग्रस्त राज्यों को राजनीतिक सहायता प्रदान करने के लिए संघ को विवश करता हैं । संघ के लिए वित्त आयोग की सिफारिशों की उपेक्षा करना सम्भव सा हैं।"

[6]अन्य वित्तीय व्यवस्थाएं :-

संविधान के अन्तर्गत कुछ ऐसे विशिष्ट उपबन्ध भी हैं जिसके अनुसार संघ और राज्य एक दूसरे की सम्पत्ति तथा आय पर कर नहीं लगा सकते हैं । राष्ट्रपति की आपातकालीन वित्तीय शक्तियां केन्द्र की निर्णायक प्रधानता की परिचायक हैं । भारत के नियंत्रक व महालेखा परीक्षक द्वारा भी केन्द्रीय सरकार राज्यों पर अपना नियंत्रण सुदृढ़ करने में समर्थ होती हैं । यह अधिकारी भारत सरकार और राज्य सरकारों के लेखा रखने के ढंग और हिसाब–किताब की जांच करता हैं । इस अधिकारी के माध्यम से ही संसद राज्यों की आय व्यय पर अपना नियंत्रण रखती हैं । वित्तीय विषयों पर और भी अनेक उपबन्ध हैं ।

भारतीय संविधान में केन्द्र राज्य सम्बन्धों के वित्तीय स्वरूप का सारगर्भित विश्लेषण करते हुए डॉ0 एम0 वी0 पायली ने लिखा है कि "सारा वित्तीय ढांचा संघ तथा राज्यों के परस्पर सहयोग की भावना पर आधारित हैं ताकि संघ तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्धों में पूर्ण तालमेल रहे । इस संबंध में सारांश में यही कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में केन्द्र की सर्वोच्चता निर्विवाद है और इसीलिए राज्य सरकारें वित्तीय अधिकारों की मांग करती रही हैं।"

केन्द्र राज्य न्यायिक सम्बन्ध :-

भारतीय संविधान ने देश में एकल न्यायिक व्यवस्था की स्थापना की है । इस एकल न्यायिक व्यवस्था ने भारत में न्यायिक संवर्ग की भी स्थापना कर दी हैं । राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती हैं । उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती हैं । राज्यों के आपसी

विवादों का निपटारा भी उच्चतम न्यायालय में द्वारा किया जाता है । उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि वह राज्य के उच्च नयायालयों को समय–समय पर न्याय सम्बन्धी निर्देश दे । उच्चतम न्यायालय के निर्णय नजीरों या उदाहरणों के रूप में सभी राजकीय न्यायालयों द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं उच्चतम न्यायालय के निर्णयों को लागू करना राजकीय अधिकारियों का संवैधानिक कर्तव्य हैं । उच्चतम न्यायालय द्वारा जारी किया गया एक लेख समूचे देश में और विधि के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विधायी प्रशासंनिक, वित्तीय और न्यायिक सभी क्षेत्रों में राज्यों की तुलना में केन्द्र को बहुत अधिक अधिकार प्रदान किए गए हैं । राज्यों को केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता हैं और केन्द्र के आदेश का पालन भी करना पड़ता हैं। लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी हैं। व्यवहार में केन्द्र का दृष्टिकोण राज्यों के प्रति उदार, सहनशील और समझौतावादी रहा है। इसके अतिरिक्त संवैधानिक व्यवस्था ऐसी है जो राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देती है। और केन्द्र और राज्यों में सहयोग एवं समन्वय का वातावरण उत्पन्न कर संघर्ष या मुकदमेवाजी अथवा तनाव की बहुत कम गुंजाईश छोड़ती हैं। अतः दोष संवैधानिक उपबन्धों का नहीं हैं, अपितु केन्द्र और राज्य सरकारों की नीयत या "भावना" का है। अगर केन्द्र और राज्य सरकारें संविधान निर्माताओं की भावनाओं के अनुरूप आचरण करें तो कोई विवाद ही उपस्थित नहीं हो ।

भारतीय संघ में केन्द्र राज्य वित्तीय संबंध

संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र राज्यों की सरकारों के बीच केवल विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का ही विभाजन नहीं होता अपितु वित्तीय स्त्रोतों का भी बंटवारा होता है । वित्तीय स्त्रोतों के विभाजन को लेकर राज्यों के बीच मतभेद और तनाव उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक हैं । यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कि संघात्मक शासन प्रणाली और यह विश्व की अधिकांश संघ व्यवस्थाओं को संकटग्रस्त करती रही हैं ।

केन्द्र राज्य वित्तीय संबंध : सवैधानिक प्रावधान

केन्द्र तथा राज्यों के मध्य राजस्व के साधनों के विभाजन के आधार भूत सिद्वांत हैं : कार्यक्षमता, पर्याप्तता तथा उपयुक्तता । इन तीनों उद्देश्यों की एक साथ ही प्राप्ति अत्यन्त कठिन थी, अतः भारतीय संविधान में समझौतें की चेष्टा की गयी । संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय संबंधों का निरूपण इस प्रकार किया गया हैं।

(1) कर निर्धारण शक्ति का वितरण और करों से प्राप्त आय का विभाजन :

संघ के प्रमुख राजस्व स्त्रोत इस प्रकार हैं :– निगम कर, सीमा शुल्क निर्यात

भारतीय संविधान में वित्तीय प्रावाधानों की दो विशेषताएं हैं । प्रथम, संघ तथा राज्यों के मध्य कर निर्धारण की शक्ति का पूर्ण विभाजन कर दिया गया है । द्वितीय करों से प्राप्त आय का बटंवारा होता हैं ।

शुल्क, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, विदेशी ऋण, रेले, बैंक, शेयर बाजार आदि राज्यों के राजस्व स्त्रोत हैं । प्रति व्यक्ति कर, कृषि भूमि पर कर, सम्पदा शुल्क, भूमि और भवनों पर कर पशुओं तथा नौकाओं पर कर, बिजली उपयोग तथा विक्रय पर कर, वाहनों पर चुंगी कर, आदि ।

संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत विनियोजित किये जाने वाले शुल्कों के उदाहरण है : बिल, विनियमों, प्रोमिसरी नोटों, हुण्डियों, चैकों, आदि पर मुद्रांक शुल्क और दवा तथा मादक द्रव्य पर कर, शौंक–श्रृंगार की चीजों पर कर तथा उत्पादन शुल्क ।

संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किन्तु राज्यों को सौपें जाने वाले करों के उदाहरण हैः कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर कर, कृषि कर, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क, रेल, समुद्र वायु, द्वारा ले जाने वाले माल तथा यात्रियों पर सीमान्त कर, रेल भाड़ों तथा वस्तु भाड़ों पर कर, शेयर बाजार तथा सट्टा बाजार के आदान प्रदान कर मुद्रांक शुल्क के अतिरिक्त कर, समाचार–पत्रों से अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा वणिज्य के माल के क्रय–विक्रय पर कर ।

कतिपय कर संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहीत किया जाते हैं, पर उनका विभाजन संघ तथा राज्यों की बीच होता हैं । आय–कर का विभाजन संघीय भू–भाग के लिए निर्धारित निधि तथा संघीय खर्च को काटकर शेष राशि में से किया जाता हैं । आय – कर के अतिरिक्त दवा तथा शौंक श्रंगार संबंधी चीजों के अतिरिक्त अन्य चीजों पर लगाया गया उत्पादन शुल्क इसके अन्तर्गत आता हैं ।

(2). सहायक अनुदान तथा अन्य सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए दिया जाने वाला अनुदान :

संविधान के अन्तर्गत केन्द्र राज्यों को चार तरह के सहायक अनुदान प्रदान करने की व्यवस्था की गयी हैं। प्रथम, पटसन व उससे बनी वस्तुओं के निर्यात से जो शुल्क प्राप्त होता हैं, उसमें से कुछ भाग अनुदान के रूप में जूट पैदा करने वाले राज्यों – बिहार, बंगाल, असम व उड़ीसा – को दे दिया जाता हैं। द्वितीय, बाढ़, भूकम्प व सूखाग्रस्त क्षेत्रों में पीड़ितों की सहायता के लिए भी केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनुदान दे सकती हैं। तृतीय, आदिम जातियों व कबीलों की उन्नति व उनके कल्याण की योजनाओं के लिए भी सहायक

अनुदान दिया जाता हैं। चतुर्थ, राज्य को आर्थिक कठिनाईयों से उबारने के लिए केंन्द्र राज्यों की वित्तीय सहायता कर सकता हैं ।

3- ऋण लेने सम्बन्धी उपबन्ध :-

संविधान केन्द्र को यह अधिकार प्रदान करता है कि वह अपनी संचित निधि की साख पर देशवासियों व विदेशी सरकारों से ऋण ले सके। ऋण लेने का अधिकार राज्यों को भी प्राप्त होता है परन्तु वे विदेशों से धन उधार नहीं ले सकते। यदि किसी राज्य सरकार पर संघ सरकार का कोई कर्ज बाकी है तो राज्य सरकार अन्य कर्ज संघ सरकार की अनुमति से ही ले सकती हैं। इस प्रकार का कर्ज देते समय संघ का सरकार किसी भी प्रकार की शर्त लगा सकती है।

(4) करों से विमुक्ति :-

राज्यों द्वारा संघ की सम्पत्ति पर कोई कर तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक संसद विधि द्वारा कोई प्रावधान न कर दें। भारत सरकार या रेलवे द्वारा प्रयोग में आने वाली बिजली पर संसद की अनुमति के अभाव में राज्य किसी प्रकार का शुल्क नहीं लगा सकते। इसी प्रकार संघ सरकार भी राज्य सम्पत्ति और आय पर कर नहीं लगा सकती।

(5) भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक द्वारा नियन्त्रण :-

भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक की नियुक्ति केन्द्रीय मंत्रिमंडल के परामर्श से राष्ट्रपति करता हैं। यह भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के हिसाब का लेखा रखने के ढंग और उनकी निष्पक्ष रूप से जांच करता हैं। नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के माध्यम से ही भारतीय संघ राज्य की आय पर अपना नियन्त्रण करती हैं।

(6) वित्तीय संकटकाल :-

वित्तीय संकटकालीन घोषणा की स्थिति में राज्यों की आय सीमा राज्य सूची में चर्चित करों तक ही सीमित रहती हैं। वित्तीय संकट के प्रर्वतन काल में राष्ट्रपति को संविधान के उन सभी प्रावधनों को स्थगित करने का अधिकार है जो सहायता अनुदान अथवा संघ के करों के आय में भाग बंटाने से संबंधित हो। केन्द्रीय सरकार वित्तीय मामलों में राज्यों को निर्देश भी दे सकती हैं।

निष्कर्षत :-

यह कहना उचित है कि भारतीय संघवाद की सामान्यप्रकृति अर्थात् "केन्द्रीयता" के अनुकूल ही उपबन्धों की योजना हुई है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों की अपक्षा वित्तीय क्षेत्र में अधिक शक्तिशाली है। प्रो0 एम0 वी0 पायली के शब्दों में, वर्तमान स्थिति में राज्यों के पास सीमित साधन है और अपनी अधिकांश विकास योजनाओं के लिए उन्हें केन्द्र की सहायता की आवश्यकता रहती है इसलिए उन्हें केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता हैं। कभी–कभी केन्द्र के आदेशों के आगे भी झुकना पड़ता हैं।[1]

केन्द्र - राज्य तनाव के क्षेत्रः वित्तीय तथा योजना संबंधी विषय

सैद्वान्तिक दृष्टि से केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विवादों को तीन भागों में बांटा जा सकता है।[2] प्रथम संस्थागत विषय जैसे राज्यपाल का पद, नौकर शाही विवाद। द्वितीय कार्यात्मक विषय जैसे कानून और व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र के प्रश्न हस्तक्षेप, आवश्यकता वस्तुओं पर केन्द्रीय नियंत्रण आदि मसले। तृतीय वित्तीय और योजना संबंधी विषय–संघीय शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्यों के मध्य वित्तीय और योजना संबधी प्रश्नों को लेकर मतभेद होना स्वाभाविक है। 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के बाद भारत में केन्द्र तथा राज्यों के बीच निम्नलिखित वित्तीय और योजना संबंधी विषयों को लेकर विचार उभरे हैं।

(1). **वित्तीय संसाधनों के वितरण प्रचलित व्यवस्था :-**

वर्तमान में वित्त आयोग और योजना आयोग द्वारा वित्तीय संसाधनों के वितरण की प्रचलित व्यवस्था से अधिकांश राज्य सन्तुष्ट नहीं है। प्रचलित व्यवस्था में करों से प्राप्त होने वाली आय का प्रधान भाग केन्द्रीय कोष में जाता है और अपने लोक कल्याण एवं जनविकास सम्बन्धी दायित्वों की वृद्धि के बावजूद भी राज्यों के आय के स्त्रोत अत्यन्त अल्प रखे गये हैं। इसके परिणाम स्वरूप राज्यों की योजनाओं की सफलता बहुत कुछ केन्द्र अनुदान पर ही निर्भर हो जाती हैं। सन् 1967 के बाद राज्यों की यह शिकायत रही हैं कि केन्द्र की सरकार उन राज्यों को अधिक मदद देती हैं जहां कांग्रेस सरकारें हैं। योजना आयोग के माध्यम से भी केन्द्र राज्यों पर न केवल नियंत्रण रखता है बल्कि भेदभाव भी बरतता है।

इसके अतिरिक्त, राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान एवं सहायता बहुत ही कम है। वे अपने बढ़ते हुए दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ हैं। राज्यों की योजना की आकृति तय करने का काई निश्चित माप दण्ड नहीं है और वे राज्य, जिनकी आय के स्त्रोत ज्यादा हैं, महत्त्वाकांक्षी योजनाओं का निर्माण कर लेते हैं जिससे राज्यों की आय

1. **एम. वी. पायली**: कॉस्टीट्यूशनल गवर्नमेंट इन इंडिया 1977
2. **इकबाल नारायण** : पॉलिटिकल चेन्ज इन इंडिया

में विषमता बढ़ती है। केन्द्रीय सरकार आये दिन अपने कर्मचारियों के महंगाई भत्तों में वृद्धि करती रहती है। जिसका प्रतिकूल प्रभाव राज्यों के कोष पर पड़ता है और उन्हें भी अपने कर्मचारियों के भत्तों में वृद्धि करनी पड़ जाती हैं । राज्यों को दिये जाने वाले कतिपय अनुदान केन्द्रीय सरकार की स्वविवेक शक्ति के अन्तर्गत आते है और राज्यों को बराबर यह शिकायत रही है कि केन्द्रीय सरकार इन अनुदानों का वितरण करते समय पक्षपातपूर्ण आचरण करती हैं।[1]

(2). राज्यों की ऋणग्रस्तता :-

पिछले पच्चीस वर्षो में राज्य धीरे-धीरे किन्तु अधिकाधिक रूप से वित्तीय साधनों के लिए केन्द्रीय सरकार पर निर्भर होते चले गये। राज्यों की इस ऋणग्रस्तता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार से लिये गये ऋण 1961 में 20 अरब 14 करोड़ रूपये से बढ़कर 1971 में 63 अरब 65 करोड़ रूपये हो गये जो राज्यों की कुल ऋणग्रस्तता का लगभग 70 प्रतिशत हैं। इस प्रकार ऋण सेवाओं का भार राज्यों के कर आय को प्रभावहीन बना रहा हैं। वास्तव में, केन्द्र के साथ राज्यों की ऋण ग्रस्तता अब इस स्थिति में पहुंच गयी हैं कि ऋण अदायगी तथा ब्याज की रकम मिलकर नयी केन्द्रीय सहायता से अधिक हो जाती हैं। जिसका अर्थ यह है कि साधनों का वितरण विपरीत दिशा में हो जाता हैं। ऐसी स्थिति परिपक्व एवं सन्तुलित केन्द्र राज्य सम्बन्धों के लिए ऋणात्मक हैं।

(3). वित्त आयोग की भूमिका :-

आलोचना का विषय यह है कि केन्द्र से हस्तान्तरित होने वाली राशि का केवल एक तिहाई भाग ही वित्त आयोग की सिफारिशों पर होता है जबकि दो तिहाई भाग वित्त आयोग के क्षेत्र से बाहर हैं। बंटवारे की यह पद्धति मनमाने ढंग की हैं, चाहे यह बंटवारा योजना आयोग द्वारा ही क्यों न किया जाता है ? फिर केवल योजना आयोग ही ऐसे अनुदान नहीं देता। वित्त आयोग तथा योजना आयोग के क्षेत्र से बाहर के अनुदान प्रथम पंचवर्षीय योजना में दिये अनुदानों का केवल 7.3 प्रतिशत थे किन्तु बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में इनका महत्व बढ़ता गया तथा चौथी योजना में वह बढ़कर लगभग 41 प्रतिशत हो गया। ये अनुदान जिन्हें विवेकानुदान कहा जाता है योजना अनुदानों की अपेक्षा 73 प्रतिशत बढ गये हैं। सरकार की इच्छा पर छोड़े गये इन अनुदानों के विरूद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि ये वित्तीय संघीय सम्बन्धों में न्याय के सिद्धांत का उल्लंघन करते हैं। सभी मुख्यमंत्रियों ने सातवें वित्त आयोग के समक्ष अनुच्छेद 282 के अत्यधिक प्रयोग पर जिसके अन्तर्गत ये विवेकानुदान दिये जाते है, पुनः विचार करने को कहा।

---

1. **बी० एल० माहेश्वरी** : सेन्टर स्टेट रिलेशन्स इन सेवेन्टीज 1973

(4). आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध में मतभेद :-

योजना आयोग की भूमिका को लेकर भी केन्द्र–राज्य विवादों में वृद्धि हो रही हैं। अशोकचन्दा का मत है कि योजना आयोग ने संघवाद को निरस्त कर दिया है।[1] योजना आयोग सम्पूर्ण देश की योजना के लिए कुछ आधार भूत विषय निश्चित करता हैं। चूंकि प्रत्येक राज्य की समस्याएं अलग–अलग है इसलिए उनकी मूल समस्याओं का निराकरण नहीं हो पाता है। योजना प्रारूप का अन्तिम निर्णय तो केन्द्रीय संसद के हाथों में हैं। योजनाओं के सम्बन्ध में केन्द्र की कार्यपालिका वास्वत में निर्णय लेती हैं और कार्यान्वित राज्य की कार्यपालिकाओं को करना होता है। योजना आयोग के सामने राज्य एक परकटे पक्षी की भांति हैं। राज्यों के पास अपने योजना बोर्ड नहीं हैं, जो कि राज्य की योजनाओं को तकनीकी दृष्टि से निश्चित कर सकें ।

अब राज्यों से केन्द्रीय सरकार और योजना आयोग का विरोध करने की प्रवृत्ति उभर रही हैं। सन् 1969 में पहली बार कुछ राज्यों ने चौथी योजना के प्रारूप को औपचारिक रूप से अस्वीकृति प्रदान की। पश्चिमी बंगाल तथा केरल के मुख्यमंत्री और दिल्ली के मुख्य कार्यकारी पार्षद ने योजना आयोग को उसी रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। राज्य के मुख्यमंत्री ने केन्द्र से राज्यों की आय के स्त्रोतों को भी बढ़ाने की बात कही हैं। यह भी मांग की जा रही है कि योजना आयोग के कार्यो को सीमित किया जाना चाहिए तथा जो अनुदान दिये जाये वे शर्त नहीं होने चाहिए।

(5). अन्तर्राज्यीय व्यापार :-

संविधान के अनुसार अन्तर्राज्यीय व्यापार को नियमित करने की शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित हैं। केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय और स्थानीय राज्यों के हितों में समन्वय स्थापित करने के लिए कभी–कभी हस्तक्षेप करती हैं। इस केन्द्रीय हस्तक्षेप से कतिपय राज्य नाराज होते हैं और केन्द्र–राज्य मतभेद उभरते हैं। उदाहरण के लिए, खाद्य नीति को लिया जा सकता है जो कि राज्य सूची का विषय और केन्द्रीय हस्तक्षेप से पंजाब ने अपनी लगातार नाराजगी प्रकट की। सन् 1969 में केन्द्रीय शासन ने गेहूं के संबंध में प्रचलित "एक राज्य क्षेत्र" नीति का परित्याग कर "आठ राज्यीय क्षेत्र" घोषित किया तो पंजाब ने इसे पसन्द नहीं किया।[2]

मई 1979 में मुख्यमन्त्रियों के दो दिन के सम्मेलन में केन्द्र के वित्तीय साधनों के बंटवारे के सबाल पर विवाद ने उग्र रूप धारण कर लिया। विवाद इतना बढ़ गया जिसका पता इसी तथ्य से लग सकता हैं कि पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री ने

1. **अशोक चंदा** : फेडेरेलिज्म इन इंडिया, लंदन 1968
2. **बी० एल० माहेश्वरी** : 1973

इस मामले को सर्वोच्च न्यायालय के सामने ले जाने निश्चय प्रकट किया।[1] पश्चिमी बंगाल के वित्त मंत्री डॉ0 अशोक मित्र ने कहा कि कच्ची तम्बाकू, चीनी तथा कपड़ों पर एकत्र करों के बंटवारों के प्रश्न पर अनेक स्मरण पत्र भेजने के बावजूद केन्द्र ने अपना वायदा पूरा नहीं किया। उन्होंने कहा कि कुछ वर्ष पूर्व उक्त मदों पर एकत्र करों को राज्य सरकार ने स्वेच्छा से केन्द्र को दे दिया था। यदि मामलावार्ता से न सुलझा तो राज्य सरकार सर्वोच्च न्यायालय में मुकदमा दायर करेंगी।

वित्तीय साधनों का न्यायपूर्ण आबंटन : नये सन्तुलन की खोज

केन्द्र राज्य आर्थिक सम्बन्धों को अधिक सहज बनाने हेतु प्रशासनिक सुधार आयोग तथा राजमन्नार समिति प्रतिवेदन में भी विचार किया गया था। इसी उद्देश्य से पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने भी एक विस्तृत मसविदा प्रस्तुत किया था।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने अनुच्छेद 283 के अन्तर्गत राज्यों को दो जाने वाली वित्तीय सहायता का सरलतम रूप प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में आयोग की अनुशंसाएं इस प्रकार हैः प्रथम, राज्यों को दी जाने वाली कुल केन्द्रीय सहायता की मात्रा तय की जानी चाहिए। इसके बाद ऋण के रूप में दी जाने वाली रकम तय कर लेनी चाहिये। द्वितीय, इस अनुदान को वितरित करते समय वह राशि अलग कर लेनी चाहिए जो मूलभूत राष्ट्रीय महत्व की परियोजनाओं पर खर्च की जानी हैं। अवशिष्ट राशि को ही केन्द्रीय अनुदान के रूप में राज्यों को वितरित किया जाना चाहिए। तृतीय, यदि राज्य ने किसी परियोजना को पूरा नहीं किया है तथा केन्द्रीय अनुदान की अधिक राशि खर्च कर दी हैं तो बाद में केन्द्रीय अनुदान की मात्रा कम की जा सकती हैं। चतुर्थ, राज्यों में केन्द्रीय पहल से संचलित होने वाली परियोजनाओं की संख्या कम होनी चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग का विचार था कि राज्यों की परियोजनाओं की संख्या कम होने चाहिए और केन्द्रीय पहल की परियोजनाओं के मानदण्ड निश्चित होने चाहिये। प्रशासनिक सुधार आयोग का विचार था कि राज्यों की परियोजनाओं को दो भागों में उत्पादित और गैर–उत्पादित में बांटा जाना चाहिये। योजना आयोग को वे सिद्धान्त तय करने चाहिए जिनके आधार पर परियोजनाओं को दो भांगों में बांटा जा सकता हैं। केवल उत्पादित परियोजना के लिए ही ऋण सहायता उपलब्ध करायी जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिये ताकि उस परियोजना के चालू होने पर ब्याज सहित ऋण लौटाया जा सके केन्द्रीय सरकार अपने कर्मचारियों का मंहगाई–भत्ता, आदि बढ़ाती रहती है जिसका प्रभाव राज्यों के बजट पर भी पड़ता हैं। राज्य कर्मचारी भी केन्द्र के बराबर मंहगाई भत्ते की मांग करते हैं, राज्य सरकारों को उनकी मांगों के आगे झुकना पड़ता हैं। जिससे उन पर काफी आर्थिक भार बढ़ जाता हैं। आयोग का विचार हैं कि केन्द्रीय सरकार

1. **नवभारत टाइम्स**, नई दिल्ली 25.5.1979

की नीति के कारण ही मुद्रा प्रसार बढ़ता हैं अतः राज्यों के इस प्रकार के बढ़ते हुए व्यय का भार केन्द्रीय सरकार को ही बहन करना चाहिए।[1]

राजमन्नार समिति का सुझाव था कि वित्त आयोग स्थानीय रूप से स्थापित किया जावे तथा राज्यों के पक्ष में करों का पहले से अधिक वितरण हो ताकि उन्हें केन्द्र पर कम से कम निर्भर रहना पड़े। राज्यों को वित्तीय क्षेत्र में स्वायत्तता प्रदान करनी चाहिये। राज्यों को निगम कर, निर्यात कर तथा आवकारी कर में हिस्सा मिलना चाहिए।[2]

राज्य स्वायत्तता की मांग का बिगुल बजाते हुए पश्चिमी बंगाल की वामपन्थी सरकार ने अपने मसविदे में कहा हैं। (1) कुल राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों को व्यय हेतु प्रदान किया जाये। (2) योजना आयोग की कार्यप्रणाली में फेर–बदल किया जाये। (3) संविधान के अनुच्छेद 280 (क) को खत्म करना चाहिए। (4) राज्यों को कर लगाने एवं वसूलने का पूर्ण अधिकार मिलना चाहिए। (5) संविधान के अनुच्छेद 280 की धारा 2 और 7 को समाप्त करना चाहिये। (6) केन्द्रीय मंत्रीमंडल के वाणिज्य सम्बन्धित संविधान के अनुच्छेद 302 में निहित अधिकारों को खत्म करना चाहिए ।

हम सभी जानते है कि आर्थिक विकास की जो प्राथमिकताएं निर्धारित हुई है उसके अनुसार, कृषि, सिंचाई, कुटीर व ग्राम उद्योगों आदि पर अधिक राशि खर्च की जानी है। ये सारे कार्यक्रम राज्यों के अन्तर्गत ही हैं, इसलिए भी उन्हें अधिक धनराशि की आवश्यकता पड़ेगी। यह सुझाव दिया गया है कि वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत जो आय इकट्ठी की जाती हैं । उसका 60 प्रतिशत राज्यों को हस्तान्तरित कर दिया जाये । राज्यों की मांग यह भी हैं कि निगम कर से वसूल की गयी राशि भी राज्यों में वितरित की जाये। यह भी सुझाव दिया जाता है कि आय–कर के प्राप्त होने वाली आय में राज्यों का भाग 80 प्रतिशत से बढ़ाकर 90 प्रतिशत कर दिया जाये तथा सहायक एवं विशेष उत्पादन शुल्क सहित कुछ संघीय उत्पादन शुल्क में राज्यों का भाग बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दिया जावें । इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करने वाले अनुदानों की राशि कम की जाये तथा अधिक राशि कानूनी रूप से किये जाने वाले हस्तान्तरणों के लिए रखी जाये । कुछ क्षेत्रों से यह सुझाव भी आया है कि ऋण देने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक को सौंपी जानी चाहिए ।

संक्षेप में, राज्यों की वित्तीय क्षमता में वृद्धि करने हेतु निम्नलिखित चार–मोट सुझाव दिये जा सकते हैं । (1) राज्यों के राजस्वों में वृद्धि करने हेतु कतिपय कराधान की मदें उन्हें और दी जानी चाहिए, निगमकर और आय–कर के अधिभार की आमदनी का

---

1. **एस० आर० माहेश्वरी**, 1972

2. **तमिलनाडू सेन्टर**, स्टेट रिलेशन्स इन्क्वायरी कमेटी, रिपोर्ट मद्रास, 1971

भी केन्द्र और राज्यों में बंटवारा किया जाना चाहिए । (2) योजनांतर्गत और गैर–योजनांतर्गत अनुदानों के अन्तर को समाप्त किया जाये और राज्यों को आवंटित की जाने वाली अनुदान राशि देने की निश्चित प्रक्रिया का निर्धारण किया जाये । (3) वित्त आयोग को स्थायी संवैधानिक निकाय का दर्जा दिया जाये, क्योंकि वर्तमान में योजना आयोग की प्रभावकारी भूमिका से वित्त आयोग की भूमिका कम हो गयी हैं । (4) राज्यों को दिये जाने वाले ऋण संवैधनिक सत्ता द्वारा निश्चित मापदण्डों के आधार पर दिये जायें ।[1]

वस्तुतः राज्यों को अधिक मात्रा में वित्तीय साधन तभी उपबन्ध किये जा सकते हैं जब अधिक साधन एकत्रित किये जायें । सभी वित्त विशेषज्ञ यह मानते हैं कि गत 40 वर्षो में राज्य सरकारों ने अपना खर्चा तो तेजी से बढ़ाया लेकिन पूर्ति के लिए समुचित वित्तीय साधन विकसित नहीं किये । लोकप्रियता खोने और चुनाव में हार के भय से राज्यों ने नये कर न लगाने की नीति अपनायी तथा खर्च की पूर्ति के लिए बार–बार दबाव डाला।

क्या राज्यों के लिए संसाधन जुटाने के लिए केन्द्र के वित्तीय अधिकारों में जबर्दस्ती कटौती की जाये ? यह तथ्य है कि वित्त आयोगों ने भी समय–समय पर केन्द्रीय आय–कर में राज्यों का हिस्सा बढ़ाने की सिफारिशें की और परिणाम स्वरूप आज आय–कर का 88 प्रतिशत भाग राज्यों को दिया जाता है जबकि 1950 में राज्यों को 55 प्रतिशत हिस्सा मिलता था ।

वस्तुतः वित्तीय अधिकारों के मामले में केन्द्र तथा राज्यों के बीच किसी प्रकार के विवाद या टकराव की गुंजाइश नहीं हैं । वे एक–दूसरे के पूरक बन सकते हैं । दिशा निर्देश देने, तालमेल बैठाने तथा साधनों के वितरण का काम केन्द्र के जिम्मे हो तथा आर्थिक कार्यक्रमों पर अमल का दायित्व और अधिकार राज्यों के अन्तर्गत हो तो विवाद का कोई कारण नजर नहीं आता हैं ।

केन्द्र - राज्य सम्बन्धों की विशेषताऐ :-

संविधान द्वारा प्रस्तुत केन्द्र – राज्य सम्बन्धों का विश्लेषण करने से निम्न तथ्य उभरते हैं ।

(1) शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार :-

संविधान – निर्माताओं ने केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बनाया हैं ।

1. रामेश्वरी सिन्हा – सेन्टर स्टेट फाइनेन्सियल रिलेशन्स द इंडियन जनरल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेट न्यू देहली, Vol 25, 1979

वह किसी भी सूची के विषयों पर कानून बना सकती हैं । वह अवशिष्ट शक्तियों का उपभाग कर सकती हैं और राज्यपालों द्वारा राज्यों पर पूर्ण नियंत्रण रखती हैं । उसकी आय के साधन अधिक है और वह राज्यों को ऋण भी दे सकती हैं ।

(2) राज्यों की स्थिति नगर पालिकाओं के समतुल्य :-

संघ एवं राज्यों के बीच शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया जा सकता हैं कि राज्यों की स्थिति नगर पालिकाओं के समतुल्य हो गयी हैं । जिस प्रकार नगरपालिकाएं राज्य सरकारों पर पूर्णतः निर्भर हैं, उसी प्रकार राज्य सरकारें भी सभी क्षेत्रों में संघ सरकार पर निर्भर हैं ।

(3) सहकारी संघवाद :-

ग्रेनबिलऑस्टिन के अनुसार, "भारत की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संविधान सभा ने एक विशिष्ट प्रकार के संघवाद को जन्म दिया हैं । जिसे ए0एच0बर्चे ने "सरकारी संघवाद" की संज्ञा दी हैं । इस व्यवस्था में संघीय सरकार शक्तिशाली होती हैं किन्तु राज्य सरकारें भी अपने क्षेत्रों में कमजोर नहीं होती, साथ ही दोनों सरकारों की एक–दूसरे पर निर्भरता इस व्यवस्था का मुख्य लक्षण होता हैं ।

(4) भारतीय संघ की आत्मा एकात्मक :

राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा किये जाने पर राज्यों की स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता हैं और इस दशा में राष्ट्रपति राज्य का सारा कामकाज अपने प्रतिनिधि राज्यपाल के माध्यम से चला सकता हैं । केन्द्र की शक्तियां आपात काल में ही नहीं अपितु सामान्यकाल में भी बढ़ायी जा सकती हैं, अतः भारतीय संघ की आम एकात्मक कही जा सकती हैं ।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों में टकराव की स्थिति :-

केन्द्र-राज्य संबंध आज भी उतने ही खराब है जितने श्रीमती इन्दिरा गांधी के शासन काल में थे । श्रीमती गांधी के कार्यकाल (1984) में ये सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये थे जब सिक्किम, जम्मू–कश्मीर व आन्ध्रप्रदेश की गैर–कांग्रेसी (इ) सरकारों को अपदस्थ किया गया था । तीन गैर–कांग्रेसी (इ) शासित राज्यों से जो केन्द्रीय सरकार के मंत्री है वे इन राज्यों (आन्ध्र, पं. बंगाल, कर्नाटक) के मुख्यमंत्रियों के खिलाफ ही ताने रहते हैं । नवम्बर 1987 में प्रधानमंत्री ने त्रिपुरा की गई सभाओं में भाषण किया और नृपेन चक्रवर्ती

की सरकार के खिलाफ टीका–टिप्पणी की । जनता, माकपा व तेलगू देशम के सदस्यों ने राज्यसभा में उनके राज्यों के प्रति केन्द्र की उपेक्षा के प्रति नाराजगी प्रकट की । कर्नाटक, पश्चिमी बंगाल व आन्ध्रप्रदेश के कई विकास योजनाएं इस बजह से रूकी हुई है कि केन्द्र ने स्वीकृति नहीं भेजी हैं । राज्य विधान सभा में स्वीकृत विधेयकों पर राष्ट्रपति के अनुमोदन के सम्बन्ध में भी ऐसे ही हाल हैं । इन विधेयकों को गृह मंत्रालय में अटका दिया जाता हैं । कुछ मामलों में तो राज्यपाल ही विधेयकों को दबा कर बैठ जाते हैं । आन्ध्रप्रदेश की राज्यपाल कुमुदबेन जोशी के बारे में ऐसी ही शिकायत की गयी हैं । पर्यवेक्षकों के अनुसार "अब देश में टकराव का वातावरण फिर पैदा हो रहा हैं ।"[1]

यह सच है कि केन्द्रीय सरकार की अपेक्षाकृत शक्तिशाली स्थिति ने राज्य सरकारों की स्थिति को प्रभावित किया है, किन्तु फिर भी राज्य केन्द्रीय सरकार की प्रशासकीय इकाइयां मात्र नहीं हैं । ग्रेनबिल ऑस्टिन लिखते हैं, भारत नयी दिल्ली नहीं है, बल्कि राज्यों की राजधानियां भी हैं । राज्य केन्द्रीय सरकार की प्रशासकीय इकाइयां मात्र नहीं हैं । राज्य केन्द्रीय सहायता के आकांक्षी हैं किन्तु राज्यों के सहयोग के बिना संघ बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सकता । राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार की नीतियों का माध्यम हो सकती है किन्तु उनकी सहायता के बिना केन्द्रीय सरकार अपनी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सकती । वस्तुतः दोनों ही एक–दूसरें पर निर्भर हैं ।

उपर्युक्त विचार–विमर्श से स्पष्ट होता हैं कि सुदृढ़ केन्द्र के बावजूद झुकाव केन्द्र और राज्यों के बीच सहयोगी साझेदारी के सम्बन्ध की ओर हैं । सहयोगी सम्बन्ध में स्वतंत्रता और परस्पर निर्भरता, दोनों होती हैं, और यही समकालीन संघवाद की विशिष्टता हैं ।

3–संविधानोत्तर प्रवृत्तियां एवं केन्द्र राज्य सम्बन्ध पर उसका प्रभाव

संवैधानिक प्रवृत्तियों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्य की मांग रही हैं । आर्थिक पिछड़ेपन जाति, भाषा, धर्म, को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक राज्य की मांग समय–समय पर उठायी गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलनों की शुरूआत की गयी । पृथक राज्य की मांग के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष संघीय इकाइयों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग है । इसी मांग के तहत् हिमांचल प्रदेश को 1970 में पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा जनवरी 1972 में त्रिपुरा एवं मणिपुर को भी पूर्ण राज्य बना दिया गया 1987 में मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश, और गोआ को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया । दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की मांग करते रहे हैं ।

---

1. **ए० जी० नूरानी** केन्द्र राज्य संबंधों की दुखद स्थिति राजस्थान पत्रिका 16.12.1987

(1) क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य की मांग :-

आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गयी, विकास रोजगार के अवसरों और शिक्षा–विषयक सुविधाओं को मामले में तेलंगाना क्षेत्र के लिऐ 1967 में "पब्लिक एम्पलायमेण्ट ऐक्ट" में संरक्षणों की व्यवस्था की गयी । उसी वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने इस ऐक्ट की उस व्यवस्था को असंवैधानिक करार दे दिया । जिसका तेलंगाना क्षेत्र को मिलने वाले सरंक्षणों से सम्बन्ध था । संरक्षणों के कार्यान्वयन के ढंग से असन्तोष था और तेलंगााना एवं आन्ध्र प्रदेश के अन्य भागों में गम्भीर आन्दोलन शुरू हो गयें । हिंसात्मक आन्दोलनों से बड़ी गम्भीर परिस्थिति पैदा हो गयी जिससे राज्य के संगठन को ही खतरा पैदा हो गया । आन्ध्र प्रदेश के लोगों में पूरी–पूरी भावनात्मक एकता लाने के लिए बड़े भारी धैर्य, सूझ–बूझ और कुशलता की आवश्यकता थी । 1967 में शुरू की गयी इस बड़ी नाजुक कार्यवाही का परिणाम 6– सूत्रीय फार्मूला था जो 1973 में घोषित किया गया ।

पृथक तेलंगाना के समर्थकों का कहना था कि अन्य क्षेत्रों का विकास तेलंगाना के मूल्य पर कि जा रहा है । तेलंगाना आन्दोलन को देखते हुए शंका व्यक्ति की गयी कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागों में उपक्षेत्रीयतावाद की उदीयमान शक्तियों का संकेत देती प्रतीत होती हैं ।

(2) अन्य भागों में पृथक राज्यों की मांग :-

भारत के विभिन्न भागों में क्षेत्रीयता के आधार पर पृथक राज्यों की मांग की जाती रही हैं । असम के मैदानी भागों की जनजातियों ने पृथक संघीय क्षेत्रों की मांग की हैं । भूतपूर्व मैसूर रियासत के लोगों ने कर्नाटक से अलग होने की मांग की है । उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों कूमायूँ एवं टिहरी गढ़वाल ने भी पृथक राज्य की आकांक्षा प्रस्तुत की हैं । पृथक उत्तराखण्ड राज्य की मांग का आधार आर्थिक पिछड़ापन ही हैं । यह मांग उठायी जा रही है कि उत्तर प्रदेश के आठ पहाड़ी जिलों को मिलाकर पृथक राज्य गठित क़िया जाय जिससे कि इन क्षेत्रों का स्वतन्त्र रूप से विकास हो सके । भौगोलिकता का तत्व भी इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इन पहाड़ी क्षेत्रों के विकास की समस्याएं मैदानी भागों से अधिक भिन्न एवं जटिल है जिसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश का आर्थिक पिछड़ापन गम्भीर विषय हैं। दक्षिण गुजरात के आदिवासी लोगों ने भी पृथक राज्य की मांग की हैं । विहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के पन्द्रह आदिवासी जिलों को मिलाकर पृथक झारखण्ड राज्य की आवाज बुलन्द की गयी हैं । इसी भाँति लोकसभा के जनवरी 1980 के चुनाव के दिनों में पृथक छत्तीसगढ़ की राज्य की मांग को भी पृथक चुनावी मुद्दा बनाया गया था । बोडो कछाड़ी आदिवासी आसाम के विभाजन की मांग कर रहे हैं, ताकि उदयांचल राज्य की स्थापना हो सके ।

(3) अंतराज्यीय झगड़े :-

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं । राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी पानी विवादों को लेकर राज्य में उग्र मतभेद एवं तनाव

बढ़े हैं । राष्ट्रीय स्त्रोतों के वितरण पर राज्यों के बीच कई बार सहमति नही हो पायी। राज्यों में कई बार अधिकतम स्रोत प्राप्त करने की होड़–सी दिखायी देने लगी । मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर, उत्पन्न विवाद राजस्थान और पंजाब के बीच भाखड़ा नांगल बांध में उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर विवाद, तमिलनाडू व कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, पंजाब, तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राज्यीय झंगड़ों के मुख्य उदाहरण हैं, जिनमें कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया और संघवादी भावना डगमगाती प्रतीत हुई ।

असम–नागालैण्ड सीमा विवाद भयंकर नरसंहारों का कारण बन चुका है । 5 जनवरी 1979 में हथियारों से लैस नागाओं ने 55 असमियों की हत्या कर दी थी । 4 जून, 1985 को मेरापानी में दूसरा बड़ा काण्ड हुआ । इस बार नागाओं के साथ उनके राज्य की सशस्त्र पुलिस भी थी । इस काण्ड में 30 असमी मारे गये और 90 घायल हुए । असम के अधिकारी दावा करते है कि उनके राज्य की 878 वर्ग किमी भूमि नागालैण्ड ने दबा ली हैं । नरसंहारों का यह सिलसिला आज भी जारी है ।[1]

(4) स्वायत्तता की मांग :-

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गयी है जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली है । बिगत कुछ वर्षो से यह मांग की जाती रही है कि भारतीय संविधान के संघवाद से सम्बन्धित प्रावधानों का पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए । स्वायत्तता की मांग के साथ–साथ यदाकदा पृथकतावादी नारे भी दिये जाते हैं । स्वायत्तता की यह मांग उन दिनों बड़ी प्रबल हो जाती हैं । जबकि केन्द्र एवं राज्यों में पृथक–पृथक राजनैतिक दलों की सरकारें होती हैं । पंजाब में मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल द्वारा सिक्खों ने स्वायत्त राज्य की मांग उठायी थी । पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार–बार राज्यों की मांग उठायी एवं दुहराई हैं। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलों ने भी राज्य स्वायत्तता की मांग का समर्थन किया है ।

---

1. इंडिया टुडे, 15.10.1987 पृ0 26

(5) केन्द्र के आदेशों का उल्लंधन :-

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई हैं । राज्यों ने कई बार केंन्द्र के सुझावों और निर्देशों को मानने से इन्कार कर दिया और अपने स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय दिया है । 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्री कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिऐ केन्द्र व राज्यों को निर्देश दिये । केरल की वामपंथी सरकार के मुख्यमंत्री नम्बूद्रीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया । सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव–ग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामलों में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने बराबर विरोध किया । जनता पार्टी के शासन काल में गौहत्या प्रतिबन्ध के विषय पर केन्द्र तथा तमिलनाडू, केरल व पश्चिमी बंगाल की सरकारों की बीच विवाद उत्पन्न हुए । केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्त्रोतों को प्राप्त करने के लिए भी राज्यों ने केन्द्र के विरूद्ध संघर्ष का रूख अपनाया । कई बार अन्तर्राज्यीय विवादों के समाधान में राज्यों ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया । इस प्रकार राज्यों द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना, केन्द्र के निर्देशों का पालन न करना क्षेत्रीयतावाद की नीति के घोतक हैं ।

(6) उत्तर - दक्षिण भारत विवाद

भारत में उत्तर और दक्षिण के सन्दर्भ में सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती हैं । दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उनकी उपेक्षा की हैं । दक्षिण के चार राज्यों – तमिलनाडू, आन्ध्रप्रदेश केरल और कर्नाटक जहां द्रविड़ भाषा बोली जाती है – का विचार है कि राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिए थे । केन्द्रीय मंत्रिमण्डल, योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाये हुए हैं । दूसरी पंचवर्षीय योजना 2,240 करोड़ रू0 की राशि में से दक्षिण भारत को मात्र 521 करोड़ रू0 ही दिये। गये इस्पात के सभी बड़े कारखाने–रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर उत्तरी भारत में ही हैं । दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत में उद्योगों का जाल बिछा हुआ हैं । दक्षिण के राज्यों ने सरकार की भाषा नीति का डटकर विरोध किया दक्षिण राज्य यह मानते हैं कि हिन्दी उत्तरी भारत की भाषा है और उन पर हिन्दी जबर्दस्ती थोपने की एक चाल है । वे मानते हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं की भांति हिन्दी भी एक भारतीय भाषा है । अन्य द्रविड़ भाषाओं, जैसे तमिल, तेलगू, मलयालय और कन्नड से हिन्दी इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं हैं । दक्षिण के राज्य चाहते हैं कि प्रशासन की भाषा के रूप में हिन्दी के बजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए । हिन्दी को वे उत्तरी भारत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचायक मानते हैं ।

(7) भाषावाद :–

स्वाधीनता के तुरन्त बाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्र भाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को किस प्रकार संरक्षण दिया जाये । संविधान ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित किया है । भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा का विरोध करने लगे हैं । वे राजभाषा के रूप में हिन्दी को पसन्द नहीं करते थे । उनका कहना था कि हिन्दी इस स्थिति में नही है कि वह भारत की राजभाषा बन सके । भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी । मॉरिस जोन्स लिखते है कि "दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया, बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप में ही इसका विरोध किया ।"

असम में भाषा की राजनीति असम आन्दोलन की प्रेरणा स्त्रोत रही हैं। । जनगणना के आंकड़ों के अनुसार 1951 व 1981 के बीच राज्य में 61–62 प्रतिशत लोग ही असमिया भाषा बोलते थे । राज्य के हिन्दू जो लगभग 72 प्रतिशत है ऐसा सोचते हैं कि असमिया भाषा बोलने वाले 62 प्रतिशत लोगों में 25 प्रतिशत लोग बंगला देश मुसलमान है । उनका यह मानना है कि इन मुसलमानों ने असमिया भाषा बोलना शुरू किया ताकि उन्हें पहचाना जा सके कि वे विदेशी है । असम के लोगों को भय है कि एक बार स्थिति सामान्य हुई और बंगला देश से आये मुसलमान अपनी मूल भाषा बंगाली का प्रयोग शुरू कर देंगे और ऐसी स्थिति में असमिया बोलने वालों का प्रतिशत 36–37 रह जायेगा ।

दूसरी और बंगला भाषी लोग जो इस समय असम की जनसंख्या के 20 प्रतिशत है, उनकी संख्या में 25 प्रतिशत वृद्धि हो जायेगी । इस प्रकार राज्यों में बंगला भाषा भाषियों का प्रतिशत 45 हो जायेगा जो असमिया भाषा बोलने वालों के प्रतिशत से आठ–नौ ज्यादा होगा ।

इससे "असली" असमवासी भयभीत हो जाते हैं । इन लोगों का कहना है कि बंगाली अच्छे–अच्छे पदों पर हैं और असमिया भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं ।

(8) भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति

1–द्रविड. मुनेत्र कड़ग़म् की मांग - क्षेत्रीयतावाद के आन्दोलन को प्रबल बनाने में तमिलनाडू के द्रविड़ मुनेत्र कड़गम की प्रमुख भूमिका रही है । जून 1950 में द्रमुकने मद्रास राज्य में पृथकतावादी आन्दोलन संगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करेने की इच्छा प्रकट की । जगह–जगह भारत के नक्शों को जलाया गया ।

द्रमुक ने यहां तक कहा कि मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल, और मैसूर राज्यों को भारतीय संघ अलग करे एक पृथक सम्प्रभु "द्रविड़ स्थान" राज्य बनाया जाना चाहिए । मई 1962 में राज्यसभा में द्रभुक के नेता अन्नादुरे ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालों से कई दृष्टि से भिन्न है । और दक्षिण वालों की सदैव उपेक्षा की गयी है । इस प्रकार की विघ्रटनकारी

मांगों के फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में संविधान का 16 वां संशोधन अधिनियम पारित किया गया । इसमें यह व्यवस्था की गयी कि भारत की अखण्डता के विरूद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं कर सकेगा । इसके फलस्वरूप द्रमुक ने भारतीय संघ से अलग होने की मांग को छोड़ दिया और भारतीय संघ में ही स्वायत्त राज्य की मांग प्रस्तुत की । सन् 1970 में द्रमुक के तत्वाधान में "राज्य स्वायत्तता सम्मेलन आयोजित किया गया और राज्य स्वायत्तता की मांग की गयी। राज्य तातकालिक मुख्यमंत्री करूणानिधि ने चुनौती दी कि यदि उनकी मांग स्वीकार नहीं की जाती है तो वे जन आन्दोलन का भी सहारा लगे। एक बार तो उन्होंने पृथक ध्वज की मांग की । क्षेत्रीय दल होने के कारण द्रमुक ने सदैव क्षेत्रीय भावना को भड़काया है । करूणानिधि ने तो यहां तक कह डाला कि राज्य की नौकरियों में 80 प्रतिशत स्थान स्थानीय लोगों की दिये जायेगें ।

2—अकाली दल की मांग - मास्टर तारा सिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता पूर्व खालिस्थान की मांग की थी । स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारा सिंह ने पृथक "सिक्ख राज्य" की मांग की । सन् 1950 से 1969 के बीच सिक्खों ने हिंसात्मक आन्दोलनों के माध्यम से पंजाबी सूबे की मांग की और । 1 नवम्बर 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ । इससे भी सिक्ख समुदाय सन्तुष्ट नहीं हुआ और सिक्खों के लिए सिक्ख राज्य की मांग उठने लगी । अकाली दल के महासचिव डॉ0 जगजीत सिंह ने सिक्ख जनमत को जाग्रत करने के लिए सिक्खस्तान की मांग हेतु विभिन्न देशों की यात्रा की । अकाली दल के नई नेता यह धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अन्तर्गत सिक्ख राज्य को स्वायत्तता प्रदान नहीं की गयी तो वे जन—आन्दोलन का सहारा लेंगे । आज भी अकाली दल राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग प्रस्तुत करता रहा हैं ।

3—खालिस्तान की मांग - सिक्खों के लिए पृथक राज्य, "खालिस्तान" की मांग नहीं है । "सिक्ख देश" की मांग भारत की आजादी के दिनों से पहले की हैं । खालसा पन्थ का कहना है कि सिक्खों को धोखाधड़ी से भारतीय गणतन्त्र में शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था । पन्थ यह भी कहता है कि भारत के हिन्दू धर्म बहुमत से एक जूट होकर इस बात पर जोर देते हुए कि सिख धर्म का हिन्दु धर्म का ही अंग है, सिख धर्म को बर्बाद करने की कोशिश की और उनकी पंजाबी भाषा की एक बोली मात्र घोषित करके पंजाब को द्विभाषी प्रदेश बनाकर उनकी भाषा को नीचा दिखाने की कोशिश की ।[1]

1. **दिनमान**, 25 — 31 अक्टूबर 1987 पृ0 47

खालिस्तान की यह मांग (खासतौर से 1980 – 1988 की अवधि में) एकाएक चिन्ता का विषय इसलिए बन उठी थी कि पहले इसका समर्थन एक मुटठी भर उग्र तत्व करते थें, लेकिन अब प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके समर्थन में राजनीतिक इस प्रकार की दल तो आ ही गये, सिखों की वे संस्थाएं भी अपने मंच का उपयोग इस प्रकार की गतिविधियों के लिए करने लगी जो केवल गुरूद्वारों और शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्ध से ताल्लुक रखती थी ।

आनन्दपुर साहिब में आयोजित शैक्षिक सम्मेलन के मंच से पृथक सिख राज्य की मांग की गयी । इसके बाद शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने जिसका गुरूद्वारा और उनकी विशाल सम्पत्ति पर नियंत्रण है, इसी प्रकार का एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया । इस पर अकाली दल के लोगोंवाल गुट का प्रभुत्व हैं । बाद में पृथक सिख कौम के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सह–सदस्यता प्राप्त करने के बारे में अकाली दल के तलवंडी गुट ने प्रस्ताव पास कर दिया वे भारत संघ के अन्दर पृथक सिख राज्य चाहते हैं ।

(4)-आसाम में मिजों मांग - आसाम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलों के नेता भारतीय संघ से पृथक होने की लागातार मांग करते रहे हैं । वे एक "स्वाधीनमिजो राज्य" की स्थापना करना चाहते थे । इस ध्येय की पूर्ति के लिए मिजों राष्ट्रीय फ्रण्ट की स्थापना की गयी । मिजों लोगों ने सशस्त्र आन्दोलन का मार्ग अपनाया । 1962 के चीन आक्रमण के समय फ्रण्ट पर प्रतिबंध लगा दिया गया किन्तु कछार और त्रिपुरा क्षेत्रों में इनकी गतिविधियां चलती रही । सन् 1971 में मिजों नेता मिजो राज्य की मांग के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने की मांग करने लगे । मिजों लोगों की राजनीति आकांक्षाओं को देखे हुए केन्द्रीय सरकार ने मिजोंरम नामक संघीय क्षेत्र की स्थापना की और सन् 1987 में इसे पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान किया ।

5–आसाम में नागा आन्दोलन - आसाम में नागा जाति ने भी भारतीय संघ से अलग होने का आन्दोलन छेड़ा । फीजों के नेतृत्व में नागा राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गयी और हिंसात्मक संघर्ष की सक्रिय गतिविधियां प्रारम्भ कर दी गयी । सन् 1952 में नागा लोगों ले प्रथम आम चुनाव का वहिष्कार किया । फीजो ने यहां तक कहा वे नागा लोगों को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जायेंगें । 1960 में नागाओं और केन्द्रीय सरकार के मध्य तक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप नागा राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ ।

6-पृथक तेलंगाना आन्दोलन - 1960 के दशक में तेलंगाना को पृथक राज्य बनाने की मांग की गयी । तेलंगाना आन्दोलन के लोगों का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित आर्थिक विकास नहीं हो रहा है । जनवरी 1969 से पृथक राज्य के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसका नेतृत्व डॉ0 चेन्ना रेड्डी एवं तेलंगाना प्रजा समिति जैसे संगठन

ने किया । हाल में 1969 की तरह फिर एक बार पृथक तेलंगाना की मांग जोर पकड़ने लगी । पृथक तेलंगाना की मांग करने वालों को डॉ0 चेन्ना रेड्डी का परदे के पीछे से समर्थन प्राप्त था । 8 जुलाई 1985 तेलंगाना के प्रबल समर्थक पूर्व पार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आन्दोलन की शुरूआत की ।[1]

7—**स्वतन्त्र गोरखालैण्ड की मांग** - 1986 पं0 बंगाल के पहाड़ी क्षेंत्र के लोगों ने स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग प्रस्तुत की है । मई 1988 में दर्जिलिंग एवं कालिम पोंग में तीन दिन का सफल बन्ध गोरखा मुक्ति मोर्च ने आयोजित किया । नेपाल से आये गोरखा लोगों ने इस संगठन के माध्यम से यह मांग रखी कि उनका स्वतंत्र देश गोरखालैण्ड बनाया जाये । सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा पिछले दो वर्षो से प0 बंगाल में सक्रिय हैं ।[2]

4— सरकारिया आयोग से अपेक्षाऐ :-

केन्द्र – राज्य सम्बन्धों के सम्पूर्ण ढांचे पर विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने मार्च 1983 में सरकारिया आयोग की नियुक्ति की । तीन सदस्यीय सरकारिया आयोग ने नवम्बर 1987 में अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की आयोग की रिपोर्ट 1,600 पृष्ठों की है और चार खण्डों में हैं । आयोग ने रिपोर्ट का कोई सारांश नहीं दिया है। आयोग का यह मानना है कि कोई भी सारांश केवल कुछ मुद्दों पर ही प्रकाश डाल सकता है । आयोग चाहता है कि उसकी समूची रिपोर्ट को पढ़ा जाये और उसके निष्कर्षो को सही सन्दर्भ में समझा जाये ।

सरकारिया आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं ।

(1)— सुदृढ. केन्द्र की अपरिहार्यता -

'सरकारिया आयोग केन्द्र के अधिकार कम करने के अधिकतर प्रस्तावों के खिलाफ है । आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि देश की एकता व अखण्डता के लिए मजबूत केन्द्र अनिवार्य हैं। आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव की चर्चा किये बिना आयोग ने कहा है कि केन्द्र के अधिकारों पर किसी भी प्रकार का अंकुश लगाना उचित नहीं हैं ।

---

1. **राजस्थान पत्रिका** 25.7.1983
2. **राजस्थान पत्रिका** 11.11.1987

(2)–राज्यों में राष्ट्रपति शासन अन्तिम विकल्प के रूप में लागू हो :-

आयोग ने कहा कि किसी राज्य में संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन तभी लागू करना चाहिए जब कोई दूसरा रास्ता न रह गया हो । आयोग के अनुसार यह उपाय बहुत कम अपनाना चाहिए और केन्द्र को तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जबकि राज्य का कामकाज संविधान में दी गयी व्यवस्था के अनुरूप चलाना असम्भव हो जाय । राज्य की समस्या राज्य के स्तर पर ही सुलझायी जानी चाहिए और अनुच्छेद 356 का सहारा लेने के पहले यह देखना चाहिए कि क्या कोई और उपाय भी हैं ?

सरकारिया आयोग का कहना है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के पहले केन्द्र को सम्बन्धित राज्य को इस बारे में चेतावनी देकर स्पष्टीकरण मांगना चाहिए । निर्णय लेते समय इस स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए । अगर केन्द्र को लगे कि विदेशी आक्रमण या आन्तरिक गड़बड़ी के कारण किसी राज्य में संवैधानिक व्यवस्था चरमरा रही है तब ही केन्द्र को परिस्थति से निपटने के लिए अन्य सम्भव उपायों को परखना चाहिए ।

अगर राजनीतिक कारणों से संवैधानिक व्यवस्था टूट रही हो तो राज्यपाल को देखना चाहिए कि क्या विधान सभा में बहुमत वाली सरकार गठित हो सकती हैं ? अगर सरकार की नीति सम्बन्धी किसी प्रश्न पर हार हो जाती है और चुनाव शीघ्र करायें जा सकें तो राज्यपाल को चुनाव तक पुराने मन्त्रिमण्डल को काम–चलाऊ सरकार के रूप में काम करने देना चाहिए । काम–चलाऊ सरकार नीति सम्बन्धी कोई निर्णय नहीं ले सकती और इस प्रकार राजनीतिक संकट से निकालने की जिम्मेदारी मतदाता की होगी।

आयोग ने कहा कि काम चलाऊ सरकार के बारे में अगर यह सब बातें नही होतो राज्यपाल के लिए चुनाव होने तक काम–चलाऊ सरकार को सत्ता सौंपना अनुचित होंगा।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी आदेश दो महीने की भीतर संसद के सामने रखना चाहिए । संसद के अनुमोदन के बाद ही विधान सभा भंग की जानी चाहिए । इसका प्रावधान करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 358 में संशोधन करने का भी आयोग का सुझाव हैं ।

आयोग ने कहा है कि राष्ट्रपति शासन की व्यवस्था अपनाने के पीछे जो कारण है वे इसके बारे में की गई घोषणा का अंग होने चाहिए । राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजी गयी रिपोर्ट भी संसद में रखनी चाहिए क्योंकि इससे यह स्पष्ट होगा कि किन कारणों से राष्ट्रपति ने यह कदम उठाया है । इससे केन्द्रीय कार्यपालिका पर संसद का नियन्त्रण अधिक कारगर होगा ।

(3)—वित्तीय व्यवस्था -

सरकारिया आयोग ने सुझाव दिया है कि योजना आयोग में प्रस्तावित वित्त प्रकोष्ट को रांज्यों की वित्तीय व्यवस्था को भी नियन्त्रित करना चाहिए । अपने सुझाव में आयोग ने कहा कि प्रकोष्ट को वित्त आयोग के मानदण्डों में परिवर्तन का वार्षिक अनुमान भी लगाना चाहिए । इसके बाद योजना आयोग वित्त के पूर्वानुमानों में परिवर्तन व उसके कारण तथा अन्य की वार्षिक समीक्षा को राष्ट्रीय आर्थिक विकास परिषद् के समक्ष पेश करने में समर्थ होगा ।

आयोग ने प्रकोष्ठ को मजबूत बनाने के भी सुझाव दिये । आयोग ने सुझाव दिया कि यदि प्रकोष्ठ योजना आयोग के वित्तीय संसाधन प्रभारी के अधीन कार्य करता है तो योजना आयोग व वित्त आयोग के बीच अधिक समन्वय हो पायेगा ।

सरकारिया आयोग का मानना है कि वित्त आयोग को अपने कार्य के लिए देश के विभिन्न भागों से विशेषज्ञ नियुक्ति करने चाहिए । वित्त आयोग के सचिवालयों में कर्मचारी नियुक्त करने के लिए यदि राज्यों से आवश्यक विशेषज्ञ लिये जाते हैं तो वह अधिक लाभदायक होगा ।

(4)—केन्द्र-राज्यों में करों का बंटवारा -

आयोग ने सिफारिश की है कि निगम कर के उचित बंटवारे के लिए संविधान में संशोधन किया जाये । आयोग ने राज्यों की इस मांग को अस्वीकार कर दिया कि उन्हें उत्पादक के एवज में बिक्री कर में अधिक हिस्सा दिया जाये ।

(5)—समवर्ती सूची के मसले -

आयोग ने सलाह दी है कि समवर्ती सूची के मामलों पर केन्द्र सरकार व राज्यों में विचार—विमर्श होना चाहिए । जो कि इस समय नहीं हो रहा हैं । संघ सूची में उल्लेखित विषय संख्या 97 जिसमें कि अविशिष्ट विषयों का उल्लेख है, कर लगाने सम्बन्धी मामलों को छोड़कर इसे समवर्ती सूची में रखा जाना चाहिए ।

(6)—राज्यों को ऋण -

आयोग का मत है कि राज्यों को ऋण देने की पद्धति पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए तथा केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं की संख्या कम से कम रखी जानी

चाहिए, खासकर' योजना अवधि के बीच में कोई नयी परियोजना शुरू नहीं की जानी चाहिए ।

(7)–राज्यों में केन्द्रीय रक्षा बल -

आयोग ने कहा है कि राज्यों में केन्द्रीय· सुरक्षा बलों को तैनात करने के मामलें में केन्द्र को निर्णय लेने का पूरा अधिकार होना चाहिए । यदि आवश्यक हो और केन्द्र सरकार चाहे तो राज्य सरकार की इच्छा के विपरीत भी राज्यों में सुरक्षा बल तैनात कर सकती हैं ।

(8)–अखिल भारतीय सेवा -

सरकारिया आयोग ने इन्जीनियरी, चिकित्सा और शिक्षा के लिए अखिल भारतीय सेवा गठित करने का सुझाव दिया हैं । आयोग ने कृषि, सहकारिता और उद्योग के लिए भी अखिल भारतीय सेवा गठन करने की सिफारिश की हैं । इन सेवाओं के गठन के प्रथम चरण के रूप में केन्द्र और विभिन्न राज्यों से अफसरों का पूल बनाकर निश्चित अवधि के लिए आकर्षक वेतन पर उनकी नियुक्ति अन्य राज्यों में की जाय ।

पूल प्रणाली के कुछ वर्षो तक ठीक से काम करने के बाद इस सेक्टर में अखिल भारतीय सेवा के गठन की दिशा में कदम उठाना चाहिए । आयोग ने कहा कि अखिल भारतीय सेवाओं को समाप्त करने या किसी राज्य के इससे अलग होने की अनुमति देना देश के व्यापक हित में नहीं होगा ।

सेनाओं को मजबूत बनाने के लिए केन्द्र और राज्यों में समय–समय पर बातचीत होनी चाहिए तथा केन्द्र में डेपुटेशन पर अपने अफसरों को भेजने केबारे में राज्यों पर अनिवार्यता का अंश होना चाहिए तथा वर्तमान में डेपुटेशन पर भेजे जाने वाले अफसरों की सहमति लेने की प्रक्रिया समाप्त होनी चाहिए ।

(9)–योजना आयोग -

सरकारिया अयोग इस बात के पक्ष नहीं है कि योजना आयोग को स्वायत्त संस्था बना दिया जाये । आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि ऐसे स्वायत्त संगठन का कामकाज कानूनी पचड़ों, अड़ियल रूख और पेचीदगियों से ग्रस्त होगा । आयोग का यह भी मानना है कि योजना आयोग को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से बाहर नहीं होना चाहिए ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि योजना आयोग को स्वायत्तता देने का विकल्प यह है कि इस संस्था और उसके कामकाज में सुधार लाया जाये। योजना प्रक्रिया के सभी चरणों में योजना आयोग राज्यों से पूर्ण ओर प्रभावी विचार – विमर्श करें ताकि राज्य यह महसूस कर सकें कि उनकी भूमिका पूरक नहीं बल्कि बराबरी के भागीदार की हैं ।

सरकारिया आयोग की राय में योजना आयोग से विचार–विमर्श के सम्बन्ध में स्वस्थ परम्परा कायम हो और योजना आयोग के सुझावों को समुचित महत्त्व दिया जाना चाहिये । इससे आयोग पर केन्द्र के प्रभुत्व और उसे केन्द्र सरकार की एक भुजा मानने सम्बन्धी सभी शंकाऐं दूर हो जायेगी ।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि योजना आयोग का उपाध्यक्ष ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञ हो, जो अपनी वस्तुनिष्ठता और प्रसिद्धि से केन्द्र के साथ ही राज्य सरकारों का भी विश्वास प्राप्त कर सके । आयोग का कहना है कि उपाध्यक्ष की नियुक्ति राजनीतिक आधारों पर नहीं की जानी चाहिए । सुझाव दिया गया है कि योजना आयोग के वस्तुनिष्ठ तरीके से काम करने की क्षमता के प्रति किसी भी सन्देह को दूर करने के लिए आयोग में ऐसे विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाये जिनकी पेशेवर निष्ठा और योग्यता की साख स्थापित हो ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि बड़े स्तर के निवेश के सभी फैसलों से पहले योजना आयोग से अवश्य विचार – विमर्श किया जाना चाहिए ।

(10)–राष्ट्रीय विकास परिषद -

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् को ओर अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सकें । आयोग के अनुसार इसका पुनर्गठन करके नाम बदलकर राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद् कर दिया जाये ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि केन्द्र सरकार राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद् से विचार – विमर्श कर सभी राज्यों की नगरपालिकाओं और पंचायतों के चुनाव नियमित कर इनमें एकरूपता विकसित करें । आयोग का सुझाव हैं कि इसके लिए संविधान में संशोधन किया जाये ।

(11)–अन्तर्राज्यीय परिषद -

सरकारिया आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 263 में उल्लिखित अन्तर्राज्यी परिषद् की स्थापना पर जोर दिया हैं । यह परिषद् सामाजिक आर्थिक नियोजन और विकास के अतिरिक्त मसलों पर विचार विमर्श करेंगी ।

(12)–सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल -

आयोग ने यह भी सिफारिश की हैं कि एक सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल बनाया जाये जिसमें प्रधानमंत्री सभी केन्द्रीय मंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री परिषद् सम्मिलित किये जायें । यह सर्वोच्च मन्त्रिमण्डल ऐसे मसलों पर विचार करें जो केन्द्र और राज्यों के साझे हितों से सम्बन्धित हों ।

(13)–राज्यपाल -

आयोग का सुझाव हैं कि केन्द्र में सत्तागढ़ पार्टी के अलावा किसी दूसरी पार्टी द्वारा शासित राज्य में केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त नहीं करना चाहिए । राज्यपाल के पद से निवृत होने के बाद किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पर नहीं देना चाहिए । वह उपराष्ट्रपति का चुनाव लड़ सकता हैं पद दलगत राजनीति में सक्रिय भाग नहीं ले सकता ।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि संविधान के अनुच्छेद 155 में संशोधन कर राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह मसविरे की व्यवस्था की जानी चाहिए ।

राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यता के बारे में आयोग ने कहा है कि उसे किसी क्षेत्र में जानी–मानी हस्ती होना चाहिए । राज्य की राजनीति में उसका सक्रिय भाग नहीं होना चाहिए । तटस्थ होना चाहिये । आयोग ने कहा कि वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए । जिसने राजनीति में सक्रिय भाग और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग नहीं लिया हो ।

(14)–जांच आयोग-

जांच आयोग की नियुक्ति के अधिकार का दुरूपयोग रोकने के लिए आयोग ने कहा है कि किसी राज्य के मुख्यमंत्री या पूर्व मुख्यमंत्री के विरूद्ध पद के दुरूपयोग के आरोपों की जांच के लिए आयोग की नियुक्ति के प्रस्ताव पर संसद के दोनों सदनों में मौजूद और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत का समर्थन होना चाहिए ।

यह जानना रूचिकर है कि आयोग की प्रश्नावली के 12 भागों में से 11 भाग सीधे केन्द्र राज्य संबंधों से संदर्भित नहीं है, ये मूलतः संविधान के क्रियान्वयन के दौरान उत्पन्न हुऐ वे व्यावहारिक पक्ष है, जिन्हें आपसी सहयोगी और सद्भाव और सम्मिलित प्रयासों से हल किया जा सकता था । परन्तु यह इसलिऐ संभव नहीं है कि भारत में प्रजातंत्रिक व्यवस्था का मूल, हित ग्राही राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था है, अतः आयोग जो इस संवेदनशील विषय पर, अपने सुझाव व्यक्त करने हेतु नियुक्त किया गया है । वह हित ग्राही राजनीति के संतुलन कारक को दर्शा तो सकता है, परन्तु जन भावनाओं, जन आकांक्षाओं को पूर्ण नहीं कर सकता, फिर भी अपने सीमित सीमा क्षेत्र में सरकारिया आयोग को जो दायित्व सौंपे गये हैं। उन आधारों पर सरकारिया आयोग से निम्नलिखित अपेक्षाऐं की जा सकती हैं ।

प्रथम -

सरकारिया आयोग से यह अपेक्षा रखना भूल नहीं होगी कि वह केन्द्र राज्य के बीच अधिकार वितरण के बजाए शक्ति वितरण को महत्त्व दे क्योंकि यदि शक्ति वितरण के सिद्धांत तय नहीं किये गऐ, तो अधिकार वितरण के बावजूद उन अधिकारों को प्रयोग करने की पद्धति एवं आकांक्षा क्षीण होगी ।

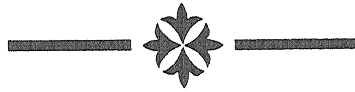
द्वितीय -

सरकारिया आयोग से यह अपेक्षा रखना भूल नहीं होगी कि केन्द्र राज्य संबंधों में सबसे विवाद ग्रस्त प्रश्न वित्तीय संबंध में राज्यों को अधिक आय के स्रोत और राजस्व के वितरण हेतु समीक्षात्मक सिद्धांत तय करें । यद्यपि ऐसा करना उसके दायरे के बाहर है, क्योंकि यह काम वित्त आयोग तथा योजना आयोग का है, परन्तु सरकारिया आयोग दिशा निर्देशक सिद्धांत इस संबंध में दे सकता हैं, जिससे वित्तीय आयोग योजना आयोग के क्रियाकलापों के कारण केन्द्र राज्य संबंधों में अवांछित टकराहट और तनाव उत्पन्न न हो ।

सरकारिया आयोग से यह अपेक्षा करना उपयुक्त होगा कि वह प्रशासनिक संबंधों के कारण केन्द्र राज्य संबंधों में आए तनाव के हल हेतु ऐसे दिशा निर्देशक सिद्धांत एवं विषय तय करें जिन पर राज्यों को केन्द्र द्वारा निर्देश दिऐ जाऐं । प्रत्येक विषय पर संविधान के अनुच्छेद 256, 257 का प्रयोग न केवल अवांछनीय है, बल्कि राज्य समन्वय और राष्ट्रीय एकाग्रता को भी खतरा हैं । हालांकि इस पर अमल बहुत कठिन काम है, फिर भी दिशा निर्देशक सिद्धांत तो तय किऐ ही जा सकते हैं ।

विविध मामलों से संबंधित विषयों के मामले में सरकारिया आयोग से यह अपेक्षा रखी जा सकती हैं कि वह प्रत्येक विषय हेतु संक्षिप्त दिशा सूचक सिद्धांत तय कर सकता हैं।

अंत में सरकारिया आयोग से यह अपेक्षा रखना व्यर्थ नहीं होगा, कि मौजूदा, आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुऐ वह केन्द्र राज्य तनावों को शिथिल करने हेतु भरसक प्रयत्न करेगा ।



अध्याय चतुर्थ

केन्द्र राज्य संबंध-विधायी एवं प्रशासनिक पक्ष

1. भारत में राज्य निर्मिति का इतिहास,
2. म०प्र० से संदर्भित केन्द्र राज्य सन्व्यवहार (राज्यपाल की भूमिका सहित)
3. केन्द्र व राज्यों के प्रशासनिक संबंध,

केन्द्र राज्य संबंध - विधायी एवं प्रशासनिक पक्ष (म०प्र० के संदर्भ में)

संघीय प्रशासन एवं संघीय प्रबंधन राष्ट्र राज्य (Nation State) की प्रमुख आवश्यकता है । सोवियत रूस, चीन एवं वियतनाम को छोड़कर अन्य समस्त देशों में वर्तमान आर्थिक राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्र राज्य काम कर रहे हैं । भारत भी इसका अपवाद नहीं है। राष्ट्र राज्य की मूल संकल्पना मूलतः क्षेत्रीय अधिग्रहण के माध्यम से व्यापार और वाणिज्य के एकाधिकार हेतु क्षेत्रीय संतुलन एवं सामंजस्य का आधार लेकर राजनीतिक एकाधिकार स्थापित करता है । जिन क्षेत्रों में क्षेत्रीय समन्वय एवं सामंजस्य पूर्णतः स्थापित होता है उन क्षेत्रों में संघीय प्रशासन अपने कियान्वयन के लिऐ अपेक्षाकृत सामान्य अथवा फलीभूत दशाऐं पाता है । उदाहरण के लिऐ संयुक्त राज्य अमेरिका एवं स्विट्जरलैण्ड को पाते हैं।

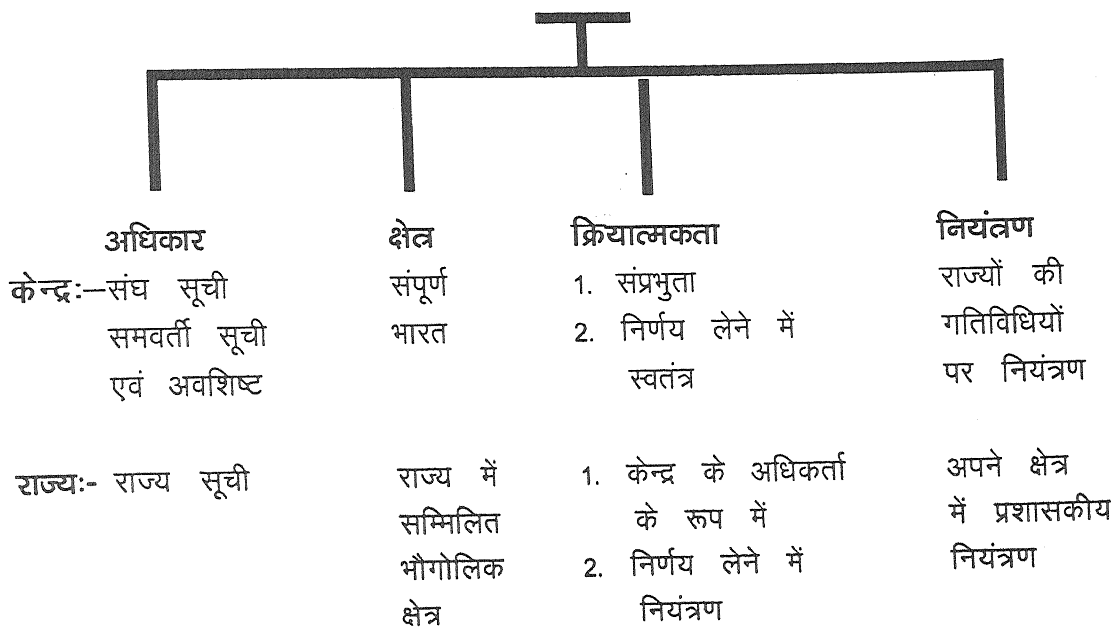
मूलतः संघीय प्रबंधन का प्रश्न क्षेत्रीय एवं अपेक्षतया सामान्यकृत हितों के सामंजस्य का परिणाम होता है । जिस तरह बहुराष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय निगामों, उपागमों एवं कार्यालयों की क्षेत्रीय एवं स्थानीय शाखाऐं कार्य करती हैं, ठीक उसी तरह संघीय प्रबंधन का प्रारूप भी निर्मित होता है ।

राजनीति मूलतः अर्थ नीति का क्षेत्रगतनीति के आधार पर समन्वय मात्र है, इसलिऐ इसे व्यापार वाणिज्य की प्रविधि एवं तदनुसार निर्मित आर्थिक क्षेत्र के ढ़ाँचे के नियंत्रण कक्ष के रूप में जाना चाहिऐ । राजनीति स्वयं कभी दूर नियंत्रित नहीं होती, परन्तु राजनीति अथवा अर्थ नीति हमेशा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दूर नियंत्रित होती है ।

केन्द्र राज्य संबंध मूलतः विभाजक रेखाओं के संबंध है, न कि अधिकार संपन्नता के संबंध ।

केन्द्र राज्य संबंधों के अध्ययन में ध्यान यदि किसी विशेष राज्य के संबंध को दिया जाता है, तब अधिकार विभाजक यह रेखा अस्पष्ट हो जाती है । इस विभाजक रेखा को हम लोग चार विषयक क्षेत्रों में बांट सकते हैं । ये विषयक क्षेत्र है, अधिकार, क्षेत्र, क्रियात्मकता और नियंत्रण दिये गऐ चार्ट में यह विभाजक रेखा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं ।

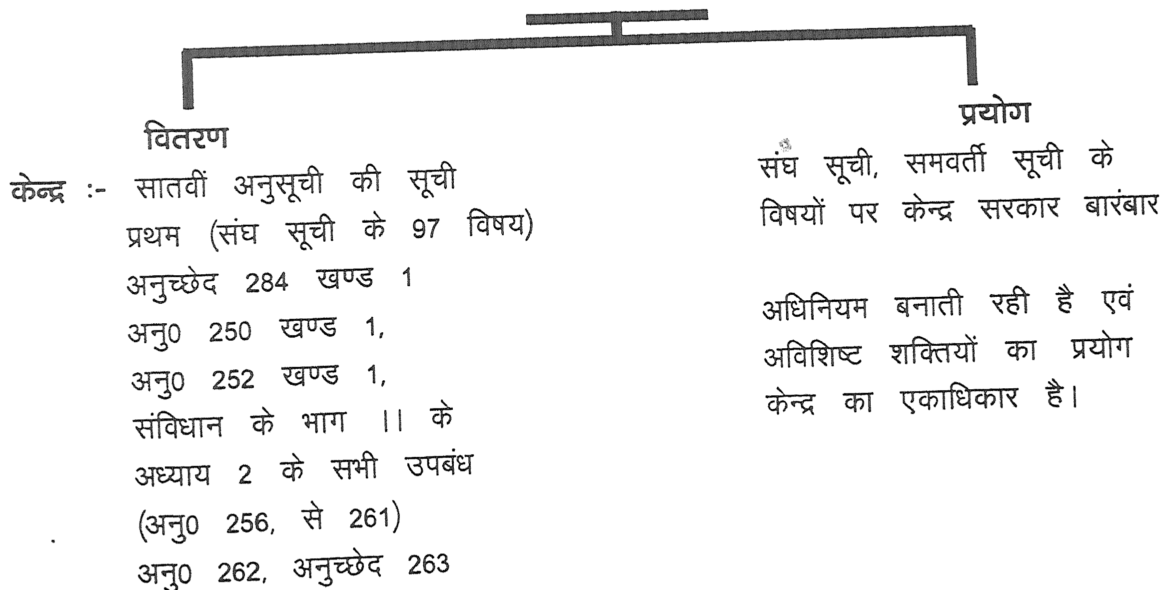
चार्ट क्रमांक 4



उपरोक्त चार्ट से यह स्पष्ट होता है, कि संविधान में शक्ति का मूल स्रोत केन्द्र को माना जाता है, संप्रभुता और नियंत्रण लेने में स्वतंत्रता के जरिये केन्द्र अपनी शक्ति और अधिकारों का प्रयोग न केवल राज्यों की गतिविधियों को नियंत्रित करने के लिये करता है, बल्कि भारत के बाहर भारतीय हितों की सुरक्षा एवं भारत के प्रयास क्षेत्र को बढ़ाने हेतु प्रयोग करता है । नीचे दिया गया संलग्न चार्ट इस संबंध में संवैधानिक स्थिति को स्पष्ट करता है ।

चार्ट क्रमांक 4 का अनुलग्नक चार्ट (4 (A))

अधिकार



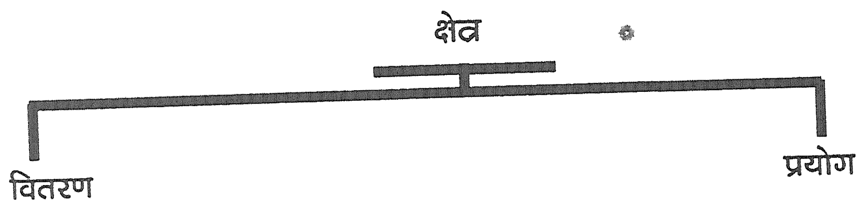
राज्य :- राज्य सूची के 66 विषय समवर्ती सूची के 47 विषय, किसी परन्तु समवर्ती सूची के विषय पर राज्य द्वारा निर्मित कानून और केन्द्र द्वारा निर्मित कानून की गतिरोध की दशा में केन्द्र का कानून प्रभावी होगा । (अनुच्छेद 251 के अनुसार)

राज्यपाल राज्य विधान समाद्वारा पारित, किसी अधिनियम को राष्ट्रपति की पुष्टि के लिऐ रोक सकता है । (अनुच्छेद 200 ओर 201 के अनुसार)

उपरोक्त चार्ट के विश्लेषण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि केन्द्र शासन सरकार एवं राजनीति की समस्त शक्तियों के स्रोतों का जनक है । अधिकार वितरण के उपरोक्त चार्ट के केन्द्र के अन्तर्गत दी गई लम्बी सूची इस बात को स्पष्ट रेखांकित करती है, कि केन्द्र और राज्यों के बीच विभाजक रेखा कितनी कम है, कोई आश्चर्य नहीं यदि केन्द्र द्वारा मामूली से बहाने पर राज्य सूची का अतिक्रमण कर लिया जाऐ, अवशिष्ट शक्तियों की चर्चा ही व्यर्थ हैं ।

प्रयोग की तालिका का यदि अवलोकन करें तो राज्यों के साथ स्पष्टतः एक पक्षीय व्यवहार किया गया हैं यदि राज्य सूची के 66 विषयों एवं समवर्ती सूची के 47 विषयों पर कानून बनाने हेतु सक्षम है, तो उन कानूनों पर राष्ट्रपति के अतिरिक्त अनुमोदन की वांछनीयता शोध छात्रा की समझ से परे है ।

चार्ट क्रमांक 4 अनुलग्नक चार्ट (4 (B))



केन्द्र :- अनुच्छेद (I) के अनुसार भारत राज्यों का संघ है, राज्य की सीमाओं के बारे में संविधान की प्रथम अनुसूची को मार्ग दर्शक बनाया गया है ।

संघीय राज्य क्षेत्र वस्तुतः बहु केन्द्रवादी संघवाद का उल्लंधन है क्योंकि संविधान के अनुच्छेद (I) में राज्य विहीन संघ की कल्पना निहित नहीं है । अतः संघीय क्षेत्रों के अस्तित्व का औचित्य समझ से परे है

राज्य :- संविधान की प्रथम अनुसूची में सम्मिलित 23+8=31, प्रविष्टियाँ उन भौगोलिक क्षेत्रों को सीमांकित करती है जो संविधान के प्रवर्तन के पूर्व किसी राज्य में शामिल थे । अथवा संविधान

के किसी संशोधन के अनुसार उस राज्य या संघीय क्षेत्र में शामिल किऐ गये हों ।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि राज्यों की सीमाओं के बारे में स्थिति निश्चित नहीं है । यह बात उस समय और प्रखर हो जाती है, जब हम अनुच्छेद 3 का अध्ययन करते हैं ।

संसद विधि द्वारा

(A) किसी राज्य में से उसका राज्य क्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ में मिलाकर नये राज्य का निर्माण कर सकेगी।
(B) किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी ।
(C) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी ।
(D) किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी ।
(E) किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी ।

परन्तु इस प्रयोजन के लिऐ कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना और जहाँ विधेयक में अंतर्विष्ट प्रस्थापना का प्रभाव राज्यों में से किसी के क्षेत्र, सीमाओं या नाम पर पड़ता है, वहां जब तक उस राज्य के विधान मण्डल द्वारा उस पर अपने विचार, ऐसी अवधि के भीतर जो निर्देश में विनिर्दिष्ट की जाऐ या ऐसी अतिरिक्त अवधि के भीतर जो राष्ट्रपति द्वारा अनुज्ञात की जाऐ, प्रकट किये जाने के लिऐ वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा उसे निर्देशित नहीं कर दिया गया है और इस प्रकार विनिर्दिष्ट या अनुज्ञात अवधि समाप्त नहीं हो गई है, संसद के किसी सदन में पुनः स्थापित नहीं किया जाऐगा ।

स्पष्टीकरण -1

इस अनुच्छेद के खण्ड (A) से खण्ड (E) में 'राज्य' के अन्तर्गत संघ राज्य क्षेत्र हैं किन्तु (A) में 'राज्य' के अन्तगर्त संघ राज्य क्षेत्र नहीं है ।

स्पष्टीकरण - 2

खण्ड (A) द्वारा संसद को प्रदत्त शक्ति के अंतर्गत किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र के किसी भाग को किसी अन्य राज्य या संघ राज्य क्षेत्र के साथ मिलाकर नये राज्य या संघ राज्य क्षेत्र का निर्माण करना है।[1]

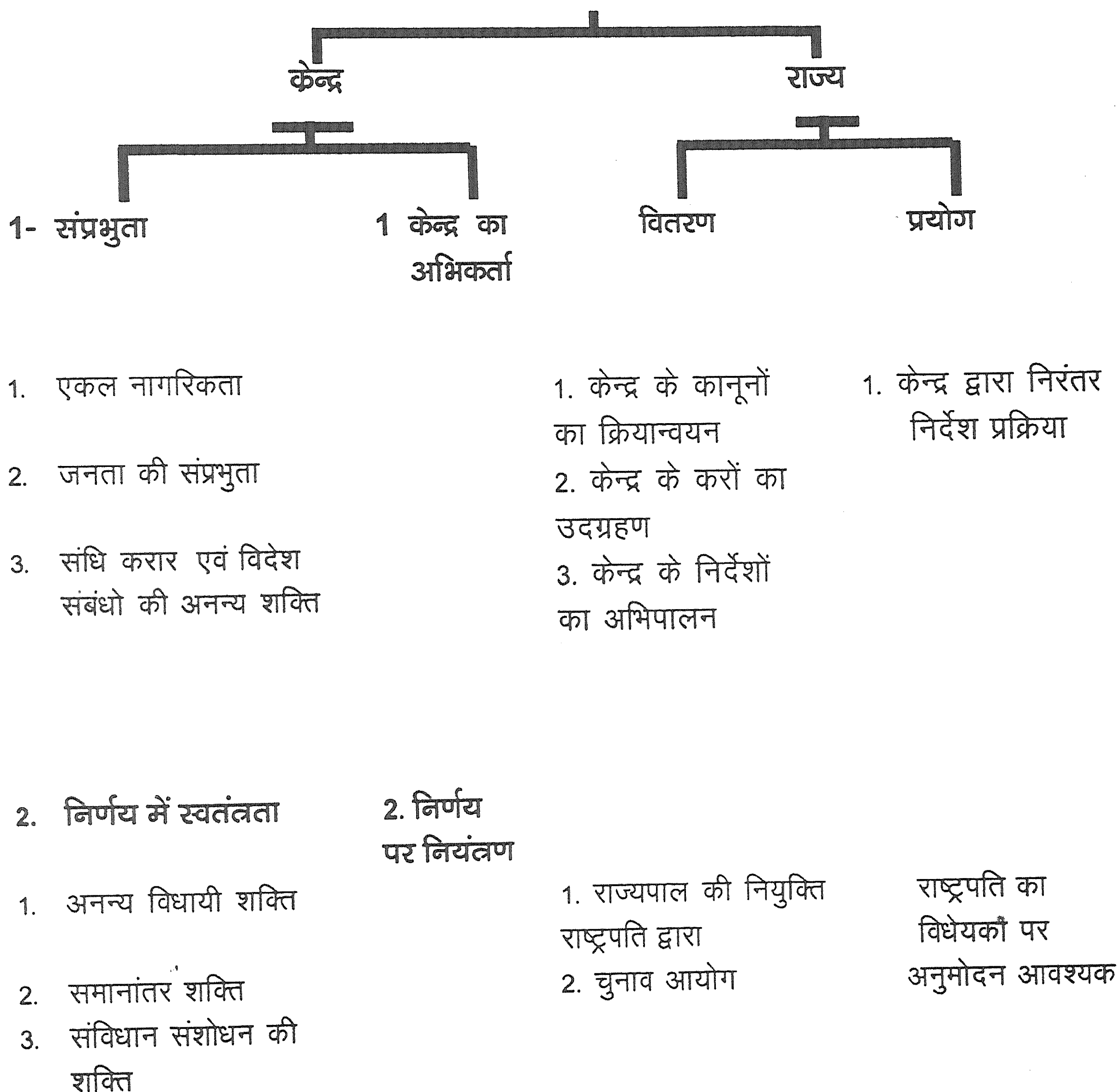
अनुच्छेद 3 के अवलोकन से दो बाते स्पष्ट होती हैं, प्रथमतः संसद नऐ राज्यों

1. **भारतीय संविधान** का अनुच्छेद (3)

का न केवल निर्माण कर सकती है, बल्कि भारत की सीमा के बाहर के किसी क्षेत्र को जोड़ सकती है । (अनुच्छेद 2,सिक्किम का भारत में मिलाया जाना) दूसरी बात जो प्रकट होती है, वो राज्य की न केवल सीमा बल्कि नाम तथा क्षेत्र परिवर्तन कर सकती है, यह संसद की आसाधारण शक्ति है। अब प्रश्न यह उठता है, कि राज्य की समी निश्चित नहीं है, संसद उसमें परिवर्तन कर सकती है, एवं उसके अधिकार भी स्वायत्त न होकर केन्द्र के अधिकर्त्ता के रूप में है, तो राज्यों का औचित्य क्या है ? इस अध्याय में इस विषय पर व्यापक चर्चा की जाऐगी ।

चार्ट क्रमांक 4 का अनुलग्नक चार्ट (4 (C))

क्रियात्मकता :



उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट हो जाता है, कि केन्द्र और राज्य के बीच क्रियात्मकता के तारतम्य में अधिकार और शक्ति वितरण केन्द्र का मूलतः प्रयोगवादी होना और राज्यों का सिद्धांतवादी होना इस तथ्य का संकेत है कि संपूर्ण शक्ति अधिकार केन्द्र द्वारा प्रयोग में लाऐ जाते है और उन शक्तियों एवं अधिकारों के अधोवाहिनी तालिका के रूप में राज्यों

का उपयोग किया जाता है, यह अधोवाहिनी तालिका, क्रियात्मकता में स्वतंत्रता होती है, कार्यात्मक रूप में नही अतः राज्य की स्वायत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता

चार्ट क्रमांक 4 का अनुलग्लनक चार्ट (4 (D))

नियंत्रण

	वितरण	प्रयोग
केन्द्र-	1 केन्द्र द्वारा राज्यों को प्रशासनिक निर्देश	1. केन्द्र द्वारा राज्यों का निरीक्षण
	2. केन्द्र द्वारा राष्ट्रीय कार्यक्रमों के क्रियान्वयत हेतु दिशा निर्देश	2. केन्द्रीय कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का नियंत्रण
	3. वित्त आयोग द्वारा वित्तीय स्रोतों को बंटवारा	3. राज्यों को वित्तीय सहायता अनुदान एवं अतिरिक्त सहायता
राज्य :	1. केन्द्र के निर्देशों का पालन	1. केन्द्र की सहायता पर निर्भर
	2. अपने क्षेत्रों पर प्रशासकीय नियंत्रण	2. राज्य द्वारा अपने क्षेत्र का प्रशासकीय पुनर्गठन

इस चार्ट से यह स्पष्ट हो जाता है कि नियंत्रण के मामले में केन्द्र की शक्ति अनन्य है । राष्ट्रीय हित रक्षण एवं राष्ट्रीय सीमा सुरक्षा हेतु राज्यों के कार्यों का निरीक्षण केन्द्र का दायित्व है । अध्याय तृतीय में विभिन्न चार्टो के माध्यम से हित राजनीति की व्यापक चर्चा की गई है । उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है । संपूर्ण विवरण से यह ज्ञात हो जाता है, कि राज्य अपने आप में मात्र घटक का अस्तित्व रखते है, इनकी क्रियात्मक स्वायत्तता को कार्यात्मक दायरे में नही लेना चाहिये । स्पष्ट हो केन्द्र की स्थापना व्यापक उद्देश्यों एवं पूंजीवाद के व्यापक हितों की रक्षा की दृष्टि से की गई है वर्तमान समय में कोई लघु इकाई अपने सीमित संसाधनों, अपने सीमित स्रोतों के माध्यम से विकास का दायित्व पूरा नहीं कर सकती ।

पूर्णतः राज्य प्रारंभ से ही प्रशासकीय इकाई रहे है । यूनान के नगर राज्यों को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह राज्य शब्द का प्रयोग साम्राज्य अथवा किसी संघ की इकाई के रूप में ही किया गया है । सभ्यता की आवश्यकता की वृद्धि के साथ साथ क्षेत्रीय विस्तार विकास व्यापक आर्थिक क्षेत्र का प्रबंध आदि बातों ने वृहत राजनीतिक संगठनों की आवश्यकता को उजागर किया एवं इस राजनीतिक संगठन को अपनी प्राथमिक अवस्था में ही संरचनात्मक स्वरूप प्रदान करते हुऐ उसका कार्यगत दायरा निर्धारित किया गया । इसे ही संघीय प्रशासन या प्रबंधन कहा जाता है।

1- भारत में राज्य निर्मिति का इतिहास

भारत के वर्तमान राज्य अंग्रेजी साम्राज्य के प्रारंभिक पुनर्गठन की देन है । 23 जून, 1757 के प्लासी के युद्ध 10 जनवरी 1761 के पानीपत् के तीसरे युद्ध एवं 24 सितंबर 1764, के बक्सर के युद्ध ने भारत की राजनीतिक स्थिति पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दी थी । इस परिवर्तित राजनीतिक स्थिति का परिणाम कंपनी द्वारा जीते गये प्रदेशों के प्रशासनिक पुनर्गठन में हुआ । वर्तमान भारतीय राज्य एवं उनका स्वरूप इसी प्रशासकीय पुनगर्ठन के दौरान निर्मित हुऐ । 1854 आते, आते ब्रिटिश भारत सात प्रांतों में विभाजित हो चुका था, ये प्रांत थे –

यूनाइटेड प्रोविन्स, सेन्ट्रल प्रोविन्स, मद्रास, बंगाल, बिहार, पंजाब, बम्बई 1909 तक आते–आते इसमें चार प्रांत और सम्मिलित हो चुके थे, ये प्रांत थे – आसाम, एन0 डब्ल्यू0 एफ0 पी0, सिंध और वर्मा, बाकी, भारत देशी रियासतों के अधीन था । सन् 1919 के अधिनियम के द्वारा इन ग्यारह प्रांतों को प्रोविन्स के रूप मे मान्यता दी गई । 1935 में भी इस स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया था । वर्तमान संविधान के प्रवर्तन के समय भारत में तीन प्रकार के राज्य थे । पार्ट "ए" स्टेट, पार्ट "बी" स्टेट और पार्ट "सी" के राज्य । पार्ट "ए" के राज्यों की संख्या थी 17, पार्ट "बी" के राज्यों की संख्या 8 और पार्ट "सी" के राज्यों की संख्या 6 थी । 1953 तक भारत के पुनर्गठन की मांग जोर पकड़ने लगी । इसका परिणाम 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना है । वस्तुतः पुनर्गठन की मांग स्वयं में हितग्राही राजनीति का प्रतिनिधित्व करती है । बदली हुई परिस्थिति में पुराने हित कायम नही रह सके अतः पुनर्गठन वांछित और आवश्यक हो गया ।

भारतीय इतिहास की ओर दृष्टिपात करें तो यह रोचक तथ्य प्रकट हो जाता है, कि 23 जनू 1757 से लेकर 15 अगस्त 1947 तक के 190 वर्षो के दौरान भारत के लगभग 7 बार प्रशासनिक पुनर्गठन हुऐ (1773[1], 1784[2], 1793[3], 1833[4], 1854[5], 1874[6], और 1892 से 1903[7],) परन्तु इन प्रशासनिक पुनगर्ठनों का भारतीय राजनीति पर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ा । अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय राज्य मूलतः प्रशासनिक केन्द्र है ,न कि राजनैतिक केन्द्र । अतः क्षेत्रीय स्वायत्तता की बाते करना संविधान की मूल प्रवृत्ति के विपरीत है ।

मध्यप्रदेश से संदर्भित केन्द्र राज्य संबंधों की परिचर्चा इन्हीं मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुऐ की जाऐगी । जब–जब भी केन्द्र राज्य संबंधों के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीय आधारों पर क्षेत्रीय स्वायत्तता की माँग उठती हैं, तब – तब मुख्यतः राजनीतिक संदर्भ में

---

1. **रेग्यूलेटिंग एक्ट,**
2. **पिट्स इंडिया एक्ट** (ईस्ट इंटिया कंपनी एक्ट)
3. **चार्टर एक्ट**
4. **चार्टर एक्ट**
5. **यूनाइटेड प्रोविन्स,** विन्ध्य प्रदेश, सी0पी0 एंव बरार का पुनर्गठन
6. **मेयो रेफार्म्स**
7. **लार्ड कर्जन** एवं उनके पूर्ववर्ती का पुनर्गठन अभियान

राज्य के क्षेत्रीय आधारों को ध्यान में रखते हुऐ उसकी क्षेत्रीय स्वायत्तता की बात उठाई जाती है । यह क्षेत्रीय स्वायत्तता समस्त संदर्भों को ध्यान में रखते हुऐ भी क्षेत्रीय हित संग्रहण की नीति के अलावा अन्य कुछ नहीं है । चाहे कितना ही बड़े राज्य क्यों न हो यदि केन्द्र अधीन है, तो उसके प्राकृतिक, नैसार्गिक क्षेत्राधीन आर्थिक एवं अन्य स्रोत केन्द्र के अधीन होंगे । केन्द्राधीन राज्य की स्वायत्तता की कल्पना नहीं की जा सकती । मध्यप्रदेश के साथ संसाधनों के मामले में भले ही निष्पक्षता बरती गई हो, परन्तु उसे इसी तारतम्य में समझना चाहिऐ । स्वयं मध्यप्रदेश प्राकृतिक एवं नैसर्गिक साधनों में बिहार के छोटा नागपुर क्षेत्र के पश्चात अपना द्वितीय स्थान रखता है । प्रकृति मध्यप्रदेश के संदर्भ में सर्वाधिक उदार है । परन्तु प्रगति के क्षेत्र में वह शून्य स्थान रखता है । मध्यप्रदेश के ऐसे अनेकों इलाके है जहाँ प्रगति ने रास्ता नहीं देखा मध्य प्रदेश के ऐसे अन्य इलाके भी है जिन्होंने अर्ध प्रगति की अवस्था प्राप्त की है । मध्यप्रदेश के कई इलाके पर्याप्त प्रगति पर है । प्रश्न यह उठता है, प्रगति का केन्द्र राज्य संबंधों से क्या तात्पर्य है ? प्रथमतः इसका उत्तर यह है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी द्वारा शासित होते हुऐ भी प्राप्ति के मामले में यह राज्य शून्य रहा है । यह सही है कि सतारूढ़ पक्ष के अधिकाधिक सदस्य होने कारण विधान सभा अपना पक्ष रखने में स्वयं को इतनी सक्षम न समझती हो परन्तु जहां तक वैधानिक संबंधों का प्रश्न है, वहाँ तक राज्य की प्रगति एवं विकास से संदर्भित सभी वैद्यानिक एवं कार्यगत मुद्दों को विधान सभा में चर्चित किया गया, केन्द्र के सामने अब तक क्यों न पेश किया जा सका ? यह बात सामान्य बुद्धि स्वर की मेरे जैसी शोध छात्रा की समझ से परे है ।

2- मध्य प्रदेश से संदर्भित केन्द्र राज्य संव्यवहार (राज्यपाल की भूमिका सहित)

म0प्र0 के संबंध में केन्द्र राज्य की चर्चा करते समय मूलतः चार पक्षों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है । प्रथम पक्ष वैद्यानिक मुद्‌दों से संबंध रखता है, द्वितीय पक्ष प्रशासनिक मुद्‌दों को ध्यान में रखता है, तृतीय पक्ष नियोजन संबंधी मुद्‌दों को ध्यान में रखता है, चतुर्थ और सर्वाधिक व्यावहारिक पक्ष वित्तीय संबंधों को ध्यान में रखता है । इस अध्याय में प्रथम दो मुद्‌दों की चर्चा की जाऐगी । अन्य दो मुद्‌दों की चर्चा अगले अध्याय में होगी ।

वस्तुतः मध्यप्रदेश केन्द्र राज्य संबंधों के मामले में कभी समस्याग्रस्त नहीं रहा, परन्तु वैधानिक तौर पर केन्द्र राज्य संबंधों की परिचर्चा आवश्यक हो जाती है । मूलतः वैधानिक प्रश्न राजनीतिक स्थिति से जुड़े होते है और मध्य प्रदेश में अनेकों मुख्यमंत्री बदले जाने के बावजूद मध्यप्रदेश की राजनीति प्रदेश की राजनीति क्षेत्रीय दायरों से आगे नहीं बढ़ी । कतिपय राज्यपालों ने प्रदेश की राजनीति में हस्तक्षेप किया जरूर, परंतु राजनेताओं के नीति तनाव को दूर रखने की ही रही । राज्यपालों की नियुक्ति को लेकर जो अप्रिय विवाद अन्य राज्यों में उठ खड़े हुऐ है उसकी झलक मध्य प्रदेश में दिखाई तक नहीं देती । मध्य प्रदेश के बहुत कम विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के अनुमोदन हेतु रोके गऐ है । भूमि सीमा संबंधी कानूनों को केन्द्र द्वारा संविधान नवीं अनुसूचि में व्यापक संरक्षण

दिया गया है । अतः वैधानिक संबंधों में विवाद का प्रश्न नहीं उठता ।

जहाँ तक प्रशासकीय संबंधों का प्रश्न है, केन्द्रीय कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में केन्द्र को व्यापक निर्देश देने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई । यह कार्य सत्तारूढ़ पार्टी खुद, बखुद राजनीतिक स्तर पर करती रही है । अन्य मामले में प्रशासकीय निर्देश देने की कोई घटना अभी तक प्रकाश में नही आई, यद्यपि पिछले दिनों में वित्तीय संबंधों में अवश्य दरार पड़ी है, परन्तु उस हेतु केन्द्र द्वारा मध्य प्रदेश को अलग से कोई निर्देश देने की घटना प्रकाश में नही आई ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि मध्य प्रदेश केन्द्र राज्य संबंधों के संदर्भ में कभी भी चर्चित या विवादास्पद नहीं रहा है । जैसे कि बंगाल उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, बिहार, काश्मीर अथवा आंध्र प्रदेश रहे हैं । इसका मूल कारण यह है कि मध्य प्रदेश प्रारंभ से ही एक शांत प्रदेश रहा है, राजनीतिक दृष्टि से । अपनी राजनीतिक बड़ी सीमा और क्षेत्रफल के बावजूद यहां की राजनीति ने हमेशा ही क्षेत्रीय संकीर्णता का पक्ष लिया है, और यह क्षेत्रीय दायरे से ऊपर मध्य प्रदेश कभी भी केन्द्र राज्य संबंधों के तनाव का पक्षपाती नहीं रहा ।

केन्द्र राज्य संबंधों के सर्वाधिक विवाद का कारण राज्यपालों की मनमाने और राजनैतिक आधारों पर नियुक्ति रही है ।

मध्य प्रदेश में भी राज्यपाल की भूमिका आलोचनाओं के घेरे में आती है । मध्य प्रदेश में अब तक जितने राज्यपाल हो चुके है, उनमें से अधिकांश राज्यपाल सक्रिय राजनीति में रहे है, और केन्द्र में उनका खासा दबदबा रहा है । प्रायः सभी राज्यपालों ने मध्य प्रदेश को बहुत प्रसन्न किया कारण स्पष्ट है, और वह है, केन्द्र और राज्य में समान दल का बहुतायत में शासन सत्ता में होना ।

इस पद की गरिमा का दिन ह्रास होता जा रहा है । भारतीय संविधान में राज्यपाल का पद सृजित करते समय उसकी वैद्यानिक उपादेयता चयन पद्धति आदि पर विस्तृत चर्चा हुई थी । विशेषकर उसकी चयन पद्धति के बारे में काफी शंकाऐं, कुशंकाऐ व्यक्त की गई थी ।[1] जिस तरह आजादी से पूर्व गवर्नर जनरल, वायसराय द्वारा नियुक्त होता था । ठीक उसी तरह स्वतंत्र भारत के संविधान में भी संघीय मुख्य कार्यपालिक द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति की जाती है ।[2]

तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर नियुक्ति की यह पद्धति ही शंकाओं को जन्म देती है । कारण यह है कि सिद्धांततः संघवादी व सत्तावादी राज्य होने के बावजूद भारत की राजनैतिक परंपराओं की शुरूआत अंग्रजों के माध्यम से होने के कारण भारतीय

---

1. अनुच्छेद, 245 से 263, 268 से 290 तक
2. भारतीय संविधान, अनुच्छेद 280

संविधान व्यवहार में एकात्मवादी केन्द्रवादी है और यही कारण है, कि यद्यपि संघीय शासन की नींव रखी गई है, फिर भी वे राज्य स्वायत्त नहीं हैं, क्योंकि स्वायत्तता के मायने संघ और राज्य के बीच समन्वय के आधार पर शक्ति संतुलन है, लेकिन एकात्मवादी केन्द्रवादी सत्ता में यह राज्य के हित के विपरीत जाती है । अतः राज्यों में संघीय हितों की देख रेख के लिऐ (Superintendence of Federal Interest in the State) हेतु व्यापारिक रूप में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा मनोनीत व्यक्ति की राज्यपाल की नियुक्ति ही इसका मुख्य आधार है, अन्यथा संविधान एकात्मवादी, केन्द्रवादी सत्ता की परिपूर्ति हेतु केन्द्र को राज्यों में अपने प्रतिनिधियों की नियुक्ति आवश्यकता हो जाती है अतः यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल अपनी समस्त गरिमा के साथ केन्द्र के साथ केन्द्र के हित संवर्धन का माध्यम तो बनता ही है, साथ ही केन्द्र और राज्यों के बीच, केन्द्र की सुविधा के संतुलन का कारण भी बनता है । अतः राज्यपाल को निश्चित अर्थो में राज्य नियंत्रण हेतु अथवा स्वायत्तता नियंत्रण हेतु केन्द्र के प्रतिनिधि की संज्ञा दी जा सकती है । इसी तारतम्य में यह दृष्टव्य है, कि राज्यपाल केन्द्र और राज्य के बीच के संतुलन कारक होने के कारण केन्द्र राज्य संबंधों के क्रियान्वयन में भी राज्यपाल की भूमिका महत्वपूर्ण कही जा सकती है । केन्द्र राज्य संबंध मूलतः राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पूंजी के अन्तर्गत सम्बद्ध है । राष्ट्रीय पूंजी, क्षेत्रीय पूंजी को अपने अधीन रखकर पूंजी के विस्तार की अनुगामी है । भारतीय संविधान में वर्णित तीन प्रकार के केन्द्र राज्य संबंध दिऐ गये हैं । इनके विस्तृत विवेचन से यह ज्ञात होता है कि सुविधा का संतुलन केन्द्र के पक्ष में अधिक है, क्योंकि विधायी संबंधों के क्षेत्र में केन्द्र के विधि निर्माण के अधिकार संबंधों के क्षेत्र में केन्द्रीय संसद को केन्द्र सूची एवं समवर्ती सूची के संबंध में वर्णित विषयों पर निर्णायक अधिनियम बनाने की शक्ति प्राप्त है । (7 वीं अनुसूची भाग 1 और 3) साथ ही अनुक्रमांक 248 (2) यह प्रावधान भी करता है कि संसद को ऐसे सभी विषय जो 7 वीं अनुसूची में नहीं है, पर निर्णायक अधिनियम बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है । इसमें करारोपण भी सम्मिलित है । अनु0 248 भाग 1 और 2 साथ ही अनु0 249 (2) में यह निरूपित किया गया है । कि राज्य सभा द्वारा 2/3 बहुमत से यह कहा जाये कि राज्य सूची के किसी विषय पर संसद द्वारा अधिनियम अपेक्षित है, तो वह भी अधिनियम बना सकेगी । अनु0 251 इस बात की स्पष्ट घोषणा करता है । कि, संसद और राज्यों द्वारा बनाई गई विधियों में संसद द्वारा बनाई गई विधि को अधिमान्यता दी जावेगी । अनु0 257 के अनुसार कतिपय दशाओं में जिसका विवरण संविधान में किया गया है, कि संघ राज्यों को बाध्य कर सकता है, कि उसके निर्देशों का पालन करें । राज्यपाल के विषय में सबसे पहला विवाद राजस्थान में उठा था, जहां पर 1967 के आम चुनाव में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में विभिन्न विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चे के रूप में संगठित होकर राज्यपाल से यह मांग की कि उन्हें सरकार बनाने के लिऐ आमंत्रित किया जाऐ, लेकिन तात्कालीन राज्यपाल डॉ0 सम्पूर्णानंद ने संयुक्त मोर्चे की मांग को अस्वीकार कर दिया तथा कांग्रेस दल के नेता श्री सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिऐ आमंत्रित किया था ।

राज्यपाल के विषय में दूसरा सबसे बड़ा विवाद 1967 में ही पश्चिम बंगाल में उत्पन्न हुआ था । जहां के राज्यपाल धर्मवीर ने अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करके अजय मुखर्जी की सरकार को बरर्वास्त कर दिया था । राज्यपाल के इस कार्य के

विरूद्ध यह तर्क किया गया कि एक संवैधानिक प्रधान होने के नाते राज्यपाल को किसी भी मंत्रिमण्डल को सदन में पराजित हुऐ बिना उसे विघटित करने का अधिकार नहीं है। 1967 के मध्यावधि चुनाव के बाद पुनः अजय मुखर्जी ने मंत्रिमण्डल का निर्माण किया, उसमें एक आलोचनात्मक पैराग्राफ मुखर्जी मंत्रिमण्डल के विघटन के संबंध में भी था, जिसे राज्यपाल ने पढ़ने से इंकार कर दिया । इस बात पर फिर आपत्ति उठाई गई कि संसदीय शासन का प्रधान होने के नाते राज्यपाल को मंत्रिमण्डल के परामर्शानुसार कार्य करना चाहिऐ ।[1]

सितम्बर 1996 में केन्द्र सरकार ने अनुच्छेद 356 का उपयोग (या दुरूपयोग) कर गुजरात की भारतीय जनता पार्टी सरकार को वरर्वास्त कर दिया । परन्तु इस बार अनुच्छेद 356 के उपयोग या दुरूपयोग से ज्यादा चर्चित मसला उपाध्यक्ष के आचरण को लेकर रहा । 3 सितम्बर 1996 को गुजरात विधान सभा में घटित घटनाओं ने जिस प्रकार संवैधानिक व्यवस्थाओं, संसदीय परंपराओं एवं लोकतांत्रिक मान्यताओं की खिल्ली उड़ाई, उससे यह आभास मिलता है कि हमारे देश की संवैधानिक संस्थाऐं एवं उच्च पद पर आसीन व्यक्ति अपनी गरिमा एवं सार्थकता खो चुके हैं । इस विवाद की शुरूआत वहां से होती है जबकि, भारतीय जनता पार्टी के कुछ असंतुष्ट विधायकों ने महागुजरात जनता पार्टी नामक नई पार्टी बना ली और दावा किया उनमों 46 भा.ज.पा सदस्यों का समर्थन प्राप्त है । उल्लेखनीय है कि 180 सदस्यीय गुजरात विधान सभा में भाजपा सदस्यों की संख्या 120 थी । 46 विधायकों के जाने से यह संख्या मात्र 74 रह जाती परिणाम स्वरूप भाजपा की सरकार गिर सकती थी । परन्तु इस बीच घटनाक्रम तेजी से बदला ओर 46 में से 18 विधायक दिलीप पारीख (या शंकर सिंह बाघेला) गुट से नाता तोड़कर पुनः सुरेश मेहता गुट (भाजपा) में आ गये अतः विधान सभा अध्यक्ष ने "वाघेला गुट" को मान्यता देने को अनुचित ठहराया । दोनों ओर से बहुमत के दावे होने लगे । सत्र बुलाने का सुझाव दिया ताकि सत्र का विश्वास प्रस्ताव पर विचार करने एवं मतदान करने के लिऐ विधान सभा की बैठक बुलाई गई । उस दिन अध्यक्ष की अस्वस्थता (बाद में मृत्यु) के कारण उपाध्यक्ष चंतु लाल धाबी (जो कांग्रेस के सदस्य हैं) ने पीठा सीन अधिकारी का आसन ग्रहण किया । उन्होंने कार्यसूची के अनुसार सदन के पटल पर विश्वास प्रस्ताव रखे जाने की अनुमति देने के बजाऐं आश्चर्यजनक ढंग से महागुजरात जनता पार्टी को मान्यता देने की घोषणा की ओर अचानक सदन को अनिश्चित काल के लिऐ स्थगित कर दिया । गुजरात के उपाध्यक्ष ने अपने आचरण से राज्यपाल की गरिमा को चुनौती दी तथा अपने पद को अपमानित किया क्योंकि विधान सभा की बैठक राज्यपाल ने एक विशेष आशय से विश्वास प्रस्ताव पर मतदान के निमित्त बुलाई थी किन्तु उपाध्यक्ष ने राज्यपाल की अवहेलना कर संसद को चलने नहीं दिया ।[2]

अक्टूबर 1997 में उत्तर प्रदेश में राजनीतिक घटनाक्रम में तेजी से कई परिवर्तन हुऐ। जिनमें कल्याण सरकार से बसपा का समर्थन वापिस लेना, विधान सभा में बहुमत प्राप्त करने के बाद कल्याण सिंह सरकार को बर्खास्त किया जाना तथा बाद में राष्ट्रपति द्वारा

1. **नई दुनिया, समाचार पत्र**
2. **नवभारत टाइम्स,**

ऐतिहासिक निर्णय के तहत कल्याण सिंह सरकार का बरकरार रहना एवं 93 रिकॉर्ड मंत्रियों के मंत्रिपरिषद का गठन होना । वस्तुतः उत्तर प्रदेश के राजनीतिक घटना क्रम ने कई प्रश्नों को पीछे छोड़ दिया है जैसे कि राजनीतिक पार्टियों में मूल्य विहीनता, राज्यपाल की भूमिका, दल–बदल कानून की पुर्नसमीक्षा तथा लोकतंत्र के समक्ष आसन्न चुनौतियाँ निः संदेह भारत के राष्ट्रपतियों की रबर स्टैम्प वाली परम्परा के ऊपर उठकर लोकतंत्र के हित में साहसिक निर्णय लिया जिसकी सर्वत्र प्रशंसा है । कल्याण सिंह सरकार ने भारी हिंसा के ताण्डव के बीच तथा विपक्षी दलों की अनुपस्थिति में बहुमत प्राप्त किया । विधानसभा में हुई हिंसात्मक कार्यवाही के मद्देनजर राज्यपाल भंडारी ने केन्द्र सरकार को जो रिपोर्ट भेजी ऐसा माना जाता है कि वह रिपोर्ट कल्याण–सरकार के प्रतिकूल थी, जिसके चलते केन्द्र सरकार ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की, परंतु स्वतंत्रता के पांच दशकों के मध्य यह प्रथम बार हुआ कि राष्ट्रपति के0 आर0 नारायण ने केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के एक बड़े एवं अहम् फैसले को पुनर्विचार के लिऐ मंत्रिमण्डल के पास वापिस भेजा और मंत्रिपरिषद ने फैसले को वापिस ले लिया इस तरह उत्तर प्रदेश की विधान सभा भंग होने से तथा कल्याण सिंह सरकार वर्खास्त होने से बच गई ।[1]

लेकिन इससे बड़ा विवाद 1998 में उत्तर प्रदेश के तात्कालीन राज्यपाल श्री रोमेश भण्डारी को लेकर उठा । यहां पर जनवरी की एक रात्रि को कल्याण सरकार को वर्खास्त कर जगदम्बिका पाल को मुख्यमंत्री बना दिया गया । इसकें विरूद्व कल्याण सरकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय में गई ओर तत्पश्चात् उच्च न्यायालय के निर्देशानुसार कल्याण सरकार को पुनः बहाल करना पड़ा ।

वास्तव में देखा जाऐ तो राज्यपाल के पद को लेकर काफी अर्से से ही विवाद होता रहा है । राजमन्नार समिति 1969 तथा सरकारिया आयोग 1983 ने भी इस पर प्रकाश डाला था, लेकिन इस संवैधानिक प्रमुख के पद व कार्यप्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं आया है । इस विवाद के मूल दो कारण है :– I – राष्ट्रपति के एजेन्ट का होना II – राज्यपाल को कुछ परिसंधियों में अपने विवेक का प्रयोग करने की छूट । संविधान में यह लिखा गया है कि राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही राज्यपाल अपने पद पर बना रहेगा । लेकिन यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रसाद पर्यन्त का मतलब यह नहीं है कि राष्ट्रपति अपने विवेक से इसका प्रयोग कर सकता है जैसा कि रोमशे भण्डारी के मामलों में कुछ राजनेताओं व दलों का तर्क था, बल्कि प्रसाद पर्यन्त का कार्यव्यवहार में परिपालन मंत्रिपरिषद के निर्णय के अनुसार ही होगा ।

राज्यपाल की कुछ विवेकी शक्तियाँ भी है जिसका प्रयोग वह कुछ खास परिस्थितियों में करता है, जैसे कि कोई भी दल सरकार बनाने की स्थिति में न हो, तथा मंत्रिपरिषद विधानमण्डल में अपना विश्वास खो चुका हो ऐसी स्थितियों में अमूमन राज्यापालों ने संवैधानिक गरिमाओं का पालन सही ढंग से नहीं किया है । उत्तर प्रदेश के तात्कालीन राज्यपाल श्री रोमेश भण्डारी के कृत्य को काफी हद तक इसी श्रेणी में रखा जा सकता

1. इंडिया टुडे

है । यहां पर यह होना चाहिऐ कि वह विवेक शक्ति का प्रयोग राग–द्वेष आदि से मुक्त होकर समभाव की स्थिति में आकर करें ।

वहीं दूसरी तरफ यह भी देखने को मिला है कि कभी–कभी सदन में बहुमत के परीक्षण को दिऐ गऐ समय को लेकर विवाद उठा है। कहीं–कहीं शक्ति परीक्षण के लिऐ महीने भर का समय दिया गया तो कहीं–कहीं 24 घंटे का ही समय दिया गया। यद्यपि यह ठीक है कि यह राज्यपाल परिपालन सही ढंग से होना चाहिऐ, यह उचित है कि विश्वास मत की प्राप्ति के लिऐ ज्यादा समय न दिया जाऐ, क्योंकि इससे दल–बदल की संभावना प्रबल हो जाती है, परन्तु यह भी ठीक नहीं कि रात के अंधेरे में किसी सरकार को वर्खास्त करके सुबह के उजाले के पूर्व ही किसी नई सरकार को शपथ दिला दी जाऐ ।

राज्य द्वारा, राज्य और केन्द्र के बीच वित्तीय संबंधों में वित्त पुनर्वितरण की दशाओं में सुझावों के लिऐ वित्त आयोग का प्रावधान है, इसे राष्ट्रपति नियुक्त करता है । इन संबंधों के विवेचन से यह ज्ञात होता है, कि मूलतः भारतीय संविधान केन्द्रानुगामी होने के कारण राज्य संबंधों के क्रियान्वयन में राज्यपाल रूपी केन्द्र के प्रतिनिधि की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनती है, क्योंकि इसका कारण यह है, कि राज्यपाल केन्द्र और राज्य के होने के कारण अपने स्वविवेक के अधिकारों के प्रयोग द्वारा राज्य को हित समूहों की परिधि में रहने हेतु विवश कर सकता हैं ।

प्रशासनिक संबंधों के मामले में राज्यपाल का यह स्वविवेक का अधिकार और भी महत्वपूर्ण बन जाता है । क्योंकि आपात एवं सामान्य दशाओं में केन्द्र के निर्देशों के संचालन में वह स्वविवेक के अधिकारों का प्रयोग कर सकता है । अनेकों बार केन्द्र द्वारा खाद्यान्न वितरण, खाद्य संग्रह के मामलों में दिऐ गऐ निर्देश एवं नदी जल विवाद के मामलों में प्रदत्त निर्देश के अनुपालन राज्यपालों द्वारा अनुपालन कराऐ जाने के उदाहरण भी मिलते हैं ।

प्रश्न यह नहीं है, कि राज्यपाल का पद गरिमामय है या नहीं प्रश्न यह है, कि वर्तमान में उसके समस्त दायरों के आकलन के बाद वह मुख्यतः किन हितों की पूर्ति करता है । साथ ही यह प्रश्न भी उठ खड़ा होता है, राज्यपाल केन्द्र अथवा राज्य के बीच संतुलन मैं किसकी ओर अधिक झुकता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि राज्यपाल अपने पद की वर्तमान गरिमा एवं उत्तरदायित्व की पूर्ति करता है । क्योंकि वह उसके द्वारा मनोनीत होता है, एवं अपने मनोनयन हेतु केन्द्र पर आश्रित होने के कारण वह मूलतः केन्द्र, राज्य के बीच संतुलन में केन्द्र की ओर अधिक झुकता है ।

मध्य प्रदेश के राजनीतिक चरित्र के संबंध में यह उक्ति ठीक ही है कि यह सभी मायनों में पिछड़ा प्रदेश है । राजनीतिक घटनाओं ओर विवादों के लिऐ भी यह कभी

अगुआ नहीं रहा । इसलिऐ यहां पर राजनीतिक यहाँ गरमाहट तो रही, संकट भी आऐ पर वे ऐसे नहीं थे कि जो अन्य राज्यों से भिन्न हों ।

नऐ मध्य प्रदेश का गठन 1 नवम्बर 1956 में हुआ । प्रथम राज्यपाल नियुक्त हुऐ डॉ0 पट्टाभिसीता रमैया । प्रारंभिक वर्षो में राज्यपाल के पद से संबंधित कोई विशेष विवाद या संकट पैदा नहीं हुऐ । लेकिन संविद शासन की स्थापना के बाद राज्यपाल के पद और कार्यपद्धति पर आक्षेप होने लगे । जुलाई 1967 में सबसे गहरा और विवादास्पद संकट आया और यह संकट 1969 तक छाया रहा, इस समय श्री के0सी0 रेड्डी मध्य प्रदेश के राज्यपाल थे । दल बदल से उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता के इस काल खण्ड के अलावा जब भी मुख्यमंत्री बदले गऐ । वे सत्ता धारी दल के आंतरिक द्वंद और केन्द्रीय नेताओं की मर्जी के परिणाम थे । दो बार इस राज्य में राष्ट्रपति का शासन भी रहा और एक बार राज्यपाल को मर्जी से ही मुख्य न्यायाधीश पुरूषोत्तम विनायक दीक्षित एक सप्ताह के लिऐ कार्यवाहक राज्यपाल रहे ।

मध्य प्रदेश के प्रथम राज्यपाल डॉ0 पट्टाभिसीता रमैया कानून विद और राजनीति के प्रथम पंक्ति के नेता थे । उनका व्यक्तित्व विशाल था । वे कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे और उन्हें कांग्रेस का इतिहास लिखने का गौरव भी मिला । वे अपने सार्वजनिक उदगारों के लिऐ विख्यात थे ओर उनकी यही स्पष्टवादिता विवाद का कारण बन जाती थी एक बार ऐसा ही एक वाक्या हुआ– एक सार्वजानिक सभा में उन्होंने ठाकुर निरंजन सिंह द्वारा कांग्रेस छोड़ देने पर दुख व्यक्स कर दिया । पं0 रविशंकर शुक्ल ने जो उस समय मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री थे उनकी इस बात पर एतराज किया और उनकी शिकायत केन्द्र से कर दी पर इस मामले ने तूल नहीं पकड़ा, एक तो दोनों ही नेता बराबरी के थे और दोनों एक दूसरे की निष्ठाओं से अवगत थे।

राज्यपाल और मुख्यमंत्री के संबंधों तथा राज्य की स्वायत्तता के प्रश्न पर राज्यपाल कितने स्पष्ट थे, यह जबलपुर दंगा काण्ड पर उठे विवाद से मालूम होता है । हुआ यह कि जबलपुर में सांप्रदायिक दंगे को लेकर पंडित जवाहर लाल नेहरू ने मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री कैलाशनाथ काटजू की सार्वजानिक आलोचना कर दी । श्री पाटस्कर को प्रधानमंत्री का हस्तक्षेप और रवैया अनुचित लगा । उन्होंने प्रधानमंत्री को बहुत ही स्पष्ट तौर पर लिखकर भेजा कि कानून और व्यवस्था राज्य का विषय है । अतः केन्द्र को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिऐ । यह घटना संवैधानिक इतिहास में अपना एक विशिष्ट महत्व रखती है । श्री पाटस्कर ने अपने एक लेख में भी अपना मत व्यक्त करते हुऐ लिखा था, कि केन्द्र की भूमिका तो है, क्योंकि राज्यपाल, राष्ट्रपति का प्रतिनिधि होता है पर इसके साथ–साथ ही वह राज्य का संवैधानिक प्रधान भी होता है ।

संविधान में उल्लेख है कि राज्यपाल की मद्द के लिऐ मंत्रिपरिषद् होगी। यह भी उल्लेख है कि मंत्रि परिषद और मंत्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त ही रह सकेगें । इसमें राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के आपसी संबंधों का बोध तो होता है, परन्तु वस्तु स्थिति तो कुछ और ही बनी है । इस सिलसिलें में अशोक चंदा ने अपनी समीक्षा में बड़ी साफ

बात कही है, कि "जब कांग्रेस केन्द्र और राज्यों में सत्तासीन हुई तो मुख्यमंत्रियों को सचमुच के अधिकारों से लाद दिया गया और राज्यपाल उनकी कठपुतली बन कर रह गऐ, पर जब कांग्रेस हार गई, तब स्थिति बदल गई और राज्यपाल संविधान प्रमुख बन गऐ, परिस्थितियों ने उन्हें मंत्रिमण्डल बनाने गिराने तक की शक्ति सौंप दी । वे लोग जो अब तक राज्यपाल के विशेषाधिकार पर प्रश्न चिन्ह लगोते रहें हैं, अब कहने लगे हैं कि राज्यपाल की भूमिका सार्थक है ।

राज्यपालों की नियुक्ति का जटिल प्रश्न :-

केन्द्र ओर राज्यों के बीच सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रतिक्रिया हुई हैं । गैर कांग्रेसी राज्यों में कांग्रेसी सरकार द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति से । संविधान के निर्माताओं के सामने शायद ऐसा प्रश्न नहीं आया कि यदि राज्य सरकार का मंत्रिमण्डल केन्द्र द्वारा नियुक्त राज्यपाल को स्वीकार न करे तो ऐसी परिस्थिति में संवैधानिक संकट को कैसे हल किया जाऐ। राज्यपाल मंत्रिमण्डल की सलाह से ही राज्यध्यक्ष के कार्यो को संभालता हैं । इस स्थिति में वह इंगलैंड के राजा की तरह केवल संवैधानिक राज्येध्यक्ष हैं । संविधान में कहा गया है कि "जिन बातों में संविधान कहा गया है कि द्वारा या संविधान के आधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है । कि वह अपने कृत्यों को स्वविवेक से करें, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्य निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिये मंत्रि परिषद् होगी ।" इस स्थिति में राज्यपाल कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हो सकता जो मंत्रिमण्डल को स्वीकार न हो अथवा जिसे राज्य के मंत्रिमण्डल की सलाह स्वीकार न हो अथवा जिसे राज्य के मंत्रिमण्डल की सलाह स्वीकार न हो । संयुक्त मोर्चो की सरकारों के बनने के पश्चात् ऐसी परिस्थितियां प्रकाश में आई जो आज नहीं तो कल संवैधानिक संकट उत्पन्न कर सकती हैं । गैर कांग्रेसी राज्य की सरकारों में केन्द्र की कांग्रेस सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों की खुलकर भर्त्सना करनी आरम्भ कर दी हैं और उनकी नियुक्ति को संघराज्य की सबसे बड़ी असंगति बताई हैं । उनका कहना है कि यदि केन्द्र और राज्य समाजनता के आधार पर संघ राज्य का निर्माण करतें हैं तो केन्द्र पर सत्तारूढ़ दूसरे राजनीतिक दल के कार्यो पर हस्तक्षेप नहीं कर सकता । राज्यपाल के संबंध में राज्यों ने दो प्रकार के प्रश्न उठाये । 1– राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में । 2– राज्यपाल की शक्ति के सम्बन्ध में । दोनों ही प्रश्न बहुत उलझे हुये हैं ।

जहां तक राज्यपालों की नियुक्ति का प्रश्न हैं, राज्य सरकारों का कहना हैं कि बिना राज्यों की इच्छा के उन पर केन्द्र में सत्तारूढ़ दल द्वारा राज्यपाल का लादा जाना आलोचनात्मक एवं अलोकतांन्त्रिक और असंसदीय बात होगी । संविधान के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता हैं और राष्ट्रपति किसी दल विशेष का व्यक्ति होकर भी सारी विधान सभाओं और संसद द्वारा चुना जाता है । केन्द्र पर सत्तारूढ़ दल इसलिये ऐसा कह सकता हैं कि राष्ट्रपति केवल केन्द्र का राष्ट्रपति नहीं बल्कि सभी राज्यों का भी चुना हुआ राष्ट्रपति हैं । इसलिऐ उसके द्वारा नियुक्त राज्यपाल राज्यों को मान्य होना चाहिऐ । पर ऐसा तर्क केवल संवैधानिक सत्य हो सकता हैं राजनीतिक सत्य नहीं।

संविधान में राष्ट्रपति सत्तारूढ़ दल की राय से ही पूर्ण कार्य करता हैं । राज्यपालों की नियुक्ति वह प्रधानमंत्री और स्वराष्ट्र मंत्रालय की राय से ही करता हैं । ऐसी स्थिति में कांग्रेस द्वारा नियुक्त राज्यपाल कांग्रेस का ही व्यक्ति हो जाता हैं । उसे पश्चिमी बंगाल अथवा बिहार या उत्तर प्रदेश के गैर कांग्रेसी राज्यों में नियुक्त करने का तात्पर्य ही हैं गैरकांग्रेसी राज्यों के कार्यो की अध्यक्षता करने के लिऐ एक कांग्रेसी राज्यपाल की नियुक्ति । संसदीय प्रणाली तो तभी सफल होती हैं । जब राज्यध्यक्ष और मंत्रिमण्डल में साम्य हो । कांग्रेसी अध्यक्ष गैरकांग्रेसी मंत्रिमण्डल के साथ किस प्रकार सामंजस्य कर संसदीय परम्पराओं को स्वस्थ्य बनायें रहे यह आज की परिस्थिति में एक विचारणीय प्रश्न हैं । यदि राज्य की सरकार राज्यपाल का स्वागत काले झण्डे से करें तो भला संसदीय लोकतंत्र कब तक जीवित रह सकता हैं ।

बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर का वहां की संयुक्त मोर्चे की सरकार ने बार–बार विरोध किया और उन्हें वापस बुला लेने के लिऐ केन्द्र पर जोर डाला पर वह असफल रहें । 7 दिसम्बर 1967 को जब बिहार में नित्यान्द कानूनगों ने राज्यपाल के कार्य का भार सम्भाला तो वहां की सरकार नें इसें केन्द्र द्वारा बिहार सरकार को अपदस्थ करने का भारी षड़यंत्र कहा । श्री अजय मुखर्जी के नेतृत्व में पश्चिमी बंगाल के संयुक्त मोर्चे ने यह आरोप लगाया कि केन्द्र अर्थात् कांग्रेस ने राज्यपालों को अपने हथियार के रूप में इस्तेमाल किया और जनतांत्रिक मूल्यों की हत्या की । गैर कांग्रेसी सरकारों की मांग हैं कि राज्यपाल की नियुक्ति का तरीका बदला जाना चाहिऐ और निष्पक्ष व्यक्ति अर्थात ऐसे व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जाना चाहिये जो राज्य को स्वीकार हो । केरल के मुख्यमंत्री श्री नम्बूदरीपाद ने राज्यपालों के निर्वाचन का सुझाव दिया हैं और यह मांग की है कि संविधान में इसके आधार पर संशोधन किया जाना चाहिऐं । उन्होंने यह भी कहा कि राज्यों में नियुक्त किया जाने वाला राज्यपाल उस राज्य की सरकार को स्वीकार होना चाहिये । अन्यथा किसी भी समय वह वैधानिक संकट उत्पन्न कर सकता हैं ।

जहां तक राज्यपाल की शक्तियों का प्रश्न हैं, वह दो स्थितियों में कार्य करता हैं । प्रथम तो वह राज्यपाल होता हैं और राज्य में मंत्रिमण्डल तथा अन्य कुछ अधिकारियों की नियुक्ति करता हैं, तथा पारित विधेयकों पर हस्ताक्षर करके कानून बनाता हैं या राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिऐ रोक कर केन्द्र की अनुमति प्रदान करता हैं । दूसरी में वह राज्यों में राष्ट्रपति अर्थात केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि होता हैं । इस स्थिति में वह यह देखता हैं कि संविधान तथा केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक निर्देशों का राज्य सरकार द्वारा ठीक–ठीक पालन हो रहा हैं या नहीं । यदि उसकी राय में पालन न होता हो तो उसे अधिकार है कि वह इस तथ्य का अपना प्रतिवेदन राष्ट्रपति को देकर वहां राष्ट्रपति का शासन लागू कर दें । जब राज्यों में दलों की ऐसी स्थिति हो कि किसी का स्पष्ट बहुमत कठिन हो जाये तो राज्यपाल द्वारा मंत्रिमण्डल की नियुक्ति शक्तिशाली एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय बन जाता हैं । दूसरे, किसी भी सरकार का पतन होते ही बिना स्पष्ट बहुमत के वह नये मंत्रिमण्डल की नियुक्ति अथवा मध्यावधि चुनाव का आदेश देकर बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त कर लेता हैं । साधारण स्थिति में राज्यपाल मंत्रिमण्डल की कठपुतली रहता हैं पर आपातकालीन स्थिति तथा राज्य में किसी राजनीतिक दल के स्पष्ट बहुमत के अभाव में वह यथार्थ शासक

बन जाता हैं । और "स्वविवेक" की उसकी शक्तियां इतनी अधिक बढ़ जाती हैं कि वह राज्य सरकार पर हावी हो सकता हैं । बहुमत की अनिश्चितता में उसके लिऐ "स्वाविवेक" की चार शक्तियां होती हैं ।

1– वह किसी भी दल के व्यक्ति को मुख्य मंत्री नियुक्त कर सरकार बनाने को आमंत्रित कर सकता हैं ।

2– वह मुख्यमंत्री की सलाह मानकर विधान सभा को आमंत्रित कर सकता हैं।

3– वह विधान सभा में मतदान पर हारे हुये मुख्यमंत्री के द्वारा विधान सभा के भंग करने और मध्यावधि चुनाव कराने की सलाह को ठुकरा सकता हैं ।

4– वह राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा कराकर राष्ट्रपति का शासन लागू कर सकता हैं ।

राज्यपाल किन परिस्थितियों में हारे हुए मुख्य मंत्री की सलाह को माने और किन स्थितियों में न माने, इसके लिये संविधान में कोई उपबन्ध नहीं है । यह परिस्थतियों और उसके विवेक पर निर्भर करता है । भारत में दोनों प्रकार की परम्परायें हैं । 1953 में केरल के तत्कालिक मुख्यमंत्री ने पराजित होने पर विधान सथा को भंग करने की सलाह दी जिसे राज्यपाल ने स्वीकार कर लिया पर उसी राज्य में जब दो साल बाद पुनः ऐसी ही सलाह दी गई तो उसे मानने से इन्कार कर प्रतिपक्षी दल को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया गया । चतुर्थ चुनाव के तुरन्त बाद 1967 में जब मुख्यमंत्री सुखड़िंगा की स्थिति राजस्थान में अनिश्चित हो गई तो बजायप्रतिपक्षी दल को सरकार बनाने का मौका दिये राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द ने राष्ट्रपति की शासन लागू करा दिया और प्रतिपक्षी दल सरकार बनाने की उतावली में चिल्लाते ही रहे । दिसम्बर 1967 में लगभग एक ही परिस्थिति में तीन राज्यपालों ने तीन प्रकार का निर्णय लिया । अजय मुखर्जी सरकार का पश्चिमी बंगाल में बहुमत अनिश्चित होने पर वहां के राज्यपाल श्री धर्मवीर ने सरकार को वर्खास्त कर प्रतिपक्षी दल के एक दल बदलू श्री प्रफुल्ल चन्द्र घोष को सरकार बनने का आमंत्रण दे दिया यद्यपि डेढ़ माह बाद ही उनकी सरकार का भी पतन हो गया । हरियाणा के राज्यपाल श्री चक्रवर्ती ने बहुमत की अनिश्चितता में मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह के बिना पूछें ही वहां राष्ट्रपति का शासन लागू कराकर मध्यावधि चुनाव का आदेश कर दिया पंजाब में सरदार गुरूनाम सिंह की सरकार ने जब अपना बहुमत समाप्त होते ही पद त्याग दिया तो स्थिति बड़ी अनिश्चित हो गई और किसी प्रतिपक्षी दल को बहुमत प्राप्त नहीं था । श्री गुरूनाम सिंह का दल ही सबसे बड़ा होने पर राज्यपाल श्री पावटे ने फिर उन्हें सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया । दिनमान के अनुसार श्री गुरूनाम सिंह ने राज्यपाल से कहा की उन्हें आशा हैं कि वे सरकार बनाने में सफल हो जायेगें परन्तु सलाह मशविरा करने के लिये उन्होंने थोड़ा सा समय मांगा । इसी बीच राज्यपाल ने दिल्ली का दौरा किया और वहां से लौटकर तुरन्त बिना गुरूनाम सिंह को पूछे श्री लक्ष्मण सिंह गिल को सरकार बनानें के लिऐ आमंत्रित किया । क्योंकि उन्हें कांग्रेस से सहयोग देकर बहुमत दिलवा दिया।

इस तीनों निर्णयों में राज्यपालों ने दिल्ली का दौरा करके और केन्द्रीय सरकार से विचार–विमर्श करके ही अपना निर्णय किया इससे इतनी बात तो स्पष्ट है कि तीनों

निर्णय कांग्रेस के पक्ष में हुये इसीलिये यदि संसद से प्रतिपक्ष के लोगों ने कांग्रेस पर यह जोरों के साथ आरोप लगाया कि राज्यपाल राज्यों में अपने अधिकारों का प्रयोग केन्द्र अथवा कांग्रेस की सुविधाजनक स्थिति का ध्यान रखकर करते हैं तो इसमें एक सच्चाई का अंश हो सकता हैं । यद्यपि प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इन आरोपों का उत्तर देते हुये संसद् में यह कहा कि राज्यपालों ने इन मामलों में स्वविवेक से निर्णय लिया है और केन्द्र ने उन पर कोई दबाव नहीं डाला । प्रश्न यहां इस बात का नहीं है कि केन्द्रीय सरकार राज्यपालों को निर्णय लेने में सलाह दे कि नहीं (क्योंकि वह अपने प्रतिनिधियों को सलाह तो दे ही सकती हैं) प्रश्न तो इस बात का हैं कि क्या वह एक दलीय सरकार होकर भी दलगत भावना से मुक्त होकर एक निष्पक्ष केन्द्रीय सरकार के रूप में राज्यपालों को उचित सलाह दे सकती हैं । आज तक की पश्चिमी राजनीतिक नैतिकता कों देखते हुये तो ऐसा सम्भव प्रतीत नहीं होता । तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि क्या केन्द्रीय सरकार राज्यपालों के अधिकार का प्रयोग अपने दल की सुविधाजनक स्थिति का ध्यान रखकर करा सकती है । उपर्युक्त मामलों में चाहे वह जितनी भी निष्पक्ष रही हो, पर पक्षपात की स्थिति तो हमेशा ही आ सकती हैं । इसलिये इस प्रश्न को संवैधानिक दृष्टि से टाला नहीं जा सकता । इस प्रश्न का समुचित हल तो राज्यपाालों की नियुक्ति के तरीके को बदलकर ही प्राप्त किया जा सकता हैं । राज्यपाल को ऐसा व्यक्ति तो होना ही चाहिये जिसे कम से कम राज्य का मंत्रिमंडल स्वीकार करने को तैयार हो । यदि राज्यपालों को केन्द्र के द्वारा राज्यों पर लादा गया तो संसदीय लोकतंत्र अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता और केन्द्र तथा राज्यों के बीच ऐसी खाई तैयार हो सकती है जो संघवाद को ही समाप्त करने पर तुल जायें ।

चाहे बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के मंत्रिमण्डल का यह आरोप निराधार ही क्यों न हो कि राज्यपाल श्री नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति बिहार में केन्द्रीय सरकार के वहां की सरकार को षड़यंत्र कराकर ढहाने के लिये किया है पर जब वह सरकार चिल्लाती हुई थोड़े ही दिन बाद ढ़ह ही गई तो उसकी चिल्लाहट और आरोपों पर सच्चाई होने का कम से कम एक निष्पक्ष व्यक्ति को भी, भ्रम तो हो ही सकता हैं । केन्द्रीय सरकार इस भ्रम को भी क्यों पैदा होने का अवसर देती हैं ? क्या और कोई उसे राज्यपाल के पद के लिये ढूँढ़े नहीं मिलता था पर शायद उनकी नियुक्ति को राज्य सरकारें चुनौती देने लगती और एक नया बखेड़ा तैयार हो जाता जिसके लिये केन्द्रीय सरकार तैयार नहीं थी ।

जो भी हो, राज्यपालों की नियुक्ति और उनकी शक्तियों के प्रयोग के विभिन्न प्रकार से एक ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई हैं । कि भारतीय संघवाद पर पुनर्विचार की मांग बढ़ती जा रही हैं । पश्चिमी बंगाल में राज्यपाल द्वारा एक मंत्रिमण्डल की वर्खास्तगी और विधान सभा के अध्यक्ष द्वारा राज्यपाल के आदेश की अवज्ञा कुछ ऐसी घटनायें हैं जो लोकतंत्र के इतिहास में कही नहीं मिलती । इन सारी चाजों के लिये निष्पक्ष और उचित निर्णय के बाद स्वस्थ परम्पराओं के निर्माण की आवश्यकता हैं ।

3-केन्द्र व राज्यों के प्रशासनिक संबंध

प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाऐगा जिससे संसद द्वारा बनाई गई विधियों का और ऐसी विद्यमान विधियों का जो उस राज्य में लागू है, अनुपालन सुनिश्चित रहे और संघ की कार्यपालिक शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिऐ आवश्यक प्रतीत हो ।[1]

वहां उस राज्य द्वारा इस प्रकार किऐ गऐ अतिरिक्त खर्चो के बारे में भारत सरकार द्वारा उस राज्य को ऐसी राशि का जो करार पाई जाऐ या करार के अभाव में ऐसी राशि का जिसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा नियुक्त मध्यस्थ अवधारित करे,, संदाय किया जाऐगा ।[2]

(1) इस संविधान में किसी बात के, होते हुऐ भी राष्ट्रपति किसी राज्य की सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से संबंधित कृत्य जिन पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सशर्त या बिना शर्त सौंप सकेगा ।

(2) संसद द्वारा बनाई गई विधि, जो किसी राज्य को लागू होती है ऐसे विषय से संबंधित होने पर भी, जिसके संबंध में राज्य के विधान मण्डल को विधि बनाने की शक्ति नहीं हैं, उस राज्य या उसके अधिकारियों और प्राधिकारियों को शक्ति प्रदान कर सकेगी और उन पर कर्त्तव्य अधिरोपित कर सकेगी । या प्रदान किया जाना और कर्त्तव्यों का अधिरोपित किया जाना प्राधिकृत कर सकेगी ।

(3) जहॉ इस अनुच्छेद के आधार पर किसी राज्य अथवा उसके अधिकारियों या प्राधिकारियों को शक्तियां प्रदान की गई हैं । वहॉ उन पर कर्त्तव्य अधिरोपित किऐ गऐ हैं । वहॉ उन शक्तियों और कर्त्तव्यों के प्रयोग के संबंध में राज्य द्वारा प्रशासन में किऐ गऐ अतिरिक्त खर्चो के संबंध में भारत सरकार द्वारा उस राज्य को ऐसी राशि का, जो करार पाई जाऐं या करार के अभाव में ऐसी राशि का जिसे भारत के मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा नियुक्त मध्यस्थ अवधारित करें, संदाय किया जाऐगा ।[3]

(1) प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जायेगा जिससे संघ की कार्यपालिक शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन या उस पर प्रतिकूल प्रभाव न पडे और संघ की कार्यपालिक शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक होगा जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिये आवश्यक प्रतीत हों।

---

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद 256
2. भारतीय संविधान अनुच्छेद 257
3. भारतीय संविधान अनुच्छेद 258

(2) संघ की कार्यपालिक शक्ति का विस्तार राज्य को ऐसे संचार साघनों के निर्माण और बनाऐ रखने के बारे में निर्देश देने तक भी होगा। जिनका राष्ट्रीय या सैनिक महत्व का होना, उस निर्देश में घोषित किया गया है।

परंतु इस खण्ड की कोई बात किसी राज्य मार्ग या जल मार्ग को राष्ट्रीय राजमार्ग या राष्ट्रीय जल मार्ग घोषित करने की संसद की शक्ति अथवा इस प्रकार घोषित राजमार्ग या जलमार्ग के बारे में संघ की शक्ति को अथवा सेना, नौसेना और वायुसेना सकर्म विषयक अपने कृत्यों का भाग मानकर संचार साधनों के निर्माण और बनाऐं रखने की संघ की शक्ति को निबोधित करने वाली नहीं मानी जायेगी।

(3) संघ की कार्य पालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य मे रेलो के सरंक्षण के लिये किये जाने वाले उपायों के बारे में उस राज्य को निर्देश देने तक भी होगा।

(4) जहाँ खण्ड (2) के अधीन संचार साधनों के निर्माण या बनाये रखने के बारे में अथवा खण्ड (3) के अधीन किसी रेल के संरक्षण के लिये किये जाने वाले उपायों के बारे में किसी राज्य को दिये गये किसी निर्देश के पालन में उस खर्च से अधिक खर्च होता है जो, यदि ऐसा निर्देश नही दिया गया होता तो राज्य के प्रसामान्य कर्तव्यों के निर्वहन में खर्च होता।

"इस सविधान में किसी बात के होते हुऐ भी किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से संबंधित कृत्य, जिन पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सशर्त या बिना शर्त सौंप सकेगा।[1]

"भारत सरकार किसी ऐसे राज्य क्षेत्र की सरकार से, जो भारत के राज्य क्षेत्र का भाग नही है करार करके ऐसे राज्य क्षेत्र की सरकार में निहित किन्ही कार्य पालक विधायी या न्यायिक कृत्यों का भार अपने ऊपर ले सकेगी, किन्तु प्रत्येक ऐसा करार विदेशी अधिकारिता प्रयोग से संबंधित तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन होगा और उससे शासित होगा ।[2]

(i) भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र संघ के और प्रत्येक राज्य के सार्वजनिक कार्यो, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जाऐगी।

(ii) खण्ड (1) में निर्दिष्ट कार्यो, अभिलेखों और कार्यवाहियों को साबित करने की रीति और शर्ते तथा उनके प्रभाव का अवधारण संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा उपबंधित रीति के अनुसार किया जऐगा ।

---

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद 258 (क)
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद 260

(iii) भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग में सिविल न्यायालयों द्वारा दिये गये अन्तिम निर्णयों या आदेशों का उस राज्य क्षेत्र के बाहर कहीं भी विधि के अनुसार निष्पादन किया जा सकेगा ।[1]

(1) संसद विधि द्वारा किसी अंतर राज्यिक नदी या नदी घाटियों के या उनमें जल के प्रयोग वितरण या नियंत्रण के संबंध में किसी विवाद या परिवाद के निर्णयन के लिऐ उपबंध कर सकेगी ।

(2) इस संविधान में किसी बात के होते हुऐ भी, संसद विधि द्वारा, उपबंध कर सकेगी कि उच्चतम न्यायालय या कोई भी अन्य न्यायालय खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी विवाद या परिवाद के संबंध में अधिकारिता का प्रयोग नही करेगा ।[2]

यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिषद की स्थापना से लोक हित की सिद्धि होगी जिसे –

(a) राज्यों के बीच जो विवाद उत्पन्न हो गऐ है उनकी जांच करने और उनपर सलाह देने

(b) कुछ या सभी राज्यों के अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों के अन्वेषण और उन पर विचार विमर्श करने या

(c) ऐसी किसी विषय पर सिफारिश करने और विशिष्ट तथा उस विषय के संबंध में नीति और कार्यवाही के अधिक अच्छे समन्वय के लिऐ सिफारिश करने के कर्तव्य का भार सौंपा जाऐ तो राष्ट्रपति के लिऐ यह विधि पूर्ण होगा कि वह आदेश द्वारा ऐसी परिषद की स्थापना करे और उस परिषद् द्वारा पालन किऐ जाने वाले कर्त्तव्यों की प्रकृति को तथा उसके संगठन और प्रक्रिया को परिनिश्चित करें ।[3]

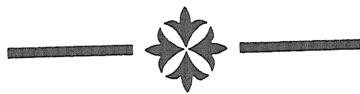
उपरोक्त समस्त अनुच्छेदों के व्यापक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्रशासनिक संबंधों की मूल कल्पना केन्द्र के हितों का अभिरक्षण करने की है । अनुच्छेद 256 में यह स्पष्ट किया है कि राज्यपाल की कार्यपालिक शक्ति इस तरह प्रयोग में लाई जावेगी कि संघ की विधियाँ सूचारू रूप से प्रवर्तन में रहें ।

संघ के निर्देश देने की शक्ति भी अनुच्छेद 257, 258, 258 (A), 262 के अन्तर्गत विशाल और व्यापक है । राज्य की कार्यपालिक शक्ति संविधान द्वारा केन्द्रानुकूल रखी गई है, यह याद रखा जाना जरूरी है, कि कार्यपालिक शक्ति ही वह शक्ति है, जो विधान मण्डल के कार्यो को सुनिश्चित करती है । अतः परोक्ष रूप से प्रशासनिक संबंधी संवैधानिक उपबंधों द्वारा राज्य की कार्यपालिक शक्ति के नियंत्रण के जरिऐ वस्तुतः राज्य की विधायी शक्ति को नियंत्रित किया गया है । यह तथ्य ध्यान रखने योग्य है, कि राज्य के

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद 261
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद 262
3. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद 263

विधान मण्डलों में पारित अधिसंख्यक विधेयक शासकीय विधेयक होते हैं । अतः राज्य की प्रशासी गतिविधियों पर रोक राज्य की विधायी शक्ति पर रोक है, मध्य प्रदेश भी इसका अपवाद नहीं है ।

सार रूप में किसी राज्य विशेष के संदर्भ में जब केन्द्र राज्य संबंधों की चर्चा की जाती है, तब अनिवार्य रूप से उसका संकेत हितग्राही राजनीति की ओर होता है । हितग्राही राजनीति के विभिन्न पहलुओं पर अध्याय (3) के विभिन्न पृष्ठोंा पर चर्चा की जा चुकी है । अतः उसे यहाँ दोहराना अनावश्यक हैं, यह स्पष्ट है कि राज्य में केन्द्रीय हितों की देख रेख महत्त्वपूर्ण कार्य है ओर उसे निर्वहन करने के लिऐ राज्यपाल एक प्रमुख शक्ति होता है, इस अध्याय में राज्यपाल के संबंध में लगभग समस्त पहलुओं को चर्चित किया गया है । यह आवश्यक है कि राज्यपाल व केन्द्र राज्य संबंध के बारे में दो बातों को स्पष्ट किया जाऐ । प्रथम – निर्वाचन के विपरीत उसकी सीधी नियुक्ति एवं उसका औचित्य एवं द्वितीय–राज्यपाल की नियुक्ति के संवैधानिक आधारों ओर राजनैतिक आधारों के बीच सामंजस्य का अभाव । प्रथमतः यह स्पष्ट कर देना जरूरी है, यदि राज्यपाल निर्वाचित होतो वह निर्वाचकों के प्रति जिम्मेदार होता है और इस तरह केन्द्र के हितों का राज्य में एकीकृत रूप से रूप से निरीक्षण एवं प्रबंधन नहीं कर सकता । राज्यपाल की नियुक्ति राज्यसरकारों के लिऐ विवाद का विषय रही है क्योंकि राज्य की लोकप्रिय सरकार और केन्द्र द्वारा नियुक्ति व्यक्ति के बीच सम्बन्धों की व्यवस्था सैद्धान्तिक रूप से टेड़ी खीर है । प्रशासनिक सम्बंधों में भी यही बात लागू होती है । इस अध्याय में प्रशासनिक संबंधों का भी जिक्र किया जा चुका है, उनके विश्लेषण से यह साफ जाहिर है, कि संविधन प्रारंभ से ही केन्द्रों–मुखी है । अतः राज्यों की स्वायत्तता की बात करे वोट भले ही हासिल कर लिऐ जाऐं वस्तुतः संविधान में राज्यों की स्वायत्तता कहीं नहीं हैं ।



अध्याय पंचम

केन्द्र राज्य संबंध- संव्यवहार, वित्त एवं योजना पक्ष (म०प्र० के संदर्भ में)

1. वित्त संबंधी संवैधानिक प्रावधान,
2. केन्द्र व राज्यों के बीच वित्त स्रोतों का बंटवारा,
3. वित्त आयोग,
4. केन्द्र राज्य संबंधों पर वित्तीय प्रावधानों का प्रभाव,

केन्द्र-राज्य संबंध- संव्यवहार, वित्त एवं योजना पक्ष (म०प्र० के संदर्भ में)

मध्य प्रदेश व्यापक क्षमताओं वाला राज्य है, इसका क्षेत्रफल लगभग 4 लाख 44 हजार वर्ग किलोमीटर है। इसकी उत्तर दक्षिण सीमा लगभग 880 किलोमीटर और पूर्व पश्चिम सीमा लगभग 1300 किलोमीटर है। देश के लगभग मध्य भाग में स्थित होने के कारण जलवायु भिन्नता, क्षेत्रीय भिन्नता एवं क्षेत्रीय विकास में वर्तमान में व्याप्त व्यापक खाई निःसंदेह असंतोष को जन्म देती है। ये असंतोष मूलतः 6 कारणों से उत्पन्न होता हैं

1. क्षेत्रान्तर्गत अवस्थित जीवनयापन साधनों की दयनीयता।
2. क्षेत्र में व्यापक सुविधाओं का अभाव।
3. संचार साधनों की कमी (संचार से तात्पर्य परिवहन से है)।
4. क्षेत्र में विकास हेतु आवश्यक मूलभूत ढाँचे का अभाव। (Lack of infra staruture)
5. क्षेत्र में रोजगार के अवसरों का अभाव।
6. अनियोजित औद्योगीकरण एवं अनावश्यक सुविधाओं का विस्तार।

केन्द्र राज्य संबंधों के तारतम्य में यदि मध्य प्रदेश को प्राप्त सुविधाओं का स्तर ज्ञात करें तो हम एक तरफ विकास का उच्चक्रम और दूसरी तरफ विकास के निम्नतम स्तर पर अवस्थित आदिवासी संस्कृति पाते हैं।प्रश्न यह नहीं हैं, कि कौन कितना लाभ प्राप्त कर पाया है, प्रश्न यह है, कि लाभ प्राप्ति के समान अवसर किस स्तर तक और किस हद तक विद्यमान है।

मध्यप्रदेश इस मामले में दयनीय अवस्था में रहा है, मध्यप्रदेश के जन्म के समय उसके निर्माताओं ने यह सोचा भी नहीं होगा कि हम किन असीमित क्षमताओं का अकूत भण्डार एक दुर्बल और नकारा प्रशासन को सौंप रहे हैं। बस्तर से लेकर बेतवा की घाटी अपने आप में असाधरण अप्राकृतिक क्षमताओं को छुपाऐ हुऐ है। राज्य के पास अपार जनशक्ति और असीमित प्राकृतिक साधन हैं, फिर भी विकास नहीं होता। प्रदेश की जनता विकास को रोती है। प्रदेश के नेता धन को रोते हैं परंतु दोनों ही प्राप्त नहीं होते। अतः यह जानना अनावश्यक है, कि वित्तीय एवं नियोजन संबंधों के परिप्रेक्ष्य में केन्द्र राज्य संबंध क्या होने चाहिऐं।

आश्चर्य का विषय है कि संविधान के प्रवर्तन से ही भारतीय योजना आयोग अस्तित्व में है (15 मार्च 1950 की भारत सरकार की अधिसूचना द्वारा निर्मित) और तभी से यह योजना कार्य संपन्न कर रहा है, परंतु भारतीय संविधान में शोध प्रबंध जमा किऐ जाने की तारीख तक एक भी प्रावधान ऐसा नहीं है, जो नियोजन के संबंध में केन्द्र राज्य संबंध को परिभाषित करता हो। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि नियोजन को संवैधानिक दर्जा न देकर केन्द्र में सत्तारुढ़ पार्टी उसका अपने विशिष्ट हितों के लिए उपयोग करती है। अतः क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग बारंबार विभिन्न दलों द्वारा उठाई जाती रही है और यह सवायत्तता मूलतः वित्तीय स्वायत्तता को केन्द्र बिन्दु बनाकर मांगी जाती रही है। असंतुलित विकास ने हमारे जनजीवन को झकझोर दिया है, जनजीवन की बढ़ती हुई समस्याऐं और हमारे राजनेताओं का घोर उपेक्षापूर्ण रुख जन आंदोलन को जन्म देता है, और यह जन उत्तेजना छुटभैये नेताओं के माध्यम से क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग उठाता है। इस क्षेत्रीय स्वायत्तता की मांग के विश्लेषण के पूर्व संविधान के वित्तीय

प्रावधानों को जान लेना आवश्यक है, जो आगामी पृष्ठों पर दिये गये है ।

1. वित्त सम्बन्धी संवैधानिक प्रावधान

इस संविधान के प्रारंभ से ही–

(A) जो संपत्ति और आस्तियां ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले भारत डोमीनियन की सरकार के प्रयोजनों के लिऐ हिज मैजेस्टी में निहित थी, वे सभी इस संविधान के प्रारंभ से पहले पाकिस्तान डोमीनियन के या पश्चिमी बंगाल पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब और पूर्वी पंजाब प्रांतों के सृजन के कारण किऐ गऐ या किऐ जाने वाले किसी समायोजन के अधीन रहते हुऐ क्रमशः संघ और तत्स्यानी राज्य में निहित होगी, और–

(B) जो अधिकार दायित्व और बाध्यताऐं भारत डोमीनियम की सरकार की और प्रत्येक राज्यपाल वाले प्रांत की थी, चाहे वे किसी संविदा से या अन्यथा उद्भूत हुईं हो, वे सभी इस संविधान के प्रारंभ से पहले पाकिस्तान डोमीनियन के या पश्चिमी बंगाल, पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब और पूर्वी पंजाब प्रांतों के सृजन के कारण किए गऐ या किऐ जाने वाले किसी समायोजन के अधीन रहते हुये क्रमशः भारत सरकार और प्रत्येक तत्स्थानी राज्य की सरकार के अधिकार दायित्व और बाध्यताऐं होंगी।[1]

इस संविधान के प्रारंभ से ही–

(A) जो संपत्ति और आस्तियाँ ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले पहली अनुसूची के भाग (B) में विनिर्दिष्ट राज्य के तत्स्थानी किसी देशी राज्य में निहित थी, वे सभी ऐसे करार के अधीन रहते हुऐ जो भारत सरकार इस निमित्त उस राज्य की सरकार से करें, संघ में निहित होंगी यदि वे प्रयोजन जिनके लिऐ, ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले ऐसी संपत्तियाँ और आस्तियाँ पारित थीं, तत्पश्चात संघ सूची में प्रगणित किया किसी विषय से संबंधित संघ के प्रयोजन हों और

(B) जो अधिकार दायित्व और बाध्यताऐं पहली अनुसूची के भाग (B) में विनिर्दिष्ट राज्य के तत्स्थानी किसी देशी राज्य की सरकार की थी, चाहे वे किसी संविदा से या अन्यथा उद्भूत हुई हों, वे सभी ऐसे करार के अधीन रहते हुऐ जो भारत सरकार इस निमित्त उस सरकार से करें, भारत सरकार के अधिकार, दायित्व और बाध्यताऐं होंगी यदि वे प्रयोजन जिनके लिये ऐसे प्रारंभ से ठीक पहले ऐसे अधिकार अर्जित किऐ गऐ थे अथवा ऐसे दायित्व या बाध्यताऐं उपगत की गई थी, तत्पश्चात् संघ सूची में प्रगणित किसी विषय से संबंधित भारत सरकार के प्रयोजन हों।

जैसा ऊपर कहा गया है उसके अधीन रहते हुऐ पहली अनुसूची के भाग (B) में

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद–294

विनिर्दिष्ट प्रत्येक राज्य की सरकार उन सभी संपत्ति और आस्तियों तथा उन सभी अधिकारों, दायित्वों एवं बाध्यताओं के संबंध में चाहे वे किसी संविदा से या अन्यथा उद्भूत हुई हो, जो खण्ड (1) में निर्दिष्ट से भिन्न हैं, इस संविधान के प्रारंभ से ही तत्स्थानी देशी राज्य की सरकार की उत्तराधिकारी होगी।[1]

इसमें इसके पश्चात् जैसा उपबंधित है, उसके अधीन रहते हुऐ, भारत के राज्य क्षेत्र में कोई संपत्ति जो यदि वह संविधान प्रवर्तन में नहीं आया होता तो, राजगामी या व्ययगत होने से या अधिकारवान स्वामी के अभाव में स्वामी विहीन होने से, यथा स्थिति हिज मैजेस्टी को या देशी राज्य के शासक को प्रोद्भूत हुई होती, भारत सरकार के या किसी राज्य की सरकार के कब्जे या नियंत्रण में थी तब, यदि वे प्रयोजन जिनके लिऐ वह उस समय प्रयुक्त या पारित थी, संघ के थे तो वह संघ में और किसी राज्य के थे तो वह उस राज्य में निहित होगी।[2]

(1) भारत के राज्य क्षेत्रीय सागर खण्ड या महाद्वीपीय मग्न तट भूमि या अनन्य आर्थिक क्षेत्र मे समुद्र के नीचे की सभी भूमि, खनिज और अन्य मूल्यवान चीजें संघ में निहित होंगी और संघ के प्रयोजनों के लिऐ धारण की जाऐंगी।

(2) भारत के अनन्य आर्थिक क्षेत्र की अन्य सभी संपदा भी संघ में निहित होगी और संघ के प्रयोजनों के लिऐ धारण की जाऐगी।

(3) भारत के राज्य क्षेत्रीय सागर खण्ड, महाद्वीपीय मग्न तट भूमि, अनन्य आर्थिक क्षेत्र और अन्य सामुद्रिक क्षेत्रों की सीमाऐं, वे होंगी जो समय समय पर संसद द्वारा बनाई गई विधि द्वारा या उसके अधीन विर्दिष्ट की जाऐ।[3]

संघ की और प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार, व्यापार या कारोबार करने और किसी प्रयोजन के लिऐ संपत्ति का अर्जन, धारण और व्ययन तथा संविदा करने पर भी होगाः

परंतु

(A) जहां तक ऐसा व्यापार या कारोबार या ऐसा प्रयोजन वह नहीं है जिसके संबंध में संसद विधि बना सकती है, वहां तक संघ की उक्त कार्यपालिका शक्ति प्रत्येक राज्य में उस राज्य के विधान के अधीन होगी और

(B) जहाँ तक ऐसा व्यापार या कारोबार या ऐसा प्रयोजन वह नहीं है जिसके संबंध में राज्य विधान मण्डल विधि बना सकता है, वहाँ तक प्रत्येक राज्य की उक्त कार्यपालिका शक्ति संसद के विधान के अधीन होगी।[4]

(1) संघ की या राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करते हुऐ की गई सभी

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद–295
2. भारतीय संविधान अनुच्छेद–296
3. भारतीय संविधान अनुच्छेद–297
4. भारतीय संविधान अनुच्छेद–298

संविदाऐं, यथा स्थिति राष्ट्रपति द्वारा या उस राज्य के राज्यपाल द्वारा की गई, कही जाऐगी और वे सभी संविदाऐं और संपत्ति संबंधी हस्तांतरण पत्र जो उस शक्ति का प्रयोग करते हुऐ किऐ जाऐं, राष्ट्रपति और राज्यपाल की ओर से ऐसे व्यक्तियों द्वारा और ऐसी रीति से निष्पादित किऐ जाऐंगे जिसे वह निर्दिष्ट या प्राधिकृत करे।

(2) राष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल इस संविधान के प्रयोजनों के लिऐ या भारत सरकार के संबंध में इससे पूर्व प्रवृत्त किसी अधिनियमित के प्रयोजनों के लिऐ की गई या निष्पादित की गई किसी संविदा या हस्तांतरण पत्र के संबंध में व्यैक्तिक रूप से उत्तरदायी नहीं होगा या उनमें से किसी की ओर से ऐसी संविदा या हस्तांतरण पत्र करने या निष्पादित करने वाला व्यक्ति उसके संबंध में व्यैक्तिक रूप से उत्तरदायी नहीं होगा।[1]

(1) भारत सरकार भारत संघ के नाम से बाद ला सकेगी या उस पर वाद लाया जा सकेगा और किसी राज्य की सरकार उस राज्य के नाम से वाद ला सकेगी या उस पर वाद लाया जा सकेगा और ऐसे उपबंधों के अधीन रहते हुऐ, जो इस संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों के आधार पर अधिनियमित संसद के या ऐसे राज्य के विधान मण्डल के अधिनियम द्वारा किऐ जाऐं, वे अपने–अपने कार्य कलापों के संबंध में उसी प्रकार वाद ला सकेंगे या उन पर उसी प्रकार वाद लाया जा सकेगा जिस प्रकार यदि वह संविधान अधिनियमित नहीं किया गया होता तो, भारत डोमिनियन और तत्स्थानी प्रांत या तत्स्थानी देशी राज्य वाद ला सकते थे या उन पर वाद लाया जा सकता था।

(2) यदि इस संविधान के प्रारंभ पर–

(क) कोई ऐसी विधिक कार्यवाहियाँ लंबित हैं जिनमें भारत डोमिनियन एक पक्षकार है, तो उन कार्यवाहियों में उस डोमिनियन के स्थान पर भारत संघ प्रति स्थापित किया गया समझा जाऐगा, और

(ख) कोई ऐसी विधिक कार्यवाहियाँ लंबित हैं, जिनमें कोई प्रांत या कोई देशी राज्य एक पक्षकार है तो उन कार्यवाहियों में उस प्रांत या देशी राज्य के स्थान पर तत्स्थानी राज्य प्रति स्थापित किया गया समझा जाऐगा।[2]

"किसी व्यक्ति की उस संपत्ति से विधि के प्राधिकार से ही वंचित किया जाऐगा, अन्यथा नहीं ।"[3]

"इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुऐ, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा ।[4]

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–299
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–300
3. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–300(क)
4. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–301

"संसद, विधि द्वारा, एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच या भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग के भीतर व्यापार, वाणिज्य या समागम की स्वतंत्रता पर ऐसे निर्बन्धन अधिरोपित कर सकेगी जो लोक हित में अपेक्षित हों ।[1]

(1) अनुच्छेद 302 में किसी बात के होते हुऐ सातवीं अनुसूची की सूचियों में से किसी में व्यापार और वाणिज्य संबंधी किसी प्रविष्टि के आधार पर, संसद को या राज्य के विधान मण्डल को, कोई ऐसी विधि बनाने की शक्ति नही होगी जो एक राज्य को दूसरे राज्य से अधिमान देती है या दिया जाना प्राधिकृत करती है अथवा एक राज्य और दूसरे राजय के बीच कोई विभेद करती है या किया जाना प्राधिकृत करती है।

(2) खण्ड (1) की कोई बात संसद को कोई ऐसी विधि बनाने से नहीं रोक सकेगी जो कोई ऐसा अधिमान देती है, या दिया जाना प्राधिकृत करती है, कि यदि ऐसी विधि द्वारा यह घोषित किया जाता है, कि भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग में माल की कमी से उत्पन्न किसी स्थिति से निपटने के प्रयोजन के लिऐ ऐसा करना आवश्यक है।[2]

"अनुच्छेद 301 या अनुच्छेद 303 में किसी बात के होते हुऐ भी, किसी राज्य का विधान मण्डल, विधि द्वारा–

(A) अन्य राज्यों या संघ राज्य क्षेत्रों से आयात किऐ गऐ माल पर कोई ऐसा कर अधिरोपित कर सकेगा जो उस राज्य में निर्मित या उत्पादित वैसे ही माल पर लगता है, किन्तु उससे इस तरह आयात किऐ गऐ माल और ऐसे निर्मित या उत्पादित माल के बीच कोई विभेद न हो, और

(B) उस राज्य के साथ या उसके भीतर व्यापार वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता पर ऐसे युक्ति युक्त निर्बन्धन अधिरोपित कर सकेगा तो लोकहित में अपेक्षित हों :

परंतु खण्ड (ख) के प्रयोजनों के लिऐ कोई विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना किसी राज्य के विधान मण्डल में पुनः स्थापित या प्रस्तावित नहीं किया जाऐगा।[3]

"वहाँ तक के सिवाय जहाँ तक राष्ट्रपति आदेश द्वारा निर्देश दे अन्यथा अनुच्छेद 301 और अनुच्छेद 303 की कोई बात किसी विद्यमान विधि के उपबंधों पर कोई प्रभाव नहीं डालेगी और अनुच्छेद 301 की कोई बात संविधान (चौथा संशोधन) अधिनियम, 1955 के प्रारंभ से पहले बनाई गई किसी विधि के प्रवर्तन पर वहाँ तक कोई प्रभाव नहीं डालेगी। जहाँ तक वह विधि किसी ऐसे विषय से संबंधित है, जो अनुच्छेद 19 के खण्ड (6) के उपखण्ड (2) में निर्दिष्ट है, या वह विधि ऐसे किसी विषय के संबंध में जो अनुच्छेद 19 के खण्ड (6) के उपखण्ड (2) में निर्दिष्ट है, वह विधि बनाने से संसद या किसी राज्य के विधान मण्डल को नहीं रहेगी।[4]

---

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–302
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–303.
3. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–304.
4. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–305.

"संसद विधि द्वारा ऐसे प्राधिकारी की नियुक्ति कर सकेगी जो वह अनुच्छेद 301, अनुच्छेद 302 अनुच्छेद 303 और अनुच्छेद 304 के प्रयोजनों के कार्यान्वित करने के लिऐ समुचित समझे और इस प्रकार नियुक्त प्राधिकारी को ऐसी शक्तियाँ प्रदान कर सकेगी और सौंप सकेगी जो वह आवश्यक समझे।[1]

" इस भाग में जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो राज्य पद के अंतर्गत जम्मू कश्मीर राज्य नहीं है।[2]

इस संविधान के उपबंधों के अधीन रहते हुऐ समुचित विधान मण्डल के अधिनियम संघ या किसी राज्य के कार्य कलापों से संबंधित लोक सेवाओं और पदों के लिऐ भर्ती का और नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तो का विनियम कर सकेंगे :

परंतु जब तक इस अनुच्छेद के अधीन समुचित विधान मण्डल के अधिनियम द्वारा या उसके अधीन इस निमित्त उपबंध नहीं किया जाता है, तब तक यथा स्थिति संघ के कार्य कलापों से संबंधित सेवाओं और पदों की दशा में राष्ट्रपति या ऐसा व्यक्ति जिसे वह निर्दिष्ट करे और राज्य के कार्य कलापों से संबंधित सेवाओं और पदों की दशा में राज्य का राज्यपाल या ऐसा व्यक्ति जिसे वह निर्दिष्ट करे, ऐसी सेवाओं और पदों के लिऐ भर्ती का और नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तो का विनियम करने वाले नियम बनाने के लिऐ सक्षम होगा और इस प्रकार बनाऐ गऐ नियम किसी ऐसे अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुऐ प्रभावी होंगे।[3]

(1) इस संविधान द्वारा अभिव्यक्त रूप से जैसा उपबंधित है, उसके सिवाय, प्रत्येक व्यक्ति जो रक्षा सेवा का या संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है, अथवा रक्षा से संबंधित किसी पद को या संघ के अधीन किसी सिविल पद को धारण करता है, और प्रत्येक व्यक्ति जो किसी राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है या राज्य के अधीन किसी सिविल पद को धारण करता है उस राज्य के राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है।

(2) इस बात के होते हुऐ भी कि संघ या किसी राज्य के अधीन सिविल पद धारण करने वाला व्यक्ति, यथा स्थिति,, राष्ट्रपति या राज्य के राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है, कोई संविदा जिसके अधीन किसी व्यक्ति को जो रक्षा सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या संघ या राज्य की सिविल सेवा का सदस्य नहीं है, ऐसे किसी पद को धारण करने के लिऐ इस संविधान के अधीन नियुक्त किया जाता है यदि यथा स्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल विशेष अहर्ताओं वाले किसी व्यक्ति की सेवाऐं प्राप्त करने के लिऐ यह आवश्यक समझता है, तो यह उपबंध कर सकेगी कि यदि करार की गई अवधि की समाप्ति से पहले वह पद समाप्त कर दिया जाता है या ऐसे कारणों से जो उसके किसी अवचार से संबंधित नहीं है, उससे वह पद समाप्त कर दिया जाता है या ऐसे कारणों से जो उसके किसी अवचार से संबंधित नहीं है, उससे

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–307.
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–308.
3. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–309.

वह पद रिक्त करने की अपेक्षा की जाती है, तो उसे प्रति कर दिया जाऐगा।[1]

(1) किसी व्यक्ति को जो संघ की सिविल सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है अथवा संघ या राज्य के अधीन सिविल पद धारण करता है, उसकी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जाऐगा या पद से नहीं हटाया जाऐगा।

(2) यथा पूर्ववत किसी किसी व्यक्ति को, ऐसी जाँच के पश्चात् ही जिसमें उसे उसके विरुद्ध आरोपों की सूचना दे दी गई है और उन आरोपों के संबंध में सुनवाई का युक्ति युक्त अवसर दे दिया गया है, पदच्युत किया जाऐगा या पद से हटाया जाऐगा या पंक्ति में अवनत किया जाऐगा, अन्यथा नहीं :

परन्तु जहाँ ऐसी जाँच के पश्चात् उस पर ऐसी शक्ति अधिरोपित करने की प्रस्थापना है, वहाँ ऐसी शक्ति ऐसी जाँच के दौरान दिऐ गऐ, साक्ष्य के आधार पर अधिरोपित की जा सकेगी और ऐसे व्यक्ति को प्रस्थापित शक्ति के विषय में अभ्यावेदन करने का अवसर देना आवश्यक नहीं होगा :
परंतु यह और बात हैं कि यह खंड वहाँ लागू नहीं होगा–

(A) जहाँ किसी व्यक्ति को ऐसे आचरण के आधार पर पदच्युत किया जाता है या पद से हटाया जाता है, या पंक्ति में अवनत किया जाता है, जिसके लिऐ आपराधिक आरोप पर उसे दोष सिद्ध किया गया है, या

(B) जहाँ किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिऐ सशक्त प्राधिकारी का यह समाधान हो जाता है किस किसी कारण से जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जावेगा, यह युक्ति युक्त रूप से साध्य नहीं है कि ऐसी जाँच की जाऐ, या

(C) जहाँ, यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल का यह समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है कि ऐसी जाँच की जाये।

(3) यदि यथा पूर्ववत किसी व्यक्ति के संबंध में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि खण्ड (2) में निर्दिष्ट जाँच करना युक्ति युक्त रूप से साध्य है, या नहीं तो उस व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्ति में अवनत करने के लिऐ सशक्त प्राधिकारी का उस पर विनिश्चय अंतिम होगा।[2]

(1) भाग 6 के अध्याय 6 या भाग 11 में किसी बात के होते हुऐ भी यदि राज्यसभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा यह घोषित कर दिया गया है कि राष्ट्रीय हित में ऐसा करना आवश्यक या समीचीन है, तो संसद, विधि द्वारा संघ और राज्यों के लिऐ सम्मिलित एक या अधिक अखिल भारतीय सेवाओं

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–310.
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–311.

के (जिनके अंतर्गत अखिल भारतीय न्यायिक सेवा है) सृजन के लिऐ उपबंध कर सकेगी और इस अध्याय के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुऐ, किसी ऐसी सेवा के लिऐ भर्ती का और नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तो का विनिमयन कर सकेगी।

(2) इस संविधान के प्रारंभ पर भारतीय प्रशासनिक सेवा के नाम से ज्ञात सेवाऐं इस अनुच्छेद के अधीन संसद द्वारा सृजित सेवाऐं समझीं जाऐंगी।

(3) खण्ड (1) में निर्दिष्ट अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के अंतर्गत अनुच्छेद 236 में परिभाषित जिला न्यायाधीश के पद से ऊपर कोई पद नहीं होगा।

(4) पूर्ववत अखिल भारतीय न्यायिक सेवा के सृजन के लिऐ उपबंध करने वाली विधि में भाग 6 के अध्याय 6 के संशोधन के लिऐ ऐसे उपबंध अंतर्विष्ट हो सकेगे जो उस विधि के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिऐ आवश्यक हों और ऐसी कोई विधि अनुच्छेद 368 के प्रयोजनों के लिऐ इस संविधान का संशोधन नहीं समझी जाऐगी।[1]

(1) संसद विधि द्वारा–

(A) उन व्यक्तियों के जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा या सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल द्वारा इस संविधान के प्रारंभ के पहले भारत में क्राउन की किसी सिविल सेवा में नियुक्त किऐ गऐ थे और जो संविधान (28वां संशोधन) अधिनियम, 1972 के प्रारंभ पर और उसके पश्चात भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी सेवा या पद पर बने रहते हैं पारिश्रमिक, छुट्टी और पेंशन संबंधी सेवा की शर्तो में तथा अनुशासनिक विषयों संबंधी अधिकारों में भविष्य लक्ष्यी या भूत लक्ष्यी रूप से परिवर्तन कर सकेगी या उन्हें प्रति संहृत कर सकेगी।

(B) उन व्यक्तियों की जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा या सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल द्वारा इस संविधान के प्रारंभ के पहले भारत में क्राउन की किसी सिविल सेवा में नियुक्त किऐ गऐ थे और जो संविधान (28वां संधोधन) अधिनियम 1972 के प्रारंभ के पहले किसी समय सेवा से निवृत्त हो गऐ हैं या अन्यथा सेवा में नहीं रहे हैं, पैंशन संबंधी सेवा की शर्तो में भविष्य लक्ष्मी या भूतलक्ष्मी रूप से परिवर्तन कर सकेगी या उन्हें प्रति संहृत कर सकेगी :

परंतु किसी ऐसे व्यक्ति की दशा में जो उच्चतम न्यायालय या किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति या अन्य न्यायाधीश भारत के नियंत्रक, महालेखा परीक्षक, संघ या किसी राज्य के लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष या अन्य सदस्य अथवा मुख्य निर्वाचन आयुक्त का पद धारण कर रहा है, या कर चुका है उपखण्ड (क) या उपखण्ड (ख) की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाऐगा कि वह संसद को उस व्यक्ति की उच्च पद पर नियुक्ति के पश्चात उसकी सेवा की शर्तो में वहाँ तक के सिवाय जहाँ तक ऐसी सेवा की शर्तो में उसे सेक्रेटरी ऑफ स्टेट द्वारा या सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इन कौंसिल द्वारा भारत में क्राउन की किसी सिविल सेवा में नियुक्त किया गया व्यक्ति होने के कारण लागू है, उसके लिऐ लाभाकारी परिवर्तन करने के लिऐ या उन्हें

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–312.

प्राधिकृत करने के लिऐ सशक्त करती है।

(2) वहाँ तक के सिवाए जहाँ तक संसद इस अनुच्छेद के अधीन विधि द्वारा उपबंध करे इस अनुच्छेद की कोई बात खण्ड (1) में निर्दिष्ट व्यक्तियों की सेवा की शर्तो का विनियमन करने की इस संविधान के किसी अन्य उपबंध के अधीन किसी विधानमण्उल या अन्य प्राधिकारी की शक्ति पर प्रभाव नहीं डालेगी।

(3) उच्चतम न्यायालय को या किसी अन्य न्यायालय को निम्नलिखित विवादों में कोई अधिकारिता नहीं होगी, अर्थात–

(A) किसी प्रसंविदा करार या अन्य ऐसी ही लिखित के जिसे खण्ड (1) में निर्दिष्ट किसी व्यक्ति ने किया है, या निष्पादित किया हे, किसी उपबंध से या उस पर किऐ गऐ किसी पृष्ठांकन से उत्पन्न कोई विवाद अथवा ऐसे व्यक्ति को भारत में क्राउन की किसी सिविल सेवा में उसकी नियुक्ति या भारत डोमिनियन की या उसके किसी प्रांत की सरकार के अधीन सेवा में उसके बने रहने के संबंध में जारी किऐ गऐ किसी पत्र के आधार परं उत्पन्न कोई विवाद,

(B) मूल रूप में यथा अधिनियमित अनुच्छेद 314 के अधीन किसी अधिकार या बाध्यता के संबंध में कोई विवाद।

(4) इस अनुच्छेद के उपबंध मूल रूप में यथा अधिनियमित अनुच्छेद 314 में या इस संविधान के किसी अन्य उपबंध में किसी बात के होते हुऐ भी प्रभावी होंगे।[1]

जब तक इस संविधान के अधीन इस निमित्त अन्य उपबंध नहीं किया जाता है तब तक इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले प्रवृत्त सभी विधियाँ और किसी ऐसी लोक सेवा या किसी ऐसे पद को जो इस संविधान के प्रारंभ के पश्चात् अखिल भारतीय सेवा के अथवा संघ या राज्य के अधीन सेवा या पद के रूप में बना रहता है, लागू सभी विधियाँ वहाँ तक प्रवृत्त बनी रहेंगी जहाँ तक वे इसे संविधान के उपबंधों से संगत है।[2]

2 - केन्द्र व राज्यों के बीच वित्त स्रोतों का बंटवारा :

नियोजित आर्थिक विकास के कालक्रम में भारत के मौद्रिक संतुलन हेतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण हथियार के रूप में केन्द्रीय अनुदान का प्रयोग किया जाता रहा है। वस्तुतः केन्द्रीय अनुदान केन्द्र राज्य संबंधों को न केवल प्रभावित करते है, बल्कि उसे पर्याप्त हद तक संकुचित भी करते हैं। वस्तुतः समस्त केन्द्र राज्य संबंध चाहे वो विधायो हों, प्रशासनिक हों अथवा नियोजनगत हों मूलतः वे वित्त से जुड़े हैं। वित्त को दो भागों में बाँटा जाना चाहिऐ, प्रथम शासनागत वित्त, द्वितीय

1. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–312
2. **भारतीय संविधान** अनुच्छेद–312(क)

—समान्यवित्त जिसका शासकीय वित्त एक हिस्सा है। वर्तमान स्तर पर वित्तीय संबंधों के संवैधानिक प्रावधान शासकीय वित्त से जुड़े हैं। पूर्ववर्ती अध्यायों में हम यह चर्चा कर चुके हैं, कि केन्द्र और राज्य को अलग—अलग कर लगाने की शक्ति है, वस्तुतः स्थिति यह है कि राज्य के वित्तीय स्रोत अधिक नहीं है। अतः केन्द्रीय अनुदान आवश्यक हो जाता है। केन्द्र और राज्य के मध्य स्रोतों का विभाजन निम्न प्रकार से है।

केन्द्र के वित्तीय स्रोत :-[1]

(1) कर राजस्व :-

(क) केन्द्र द्वारा लगाऐ गऐ और वसूल किऐ गऐ वे कर जो केन्द्र और राज्य के बीच विभाजित होते हैं। कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय पर कर।

(ख) केन्द्र द्वारा लगाऐ गऐ और वसूल किऐ गऐ वे कर जो केन्द्र और राज्य के मध्य बाँटे जा सकते हैं। दवा, शौचालय एवं शराब को छोड़कर केन्द्रीय आबकारी कर।

(ग) संपूर्ण रूप से केन्द्रीय कर जिनमें निर्यात शुल्क, सीमा शुल्क, निगम कर, कृषि योग्य भूमि को छोड़कर अन्य संपत्ति के सकल मूल्य पर कर जो व्यक्ति और कंपनी दोनों से वसूल किया जाता हैं

उपरोक्त लिखे गऐ करों पर अधिभार एवं अवशिष्ट करारोपण।

(2) वाणिज्य कर :

रेल, डाक एवं तार बैंकिग, नमक और अफीम की खेती और लाटरी।

(3) फीस :

न्यायालय शुल्क को छोड़कर सातवीं अनुसूची के प्रथम अनुसूची के विषय पर आरोपित फीस। सर्वोच्च न्यायालय का न्याय शुल्क।

(4) संप्रभु कार्य और अधिकार :

(क) मुद्रा एवं सिक्के।
(ख) संघ की संपत्ति से प्राप्त अनुदान।
(ग) किसी व्यक्ति की अकाल निःसंतान मृत्यु या छोड़ कर चले जाने से अथवा लापता होने पर उसकी संपत्ति से प्राप्त आय

राज्य के वित्तीय स्रोत :[2]

(1) कर राजस्व

---

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद—313
2. भारतीय संविधान अनुच्छेद—313

(क) केन्द्र द्वारा लगाऐ गऐ कर जो राज्य द्वारा उदग्रहित और खर्च किऐ जाते हैं, जिसमें विनिमय, बिल, चैक प्रोमिसरी नोट, गिरवीनामा, साख पत्र, बीमा पॉलिसी, पेपर, डिवेन्चर प्रोविसी, रिसीट का हस्तांतरण, आबकारी शुल्क, जो शौचालय और दवाईयों के उन समानों में जिन में अल्कोहल रहता है, लगाऐ जाते हैं।

(ख) केन्द्र द्वारा लगाऐ गऐ वे कर जो संपूर्ण रूप से राज्य को सौंपे जाते हैं, उत्तराधिकार एवं स्टेट ड्यूटी जो सकल संपत्ति (कृषि योग्य भूमि) को छोड़कर रेल, समुद्र एवं वायुमार्गो द्वारा ढोऐ गऐ माल पर सीमान्त कर, रेल किराओं और भाड़ों पर कर, स्टाक एक्सचेन्ज और भावी बाजारों में कर, अखबारों में आने वाले विज्ञापनों के क्रय–विक्रय पर कर, अंतर्राज्यीय व्यापार और वाणिज्य में अखबारों को छोड़कर अन्य माल के क्रय–विक्रय पर कर (इसे केन्द्रीय विक्रय कर भी कहते हैं।)

(ग) कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय पर कर जिसका कुछ हिस्सा राज्य को मिलता है।

(घ) केन्द्र द्वारा लगाऐ गऐ और उदग्रहित किऐ गऐ वे कर जिनका कुछ हिस्सा राज्य को दिया जा सकता है, जैसे केन्द्रीय आबकारी कर।

(ड) राज्य द्वारा सीधे आरोपित किऐ एवं उगाहे गऐ कर जैसे भू–राजस्व, कृषि आय पर कर और उत्तराधिकार एवं एक्साइज ड्यूटी, भूमि और भवनों पर कर, उत्खनन पर कर, चुंगी कर, अंतर्राज्यीय एवं अखबारों को छोड़कर अन्य माल पर कर, अखबारों में छपे विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर, विद्युत कर, सड़कों और अंतर जल मार्गो पर द्वारा ढोये गऐ माल पर कर वाहन कर, पशु एव नावों पर कर, टोल टैक्स, व्यापार एवं वृत्ति पर कर, वैभव एवं मनोरंजन कर शराब की बिक्री पर आबकारी कर और नन जुडीशियल स्टैम्प।

(2) फीस :

सर्वोच्च न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों में वसूल किये जाने वाली फीस एवं संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची दो में वर्णित किसी विषय पर वसूल की जाने वाली फीस।

(3) वाणिज्य कर :

मत्स्य पालन, यात्री परिवहन आदि।

(4) संप्रभु कार्य एवं अधिकार :

(क) राज्य की संपत्ति से प्राप्त आय – वन, अनुपस्थित या लापता व्यक्ति की

संपत्ति से आय और तालाबों आदि से आय।

(5) केन्द्र से प्राप्त अनुदान :

विभिन्न वित्त आयोग, योजना आयोग एवं केन्द्र सरकार राज्यों और संघीय क्षेत्रों के योजनागत एवं गैर योजनागत मदों हेतु अनुदान देते रहते हैं, ये अनुदान मुख्यतः सामान्य सेवाओं, सामाजिक सेवाओं, कृषि, उद्योग, परिवहन, संचार और आर्थिक सेवाओं के लिऐ होते हैं, सन् 1981–82 में दिऐ गऐ समस्त केन्द्रीय अनुदान का 38.37 प्रतिशत पूंजी निर्माण हेतु खर्च किया गया 68.56 प्रतिशत गैर विकास कार्यो के लिऐ खर्च किया गया। केन्द्र से राज्यों को मिलने वाले अनुदानों की राशि 1960–61 में 222 करोड़ रुपये थीजो बढ़कर 1981–82 में 272 करोड़ रु. हुई और फिर 1998–99 में यह राशि 60,630 करोड़ रु. हुई। सन् 1998–99 के दौरान सरकार का खर्चा 2,64,988 करोड़ रुपये होने का अनुमान है। इसमें सन् 1999–2000 के दौरान राज्य सरकारों और केन्द्र शासित प्रदेशों को दी जाने वाली अनुदान राशि 64,461 करोड़ रुपये की योजना की रकम भी शामिल है।

केन्द्रीय अनुदानों का राज्य पर प्रभाव :

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है, कि राज्य सरकारों के व्यय पर केन्द्रीय अनुदानों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः केन्द्र द्वारा राज्यों को दिऐ जाने वाले करों के अंश के बराबर ही राज्य के व्यय हेतु दिऐ जाने वाले अनुदान की राशि होती है। सन् 1960–61 में राज्य के राजस्व व्यय में केन्द्रीय अनुदानों का प्रतिशत 22.42 था। सन् 1978–79 में यह 23.53 प्रतिशत था, यद्यपि 1981–82 मे घटकर 16 रह गया, परंतु इसके प्रभाव व्यापक सिद्ध हुऐ। यह जानना रुचिकर होगा कि सन् 1960–61 से लेकर 1878–79 एवं सन् 1988–89 व 1995–96 में राज्यों को मिलने वाले केन्द्रीय अनुदानों की राशि राज्य के राजस्व व्यय में प्राप्त करों के अंश से ज्यादा थी। अतः यह कहा जा सकता है कि राज्य के राजस्व व्यय कार्यक्रम को केन्द्रीय अनुदान व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं।

राज्य सरकारों के व्यय कार्यक्रम को केन्द्रीय अनुदान दो प्रकार से प्रभावित करते हैं। प्रथमतः जब बिना शर्त या सामान्यसेवा अनुदान राज्यों को दिऐ जाते हैं, तब राज्य की सकल राजस्व प्राप्ति में उस हद तक वृद्धि होती है, परिणामस्वरूप वह कार्यक्रम प्रभावित होता है। द्वितीयतः जब विशिष्ट कार्यक्रमों के लिऐ अनुदान दिऐ जाते हैं, तब उन कार्यक्रमों पर होने वाले व्यय में वृद्धि होती है, दोनों ही स्थितियों में राज्य के राजस्व व्यय पर केन्द्रीय अनुदानों का प्रभाव पड़ता है। चूंकि अनुदानों के उद्देश्यों में से एक आवश्यक सामाजिक और प्रशासकीय सेवाओं के स्तरों में सुधार लाना है, अतः गरीब राज्यों को समान गुणवत्ता एवं मात्रा जो कि प्रगत राज्यों के द्वारा उन मदों पर खर्च की जाती है, से समानता बनाऐ रखने हेतु अधिक अनुदान की आवश्यकता होती है। यह या तो राज्य को बिना शर्त अथवा सामान्य सेवाओं हेतु अनुदान देकर राज्य के राजस्व में वृद्धि के रूप में किया जा सकता है, अथवा उन राज्यों को व्यय की समानता हेतु विशिष्ट मदों में अतिरिक्त अनुदान देकर किया जा सकता है।जब राज्यों को बिना शर्त अथवा सामान्य सेवा अनुदान दिऐ जाते हैं, तो उससे राजस्व की समानता को प्राप्त किया जा सकता है, परंतु यह आवश्यक नहीं है कि बिना शर्त अविा सामान्य सेवाओं के लिऐ दिऐ जाने वाले अनुदानों से भले

ही राजस्व में समानता आ जाऐ परंतु इससे सेवाओं के स्तर पर व्यापक असर हो, क्योंकि इस सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय कतिपय अन्य तत्वों पर निर्भर करता है, जैसे उस विशेष सेवा को राज्य द्वारा दिया जाने वाला महत्व या उस सेवा को अन्य कार्यक्रम के निष्पादन की तुलना में दी जाने वाली वरीयता इत्यादि। परंतु यह याद रखना आवश्यक है, कि एक संतुलित अनुदान नीति का प्रमुख उद्देश्य संघीय भागों (राज्यों) में दी जाने वाली सामान्य जन सेवाओं के स्तरों में असमानता को दूर करना है।

3. वित्त आयोग[1]

केन्द्र से राज्यों को वित्तीय हस्तांतरण हेतु दिशा निर्देश सुझाने हेतु वित्त आयोग का गठन किया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 280 में यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति द्वारा प्रत्येक 5 वर्ष के पश्चात या आवश्यकता पड़ने पर उससे पूर्व एक वित्त आयोग का गठन किया जाऐगा जिसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य होंगे। अनुच्छेद 280 के अनुसार आयोग का कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्रपति को निम्नलिखित के संबंध में संस्तुतियाँ दे–

(1) केन्द्र तथा राज्यों के बीच विभाजनीय करों से प्राप्त शुद्ध राजस्व का वितरण तथा इसमें विभिन्न राज्यों का हिस्सा।

(2) भारत की संचित निधि **(Consolidated fund of India)** में से राज्यों को दिऐ जाने वाले अनुदानों के लिए सिद्धांत

(3) सुदृढ़ वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को निर्दिष्ट किया गया अन्य कोई मामला,

उपर्युक्त संदर्भ में ही भारत में अब तक 10 वित्त आयोगों का गठन किया जा चुका है, पहले वित्त आयोग का गठन 1951 में श्री के.सी. नियोगी की अध्यक्षता में किया गया था।

वित्त आयोग की नियुक्ति बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके माध्यम से केन्द्र और राज्यों के बीच बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार वित्तीय संबंधों में परिवर्तन की गुंजाइश है। अब तक गठित दस वित्त आयोगों ने अपनी सिफारिशें दे दीं है, इन्हें तीन शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है।

(क) आयकर तथा अन्य करों का विभाजन तथा वितरण

(ख) अनुदान एवं

(ग) संघ द्वारा राज्यों को दिया गया ऋण

भारत के विभिन्न वित्त आयोगों के गठन वर्ष क्रियान्वयन वर्ष, एवं अध्यक्ष का नाम आदि बातों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है ।

---

1. **प्रतियोगिता दर्पण,** (विशेषांक–भारतीय अर्थव्यवस्था)

चार्ट क्रमांक 5: भारत के वित्त आयोग

क्रमांक	गठन का वर्ष	अध्यक्ष का नाम	क्रियान्वयन वर्ष	रिपोर्ट देने का वर्ष
पहला	1951	के0सी0नियोगी	1952–57	1952
दूसरा	1956	के0सन्थानम	1957–62	1956 व 1957
तीसरा	1960	ए0के0चन्दा	1962–66	1961
चौथा	1964	डा0पी0वी0राजामन्नार	1966–69	1965
पंचावा	1968	महावीर त्यागी	1969–74	1968 व 1969
छठा	1972	ब्रह्मानंद रेड्डी	1974–79	1973
सातवां	1977	जे0एम0शेलट	1979–84	1978
आठवां	1983	वाई0बी0चाव्हण	1984–89	1983 व 1984
नवां	1987	के0पी0साल्वे	1988–95	1956 व 1989
दसवां	1992	के0सी0 पन्त	1995–2000	1994 (26 नवंबर)
ग्यारहवां	1998	प्रा0ए0एम0खुसरो	2000–2005	1999 दिसंबर

आयकर का विभाजन एवं वितरण

आयकर के वितरण के संबंध में विभिन्न वित्त आयोगो द्वारा दी गई सिफारिशों का निम्न लिखित तालिका द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

चार्ट क्रमांक 6:– आयकर के संबंध में वित्त आयोगों की सिफारिशें

राज्यों में आयकर का वितरण			
	वितरण का आधार (प्रतिशत)		
वित्त आयोग	आयकर में राज्यों का भाग	जनसंख्या के आधार पर	राज्य द्वारा एकत्रित किऐ गऐ कर आय के आधार पर
पहला	55	80	20
दूसरा	60	90	10
तीसरा	66	80	20
चौथा	75	80	20
पांचवां	75	90	10
छठा	80	90	10
सातवां	85	90	10
आठवां	85	90	10
नौंवा	85	90	10

उत्पादन शुल्क का विभाजन एवं वितरण -

उत्पादन शुल्क के संबंध में दी गई सिफारिशों को निम्न लिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

चार्ट क्रमांक .7 : उत्पादन शुल्क के वितरण के संबंधो में वित्त आयोगों की सिफारिशें

राज्यों में उत्पादन शुल्क का वितरण			
वित्त आयोग	उत्पादन शुल्क में राज्यों का हिस्सा	जनसंख्या के आधार पर	राज्यों के पिछडे़पन जैसी अन्य शर्तो के आधार पर
पहला	3 शुल्को का 40%	40%	60%
दूसरा	8 शुल्कों का 25%	–	–
तीसरा	35 शुल्कों कार 20%	–	–
चौथा	45 शुल्कों का 20%	80%	20%
पांचवा	45 शुल्कों का 20%	--	20%
छठा	45 शुल्कों का 20%	75%	25%
सातवां	सभी शुल्कों का 40%	–	चार कारकों का 25%
आठवां एवं नवा	सभी शुल्कों का 40%	–	नया फार्मूला

राज्यों को सहायता अनुदान

इस संबंध में विभिन्न वित्त आयोगों की सिफारिशो को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

चार्ट क्रमांक 8 राज्यों को सहायता अनुदान की राशि

वित्त आयोग	सहायता अनुदान का उद्देश्य
पहला	7 राज्यों को 1951–56 के दौरान अपने घाटे की पूति के लिए
दूसरा	राज्यों की विकास आवश्यकताओं को पूरा करने के लिऐ अधिक सहायता अनुदान
तीसरा	महाराष्ट्र को छोड़कर सभी राज्यों को अपने राजस्व व्यय के एक भाग की पूर्ति के लिऐ 550 करोड़ रूपये तथा संचार में उन्नति के लिऐ 45 करोड़ रूपये।
चौथा	1966–71 के दौरान राजस्व घाटे की पूर्ति के लिऐ 610 करोड़ रूपये।
पांचवा	1969–74 की अवधि के लिऐ राजस्व घाटे की पूर्ति हेतु 638 करोड़ रूपये।
छठा	21 में से 14 राज्यों को 1974–79 की अवधि के लिऐ अपने योजना एवं भिन्न घाटे की पूर्ति के लिऐ 2,510 करोड़ रूपये।
सातवां	1980–85 की अवधि के लिऐ अपने घाटे को पूरा करने के लिऐ और प्रशासन का स्तर उन्नत करने के लिऐ 1,6000 करोड़ रूपये,
आठवां	1985–90 की अवधि के लिऐ अपने राजस्व घाटों को पूरा करने के लिऐ 1,556 करोड़ रूपये तथा कुछ राज्यों को प्रशासन का स्तर उन्नत करने के लिऐ 915 करोड़ रूपऐ का अनुदान।
नवां	(i) 1990–95 की अवधि के लिऐ योजना एवं योजन भिन्न राजस्व के घाटे को पूरा करने के लिऐ 15,017 करोड़ रूपए का अनुदान। (ii) विपत्ति राहत कोष में केन्द्र के योगदान के रूप में 3015 करोड़ रूपए का अनुदान और (iii) भोपाल गैस त्रासदी के पीड़ितों के पुनर्वास हेतु म0प्र0 सरकार को 122 करोड़ रूपऐ का अनुदान

दसवां वित्त आयोग -

राष्ट्रपति महोदय द्वारा दसवें वित्त आयोग का 15 जून 1992 को गठन किया गया। पूर्व रक्षा मंत्री श्री कृष्ण चंद्र पंत, दसवें वित्त आयोग के अध्यक्ष नियुक्त किऐ गऐ थे। आयोग को अपनी रिपोर्ट 30 नवंबर, 1993 तक प्रस्तुत करने को कहा गया था परंतु बाद में इस अवधि को बढ़ाकर 30 नवंबर 1994 तक कर दिया गया था। इसकी सिफारिशें 1 अप्रैल 1995 से अगले पाँच वर्ष के लिऐ प्रभावी है।

दसवें वित्त आयोग ने यह अनुमान लगाया कि राज्यों के राजस्व खाते में घाटा 7,580 करोड़ रूपऐ होगा और इसको देखते हुऐ 1995–2000 की अवधि के लिऐ

7,580 करोड़ रुपऐ के अनुदान की सिफारिश की। इसके अतिरिक्त दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की कि विपत्ति राहत के लिऐ 4,730 करोड़ रुपऐ और स्थानीय निकायों अर्थात पंचायतों और नगरपालिकाओं के लिऐ 5,380 करोड़ रुपऐं का अनुदान दिया जाऐ।

इस प्रकार कुल मिलाकर दसवें वित्त आयोग ने 1995–2000 की अवधि के लिऐ राज्यों को 20,300 करोड़ रुपऐ के सहायता अनुदान की सिफारिश की है । दसवें वित्त आयोग को 31 मार्च, 1994 तक राज्यों की ऋण स्थिति की समीक्षा करने और राजकोषीय घाटे को कम करने के उपायों की सिफारिश करने का निर्देश दिया गया था । दसवें वित्त आयोग ने राज्यों एवं केन्द्र के विचारों को दृष्टि में रखकर अपनी सिफारिशें दीं।

आयोग ने बकाया ब्याज को शामिल करते हुऐ राज्यों पर कुल ऋण भार 2,25,000 करोड़ रुपऐ आकलित किया है। इसे कम करने के लिऐ तीन योजनाओं की संस्तुति आयोग ने की है। इनमें से पहली योजना सभी राज्यों के लिऐ है, जबकि दूसरी योजना उन कमजोर राज्यों को राहत पहुँचाने के लिऐ है जो राजकोषीय संकट में हैं तथा तीसरी योजना सार्वजनिक उपक्रमों में उपनिवेश को प्रोत्साहन देने के लिऐ हैं।

दसवें वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि ऋण राहत की पहली योजना के तहत बेहतर राजकोषीय निष्पादन का प्रदर्शन करने पर राज्यों के बकाया केन्द्रीय ऋण का 5 प्रतिशत माफ कर दिया जाऐ। बेहतर राजकोषीय निष्पादन के लिऐ मानक भी आयोग द्वारा निर्धारित किऐ गऐ हैं।

ऋण राहत की दूसरी योजना गंभीर राजकोषीय संकट वाले राज्यों के लिऐ है। उड़ीसा, बिहार तथा उत्तर प्रदेश इस श्रेणी में आने वाले राज्य हैं, इन राज्यों को 1989–95 के दौरान दिऐ गऐ तथा 31 मार्च 1995 को बकाया केन्द्रीय ऋणों के 5 प्रतिशत भाग की माफी की संस्तुति की गई है।

आयोग की तीसरी योजना के तहत जो राज्य अपने सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में उपनिवेश करेंगे, उन्हें उपनिवेशित राशि के 5 प्रतिशत के तुल्य राहत ऋण माफी के रूप में प्रदान की जानी चाहिऐ। राज्यों के उपक्रमों के खराब निष्पादन को देखते हुऐ ही आयोग ने इनमें उपनिवेश को प्रोत्साहन देने के लिऐ यह संस्तुति की है। इससे राज्यों की राजकोषीय स्थिति में सुधार हो सकेगा।

इस प्रकार दसवें वित्त आयोग ने कुल मिलाकर 1995–2000 की अवधि के लिऐ 700 करोड़ रूपऐ की ऋण राहत की सिफारिश की।

चार्ट क्रमांक 9: पिछले वित्त आयोगों द्वारा वैधानिक हस्तांरण के अंग (करोड़ो रू० में)

आयोग	कर हस्तांतरण	घाटे संबंधी अनुदान	अन्य अनुदान	कुल अनुदान	कुल हस्तांतरण
पाँचवां आयोग	3,590(88)	490	–	490 (12)	4,080 (100)
छठा आयोग	6,940(80)	820	930	1,750(20)	8,690(100)
सातवां आयोग	18,810(97)	140	390	530(3)	19,340(100)
आठवां आयोग	33,130(93)	940	1,420	2,390(7)	35,520(100)
नवां आयोग	87,880(83)	15,010	3,140	18,160(17)	1,06,040(100)
दसवां आयोग	2,06,340(99)	7,580	12,720	20,300(1)	2,26,640(100)

नोटः– कोष्ठक में दिये गये आंकड़े कुल हस्तांतरण का प्रतिशत है ।

चार्ट से स्पष्ट है कि दसवें वित्त आयोग की सिफारिशों के परिणामस्वरूप 2,26,640 करोड़ रूपऐ की राशि राज्यों को हस्तांतरित की जाऐगी। पिछले वित्त आयोगों के साथ इसकी तुलना चार्ट में दी गई है। स्पष्ट है कि कुल हस्तांतरण में कर हस्तांतरण का भाग दसवें वित्त आयोग द्वारा 99 प्रतिशत रखा गया और अनुदानों की मात्रा केवल 1 प्रतिशत थी। इस दृष्टि से दसवें वित्त आयोग ने अनुदानों के महत्व को नगण्य बना दिया।

राज्यों को वित्तीय हस्तांतरण की मौजूदा योजना के तहत हस्तांतरण के संबंध में अपना अधिनिर्णय देने के पश्चात् दसवें वित्त आयोग ने ऊर्ध्व संसाधन विभाजन (Verticat Resource sharing) की एक विकल्प योजना भी प्रतिपादित की है जो आयोग की राय में वर्तमान कर विभाजन प्रणाली से बेहतर है। भारत सरकार के वित्त मंत्रालय ने भी दसवें वित्त आयोग को यह कहा कि वह कर विभाजन के ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन करने की जाँच करे कि केन्द्र का समग्र राजस्व (केवल अधिभारो को छोड़कर) विभाजनीय बन जाऐ। इसका अनुपात 22 से 23 प्रतिशत के

बीच निश्चित किया जा सकता है और यह 20 वर्षो के लिऐ कारगर समझा जाऐगा, यदि राज्यों को केन्द्रीय करों से कुल प्राप्तियों का भाग देना है तो इसके लिऐ संविधान में संशोधन करना होगा।

4. केन्द्र राज्य संबंधों पर वित्तीय प्रावधानों का प्रभाव

इस अध्याय में दिऐ गऐ वित्तीय प्रावधान, अनुदानों और राजस्व के विभाजन की पद्धति के अवलोकन से तीन बातें स्पष्ट होती है। पहली यह कि कोई भी वित्तीय प्रावधान ऐसा

नहीं है, जो राज्य के पक्ष में जाता हो। राज्य के वित्तीय स्रोतों की सूची यद्यपि लंबी है परंतु यह कहना समीचीन होगा कि राज्यों को इन स्रोतों से प्राप्त आय, केन्द्रीय आय का दसवां हिस्सा भी नहीं होती है, परंतु राज्यों को न केवल अपने कार्यक्रम निष्पादित करने होते है, बल्कि उन्हें केन्द्रीय कार्यक्रम आवश्यक है, बल्कि उन्हें केन्द्रीय कार्यक्रम के निष्पादन में भी हाथ बंटाना होता है । खास तौर से मध्य प्रदेश जैसे विशाल राज्य के न केवल केन्द्रीय कार्यक्रम आवश्यक है बल्कि राज्य के अपने कार्यक्रम भी आवश्यक हैं। इसे राज्य के नेतृत्व की दुर्बलता अथवा राज्य सेवाओं की अकुशलता कहनी होगी कि मध्य प्रदेश के विकास के लिऐ वह अधिक आय के स्रोत नहीं

जुटा सकी और तो और यूनियन कार्बाइड के भोपाल स्थित कारखाने में गैस के रिसाव के कारण प्रभावित गैस पीड़ितों को घटना के इतने वर्षो बाद भी यथाचित मुआवजा नहीं दिया जा सका है।

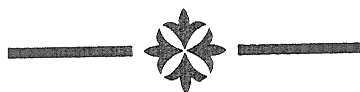
इसका कारण यह है कि स्वार्थगत राजनीति और सस्ती लोकप्रियता के अर्जन हेतु राज्य नेतृत्व ने जनता को अनावश्यक सुविधाऐं तो दीं परंतु आवश्यक सेवाओं से वंचित रखा। राज्य के साधन संपन्न होते हुऐ भी, वित्तीय विपन्नता यह दर्शाती है कि प्रदेश में एक सूत्रबद्ध वित्तनीति का अभाव है। 18 अप्रैल 1985 को भारतीय रिजर्व बैंक में मध्य प्रदेश के समस्त भुगतानों को रोककर जो अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया स्वाधीनतापूर्व के भारत और स्वाधीन भारत में अनूठा उदाहरण है। यह कदम राज्य की वित्तीय असफलता का संकेत था। इसका केन्द्र राज्य संबंधों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। पहले से ही जो नेतृत्व केन्द्र अनुगामी था, इस स्थिति से उबरने के लिऐ और अधिक केन्द्र अनुगामी हो गया। परिणामस्वरूप मध्य प्रदेश के वाजिब हितों की मांग करना तो दूर प्रदेश का नेतृत्व चाटुकारिता पर उतर आया। परिणामस्वरूप मध्य प्रदेश के विकास का कार्य अधूरा ही रह गया। वर्तमान नेतृत्व से भी कोई भारी उम्मीदें नहीं रखी जा सकती। प्रत्येक वित्त आयोग ने म०प्र० को साधनों के आवंटन में धोखा ही दिया है। राज्य के आकार और वांछित सुविधाओं की कमी को देखते हुऐ वित्त आयोगों द्वारा आवंटित राशि ऊँट के मुंह में जीरे के समान है। पहले भी यह कहा जा चुका है, कि केन्द्र राज्य संबंध मूलतः वित्तीय संबंध होते हैं। अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं है, कि मध्य प्रदेश की मागों और साधनों के आवंटन में राज्य के नेतृत्व की दुर्बलता ने प्रदेश का अहित किया है।

इन प्रावधानों के अवलोकन से दूसरी बात जो स्पष्ट होती है, वह यह है कि इन प्रावधानों द्वारा केन्द्र के वित्तीय स्रोतों को, अत्याधिक लचीला बनाया गया है। वहीं दूसरी ओर राज्य के वित्तीय स्रोतों पर कतिपय अंकुश भी लगाऐ गऐ हैं। राज्यों द्वारा सार्वजनिक रूप से धन प्राप्ति (Public Borrowing) में भी केन्द्र पक्षपात बरतता है, परिणामस्वरूप सन् 1955–56 में जहाँ 82 करोड़ रू० के कुल ऋणों में से 55 करोड़ के ऋण राज्य सरकारों ने लिऐ थे। वहीं 1982–83 तक उन्हें अपने स्रोतों का भाव 10.5 प्रतिशत लोक ऋणों से प्राप्त करने की इजाजत दी गई थी। नौंवी पंचवर्षीय योजना का कुल आकार 8,75,000 करोड़ रूपऐ बनता है। इसमें 7,60,000 करोड़ रूपऐ पूंजीगत निवेश होगा। बजट 1997–99 में नौंवी योजना के लिऐ 3,70,000 करोड़ रूपऐ की व्यवस्था की गई है।

इन प्रावधानों के अवलोकन से तीसरी बात जो प्रकट होती है वह यह है, कि वित्त

और नियोजन में, राज्यों से सहयोग की अपेक्षा तो की जाती है, परंतु उनको साधन देना तो दूर उनके अपने साधन भी केन्द्र ले लेता है, उदाहरणार्थ राज्य की योजनाओं के लिऐ अथवा परियोजनाओं के लिऐ प्राप्त होने वाली विदेशी सहायता (विश्व बैंक, एशियन विकास बैंक आदि विदेशी वित्तीय संस्थाऐं) जो कि केन्द्र के माध्यम से राज्य को प्राप्त होती है, का 33 प्रतिशत केन्द्र सरकार रख लेती है।[1]

अतः सार रूप में यह कहा जा सकता है कि समस्त वित्तीय प्रावधान नियोजन संबंधी सीमा रेखाऐं एवं सेवाओं संबंधी प्रावधान, राज्य में राज्य को मजबूत करने के लिऐ नहीं बल्कि राज्य में केन्द्र के हितों की सुरक्षा हेतु निर्मित हैं।



1. एम0पी0 कोनिकल, भोपाल, 29 जनवरी 1984

अध्याय पञ्चम

1987 के पूर्व एवं पश्चात् केन्द्र राज्य संबंधों में गुणात्मक अंतर की तुलना

1. अलगाववादी शासन का प्रारम्भ,
2. धारा ३५६ का उपयोग,
3. राज्यपाल की भूमिका,
4. उच्छृंखलता का बढ़ता खतरा,
5. न्यायालय का हस्तक्षेप,

1987 के पूर्व एवं पश्चात केन्द्र राज्य सम्बन्धों में गुणात्मक अन्तर की तुलना

भारतीय संविधानकारों ने जिस प्रकार के संघ–राज्य सम्बन्धों की परिकल्पना की थी, वह 1950 से लेकर 1967 तक सत्तरह वर्षो तक भली प्रकार कार्यान्वित होती रही। यथार्थ में ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि इस समय संघ एवं समस्त राज्यों में कांग्रेस पार्टी का ही शासन था, तथा इसके अतिरिक्त इस समय देश को नेहरू जैसे नेता का नेतृत्व प्राप्त था। जिनके समय में यदि केन्द्र और राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न होने की कभी कोई सम्भावना उदित होती सी दृष्टिगोचर होती थी तो उसका शीघ्रता के साथ निराकरण कर लिया जाता था। 1964 में नेहरू जी के देहावसान के साथ ही उस युग का भी अन्त हो गया, जिसमें कांग्रेस को राजनीतिक सत्ता का एकाधिकार प्राप्त था। इस पृष्ठभूमि में 1967 का चुनाव लड़ा गया और चुनाव के परिणामों से यह सिद्ध हो गया कि कांग्रेस की स्थिति अब पहले जैसी नहीं हैं, अब उसकी स्थिति आक्रमणकारी न होकर प्रतिरक्षात्मक थी, एक दल का शासन अब संक्रान्ति के युग में से होकर गुजर रहा था। कांग्रेस का बहुमत अब लोकसभा में पहले की अपेक्षा बहुत कम था। देश के कुछ राज्यों की विधान सभाओं में उसे विरोधी दलों की भूमिका अदा करने के लिये विवश होना पड़ा। सत्ता में आते ही इन राज्यों के नेताओं ने केन्द्र के साथ संघर्ष की बात कहना आरम्भ कर दिया। इस पृष्ठभूमि में यह अनिवार्य था कि संघ राज्य सम्बन्धों का एक नया चरण आरम्भ होता। वास्तव में चौथें आम चुनाव के बाद देश में राजनीति सत्ता का विकेन्द्रीकरण आरम्भ हुआ, फलतः इस काल में आत्म–विकास के लिये क्षेत्रीय आकांक्षायें खुल कर सामने आयी। यथार्थ में ऐसा होना उचित ही था, क्योकि भारत में जाति वाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रीयता के प्रति जन साधारण का जो लगाव पाया जाता हैं। उनकी किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती है। संघात्मक विकास की प्रकिया मे जातिवाद सम्प्रदायवाद, क्षेत्रीयता का ही महत्त्व हैं। शासकों एवं शासितों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध केवल इस स्थिति में स्थापित हो सकते हैं,। जब कि इनके बीच सम्पर्क क्षेत्रीय भाषा के माध्यम से कायम किया जाय । इसलिये यह ठीक ही है कि लोग केन्द्र की अपेक्षा राज्य के साथ अधिक आत्मीयता का अनुभव करते है । इससे यह स्पष्ट है कि केन्द्र और जनता के बीच फासला केवल भौगोलिक ही नहीं हैं, अपितु मनोवैज्ञानिक भी है । इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति का कोई भी विद्यार्थी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता कि नेहरू जी के निधन के उपरान्त राज्यों में क्षेत्रीय नेताओं का उदय हुआ। ये क्षेत्रीय नेता संविधान के द्वारा व्यवस्थित प्रशासकीय केन्द्रीकरण को अपने रास्ते में रूकावट मानते थे । फलस्वरूप इस काल में जहां संघ एवं राज्यों के बीच संघर्षो का उदय हुआ, वहां क्षेत्रीय नेताओं एवं प्रशासकीय अधिकारियों के बीच के संघर्ष का भी सूत्रपात हुआ ।

1- जातिवादः-

भारत जैसे पारस्परिक समाज में संसदीय सरकार, राजनीतिक दल तथा विरोधी दलों द्वारा संचालित जन–आन्दोलन को कैसे खपाया जा सकता है । आखिर ये सब आधुनिक विचार थे और भारत की प्राचीन परम्पराओं के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं था । अतः प्रश्न था कि

इन दोनों के बीच किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जा सकता हैं । इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जाति प्रणाली से संबंद्ध हैं । अतः यहां उसकी विस्तृत विवेचना आवश्यक हैं ।

भारत की सामाजिक पद्धति का संगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है। परन्तु जब हम जाति और राजनीति के अन्तः सम्बन्धों की विवेचना करते हैं तो सामान्यतः हम गलत प्रश्न से अपने अध्ययन का आरम्भ करते हैं – "क्या जाति प्रणाली का लोप हो रहा हैं ? " वस्तुतः यह एक गलत प्रश्न है । उसके स्थान पर जो प्रश्न होना चाहिये वह यह है कि राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति किस प्रकार का रूप धारण कर रही है । तथा जातिग्रस्त समाज में राजनीति का क्या रूप हैं ? जो भारतीय राजनीति में जातिवाद की उपस्थिति की शिकायत करते हैं । वे वास्तव में इस प्रकार की राजनीति की कल्पना करते हैं । जिसका कोई आधार नहीं है । इन लोगों को न तो राजनीति के सम्बन्ध में सही समझ है और न जाति प्रणाली की। वास्तव में संघात्मक के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे उससे संबद्ध पक्ष अपने लिये समर्थन प्राप्त कर सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सके । जिस समाज में जाति को सबसे अधिक महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है, उसमें यह अत्यन्त स्वाभाविक हैं कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपकों संगठित करने का प्रयास करें। इस प्रकार वह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं, वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है । जब राजनीति में जाति की अभिव्यक्ति होती है तो उसके माध्यम से जाति और रक्त सम्बन्धों पर आधारित समुदाय अपने लिए राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं । राजनीतिक नेता जाति समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं, ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुंचने में सहायता मिल सके । यदि राजनीतिक नेताओं को अपने लिये समर्थन प्राप्त करने हेतु जाति समुदायों के अतिरिक्त कोई दूसरे प्रकार के समुदाय उपलब्ध हैं, तो उन्हें उनको भी प्रयोग में लाने में संकोच नहीं होता।

जाति प्रणाली समाज का एक परम्परागत पहलू है । यह सही हैं कि पिछले वर्षो में पश्चिम के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय समाज का आधुनिकीकरण हुआ हैं । परन्तु यह आधुनिकीकरण समाज के पारस्परिक रूप का पूर्णतः उन्मूलन करने में असफल रहा हैं। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी, उन्हें वोटों को प्राप्त करने के लिऐ जन साधारण के पास पहुंचने की आवश्यकता थी । यह स्पष्ट हैं कि जनसाधारण का समर्थन, प्राप्त करने के लिये यह भी आवश्यक था कि उनसे उस भाषा में बात की जाय जो उन्हें ग्राहय हो । जाति प्रणाली इस प्रकार की भाषा को प्रस्तुत करती थी । ऐसी स्थिति में यदि राजनीति में जाति की भूमिका अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गई हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं थीं ।

यह प्रक्रिया मुख्यतः तीन चरणों से होकर गुजरी । आरम्भ में सत्ता में और लाभों के लिये संघर्ष केवल उन बिरादरियों तक सीमित था, जिन्हें सामाजिक पद सोपान में ऊँचा स्थान प्राप्त था । इस समुदाय के हाथों में राजनीतिक सत्ता और आर्थिक लाभ दोनों केन्द्रित थे । ऐसी

स्थिति में यह अनिवार्य था कि शेष बिरादरियों में इस चेतना का उदय होता कि लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के विकास के फलस्वरूप उन्हें अपेक्षित लाभों से वंचित रहना पड़ रहा हैं । ये बिरादरियां अपनी इस स्थिति से असन्तुष्ट थी, अतः वे भी राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने की इच्छा करने लगी हैं ।

परन्तु सत्ता को प्राप्त करने के लिये यह परमावश्यक था कि उन जाति समुदायों से सत्ता छीनी जाये जो उसके ऊपर पहले से ही आरूढ़ हैं ।

इसके उपरान्त राजनीतिक प्रकिया के विकास का दूसरा चरण आरम्भ होता है । इस चरण में शक्ति को प्राप्त करने की आकांक्षायें तथा लाभों के लिये मांगे उपलब्ध शक्ति एवं लाभों से कहीं अधिक थी । फलतः उन्हें प्राप्त करने के लिये सत्तारूढ़ बिरादरियों और उनमें आसानी से पहचाने जाने वाले वर्गो के बीच प्रतिस्पर्धा होने लगी । इसे बिरादरी के भीतर गुटबाजी की संज्ञा दी जा सकती हैं । यदि पहले सत्ता को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता अन्तर्जातीय थी तो अब वह जाति के भीतर होने लगी । फलतः नेतृत्व में फूट का उदय हुआ और इस प्रकार अब जो नई गुटबंदिया हुई उनका स्वरूप बहुजातिय होने लगा ।

यहां ध्यान में रखने की बात यह है कि इस समय तक यह सब कुछ केवल उन बिरादरियों तक सीमित था जो सम्पन्न और पढ़ी लिखी थीं तथा जिनका सामाजिक पद सोपान में ऊंचा स्थान प्राप्त था । परन्तु दूसरे चरण में ही नीचे की बिरादरियों को राजनीति में लाने की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी । ऐसा इसलिऐ किया गया था ताकि प्रतिद्वन्दी नेता एक दूसरे के खिलाफ अपने समर्थन का आधार व्यापक बना सके । ऐसा करने के लिये जमे हुये नेताओं ने बीच की बिरादरियों के नेताओं को राजनैतिक सत्ता में अपना छोटा साझेदार बना लिया । यह सम्भव हैं कि राजनीति में प्रवेश करने वाली नई बिरादरियाँ कालान्तर में सतारूढ़ बिरादरियों को अपदस्थ करें । इसके लिये यह आवश्यक होगा कि इन बिरादरियों में जाति की चेतना राजनीतिक वर्ग चेतना का रूप धारण करें । वह ऊंची बिरादरियों द्वारा अपने शोषण का विरोध करतीं हो उनमें आत्म अभिव्यक्ति का तत्व पाया जाता हो तथा वह स्वयं राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने की अभिलाषी हों ।

यहां इस बात पर भी बल देने की आवश्यकता हैं राजनीति के सामाजिक संगठन के विभिन्न चरण विभिन्न प्रकार के नेतृत्व तथा विभिन्न प्रकार की संगठनात्मक क्षमता की अपेक्षा करते हैं इसलिये जब राजनीतिक प्रकिया एक चरण से निकल कर दूसरे चरण में पहुंचती हैं तब एक प्रकार की योग्यता से सम्पन्न नेतृत्व का स्थान दूसरे प्रकार की क्षमताओं से सम्पन्न लोग ले लेते हैं । अतः आरंभ में नेतृत्व उन लोगों के हाथों में था जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की थी तथा जिन्हें शहरी पद्धति के राजनैतिक संगठनों के परिचालन का अनुभव था । इस समय आवश्यकता ऐसे नेताओं की थी जो ऐसे प्रशासकों के साथ काम कर सकें, जिनका दृष्टिकोण और रहन–सहन

पाश्चात्य था, जिन्हें वाद–विवाद तथा सिद्धान्तिक सब में भाग लेने की रूचि थी, जिनके पास कानून का ज्ञान था तथा जो छोटे–छोटे आन्दोलनों में भाग लेने के लिये सार्वजनिक मामलों में रूचि लेने वाले व्यक्तियों को आन्दोलित करने की क्षमता रखते थे । भारतीय सामाजिक पद सोपान में सब से उच्च स्थान पर होने के कारण इस प्रकार के व्यक्ति जो सामान्यतः ब्राम्हणों में ही मिल सकते थे । इस प्रकार इस चरण में के राजनीतिक नेतृत्व की आवश्यकतायें इस जाति के सदस्यों के द्वारा पूरी होती थी । अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं इस काल में नेतृत्व सामान्यतः ब्राम्हणों के ही हाथों में ही रहा । सच बात यह है कि राजनीति में जातिवाद की समस्या की अभिव्यक्ति अपने गंभीर रूप में इसी चरण के साथ शुरू होती है ।

कालान्तर में पुरानी मान्यताओं का लोप होने लगा और उनके स्थान पर नये राजनीतिक मूल्यों का उदय होने लगा । इस स्थिति को जन्म देने में जो कारण सहायक हुये उनमें शिक्षा और तकनीकी का प्रसार, ग्रामों का नगरीकरण तथा स्थिति के प्रतीकों में परिवर्तन को मुख्य रूप से गिनाया जा सकता है । इस स्थिति के उदय होने के साथ राजनीतिक प्रक्रिया के विकास का तीसरा चरण आरम्भ होता हैं । इस चरण में नये और व्यापक सम्बन्धों की रचना हुई, आत्म परितुष्टि की नई कसौटी विकसित की गई, भौतिक लाभों की प्राप्ति के लिऐ लोगों की आकांक्षा बढ़ी तथा परिवारों का एक स्थान से दूसरे स्थानों का स्थानान्तरण एक आम बात बन गई हैं । इस प्रकार स्थानीय अथवा विशिष्ट जाति अथवा सम्प्रदाय की शक्ति के स्थान पर जो नई शक्ति विकसित हुई वह अधिक आधुनिक थी । जो एक प्रकार से अपनी जीविका कमाते थे, जो एक ही प्रकार के कामों की परिस्थितियों में अपना गुजारा करते थे, उनके बीच निश्चित ही एक प्रकार से समान हित पाये जाते थे । चाहे उनकी बिरादरी कुछ भी क्यों न हो । परन्तु इसके साथ ही इस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उस प्रक्रिया का शुभारम्भ हो चुका हैं जिसकी अन्तिम परिणिति धर्म निरपेक्ष समाज की स्थापना में होने की आशा की जा सकती हैं । पिछले वर्षो का अनुभव साक्षी हैं कि जहां बिरादरी बहुत बड़ी हैं वहां उसमें एक रूपता नहीं हैं और जहां वह बहुत छोटी है तो वह संख्या की दृष्टि से किसी शक्ति की रचना नहीं करती । अतः चुनाव की राजनीति के परिचालन के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि बहुजातीय समर्थन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय । इस प्रकार इस राजनीति के द्वारा जहां जाति के टुकड़े हुये हैं वहां उसने उसके अन्य बिरादरियों के साथ सम्बन्ध भी स्थापित किये हैं । जिन राजनीतिक दलों अथवा नेताओं ने इस सत्य की अवहेलना की हैं उन्हें असफलता का मुंह देखना पड़ा हैं ।

इतना होते हुये भी भारतीय राजनीति अभी भी एक बड़ी सीमा तक जातिवाद से प्रभावित हैं । जाति का प्रभाव केवल राजनीतिक संस्थाओं तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु उसकी परिधि में शिक्षा संस्थायें और सहकारी संस्थायें सभी शामिल हैं । बहुधा यह देखा गया हैं कि जब किसी गांव में कुछ लोग मिलकर सरकारी सहायता के लिये आवेदन भेजते हैं तो उस पर हस्ताक्षर करने वाले एक ही जाति के सदस्य होते हैं । इस स्थिति को जन्म देने के लिये बड़ी भूमिका देश के सबसे बड़े राजनीतिक दल कांग्रेस की रही हैं ।

जिस अनुपात से राजनीति उग्र हुई हैं, उसी अनुपात में उसे जातिवाद के कुप्रभाव से भी मुक्ति प्राप्त हुई हैं । यथार्थ में जनता यथा स्थिति में आमूल परिवर्तन चाहती हैं, वह उस अन्यायपूर्ण व्यवसायी को अब और आगे सहन करने के लिये तैयार नहीं हैं जो उसके ऊपर शताब्दियों से लादी गयी हैं । जातिप्रथा यथास्थिाति की द्योतक हैं, वह सामन्ती समाज का अवशेष हैं। अतः उसका संघात्मक और समाजवाद के उच्च आदर्शों के साथ कोई मेल नहीं हैं । इसलिये अब भी जनता के समक्ष उग्र विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं तो उसने यथास्थिति के मुकाबले में उन्हीं का चयन किया हैं । अतः यदि जातिवाद का सही अर्थो में मुकावला अपेक्षित हैं तो यह आवश्यक हैं कि संघात्मक और समाजवाद के आदर्शो को प्राप्त करने के लिये ईमानदारी के कदम उठाये जायें ।

(2)- सम्प्रदायवादः

जातिवाद की भांति संप्रदायवाद भी भारतीय संघात्मक व्यवस्था के समक्ष एक जटिल समस्या हैं । यथार्थ में कोई नई समस्या नहीं हैं । यह समस्या उस समय भी प्रस्तुत थी जब कि देश राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष कर रहा था ।

स्वतन्त्रता के बाद भी इस समस्या का निराकरण करने में हम असफल रहे हैं । आज भी देश में साम्प्रदायिक दंगे होते हैं और यदि दंगे नहीं भी होते तो भी नहीं कहा जा सकता कि देश के विभिन्न धार्मिक समप्रदायों के बीच पूर्ण सद्भावना पायी जाती है । यदि ऐसा होता तो सम्प्रदाय के आधार पर राजनीतिक दलों का संगठन ही सम्भव नहीं हो पाता । प्रश्न है कि इस संप्रदायवाद का कारण क्या है तथा इसमें भारतीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया। यहाँ इसकी विस्तृत समीक्षा की आवश्यकता हैं।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने भारत के सम्बन्ध में लिखते हुये उसे "अनेकता में एकता" कहकर पुकारा था। उनके इस कथन के आगे एक प्रश्न चिन्ह लगा हैं कि भारत में एकता पाई जाती हैं, परन्तु अनेकता उसके राजनीतिक जीवन का कटु यथार्थ हैं, जिसमें हिन्दु, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, फारसी और बौद्ध प्रमुख हैं। हिन्दु भारत में बहुसंख्यक हैं जब कि अन्य सम्प्रदाय कम हैं।

स्वतंत्रता के फौरन बाद देश मे विशाल पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे हुये हैं और इन दंगों का कोई विशेष कारण नहीं था। कभी दंगा इसलिये हो गया क्योंकि श्रीनगर में एक ब्राम्हणी लड़की को मुसलमान बनाकर उसकी मुसलमान के साथ शादी कर दी गई थी। कभी दंगा इसलिये हो गया कि होली के त्यौहार पर हिन्दुओं ने मुसलमानों के ऊपर रंग फेंक दिया। प्रश्न हैं कि देश के स्वाधीन होने के बाद भी ये दंगे क्यों होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में मुख्यतः

तीन कारण गिनायें जा सकते हैं। मुस्लिम पृथकतावाद, हिन्दू संप्रदायवाद तथा सरकार की उदासीनता।

(3). क्षेत्रीयतावादः

भारत की अनेकता को व्यक्त करने वाली एक समस्या क्षेत्रीयता की हैं। साम्प्रदायिकता के अन्तर्गत व्यक्ति राष्ट्र की अपेक्षा अपने सम्प्रदाय को अधिक प्यार करते हैं, क्षेत्रीयता के प्रभाव के आधीन व्यक्ति राष्ट्र में उस क्षेत्र को अधिक महत्व देते हैं जिसमें उनका निवास हैं। सम्प्रदायवाद मुख्यतः देश के दों बड़े सम्प्रदायों के सन्दर्भ में देखा जा सकता हैं। जब कि क्षेत्रीयता की बीमारी ऐसी हैं जो समूचे देश में व्याप्त हैं। इन आन्दोलनों को मुख्यतः चार प्रकार की मांगो के आधार पर संगठिन किया गया हैं।

(1). भारतीय संघ से पृथक होने की मांगः-

क्षेत्रीयता की समस्या का सबसे अधिक शक्ति रूप हमें उस समय देखने को मिला जब कि कुछ राज्यों ने भारतीय संघ से अलग होने की तथा अपना स्वतंत्र राज्य निर्मित करने की मांग प्रस्तुत की। जून 1960 में ''द्रविड़ मुन्नेत्र कडग्रम" तथा नामतमिल ने समूचे मद्रास राज्य में एक संयुक्त प्रदर्शन आयोजित किया जिसका उद्देश्य मद्रास को भारतीय संघ से अलग करके तामिलनाडू के नाम से उसको स्वतंत्र राज्य का रूप प्रदान करना था। जनवरी 1961 में तामिलअरजु कषगम एक दूसरे तमिल संगठन में इस बात के लिये आन्दोलन किया कि मद्रास आन्ध्र, केरल और मैसूर के राज्यों को भारतीय संघ से अलग हो जाना चाहिये और उन्हें एक स्वतंत्र "द्रविड़ नाडू गणतंत्र" कि स्थापना करनी चाहिये । परन्तु इस प्रस्ताव को मद्रास के बाहर समर्थन प्राप्त नही हो सकता।

मई 1962 में राज्य सभा में उनके नेता सी0एन0 अन्नादुराई ने कहा कि दक्षिण भारत के लोगों का मूलवॅश उत्तर भारत के लोगों के मूलवॅश से भिन्न है। उन्होने यह शिकायत की कि केन्द्र देश के आर्थिक विकास की योजनाओं को तैयार करते समय दक्षिण की उपेक्षा की हैं।

अन्नादुराई के एक भाषण के उत्तर में नेहरू जी ने कहा था कि "देश के ''बालकनी करण" के प्रयत्नों का प्रतिरोध किया जायेगा। उन्होने इस मांग को देश के लिये घातक बताया। देश में इन विघटनकारी शक्तियों के उदय को देखकर अक्टूबर 1963 में संसद ने छठा संशोध न पारित किया जिसमें यह व्यवस्था की गई :—

(1) संसद को ऐसे कानून का अधिकार है जिनके द्वारा उन लोगों को दण्डित किया

जा सके जो भारत की प्रभुसत्ता और अखण्डता को चुनौती देते है।

(2) संसद अथवा राज्य विधान मंडल के चुनावों में भाग लेने वाले प्रत्याशियों के लिये यह आवश्यक होगा कि वे संविधान के प्रति निष्ठा की तथा देश की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता की रक्षा की शपथ ले। इस कानून के बन जाने के बाद द्रमुक ने अपने कार्यक्रम में से इस मांग को हटा दिया कि वे मद्रास को भारतीय संघ से अलग करके उसका स्वतंत्र राज्य बनाना चाहता हैं।

भारतीय संघ से अलग होने की मांग सुदूरपूर्व के दो क्षेत्रों में भी की गई हैं। यह दोनों क्षेत्र पहले असम के राज्य में स्थित थे, अब इन क्षेत्रों को अलग से राज्य का दर्जा दे दिया गया हैं। इसमे पहला क्षेत्र कुछ समय पूर्व तक मिजो हिल डिस्ट्रिक्ट के नाम से जाना जाता था। इन लोगों ने न केवल असम से अलग होने की बात कही, बल्कि उन्होंने भारतीय संघ से भी अलग होने की मांग प्रस्तुत की।

(2) पृथक राजस्व की मांग :-

क्षेत्रीयता की समस्या की अभिव्यक्ति पृथक राजस्व की मांग के द्वारा भी हुई हैं। 1948 में और 1956 में देश में राज्यों का पुनर्गठन हुआ था। परन्तु इससे देश के कुछ भागों के लोग सन्तुष्ट नहीं हो सके। वे अपनी पृथक राजनैतिक पहचान को प्राप्त करना चाहते थे। इस कारण इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया।

भाषा के आधार पर राज्य के पुनर्गठन की मांग के लिये पहला व्यापक आन्दोलन बम्बई राज्य में आरम्भ हुआ। 1960 में एक लम्बे संघर्ष के बाद यह मांग अस्वीकार कर ली गई और इस प्रकार महाराष्ट्र और गुजरात के दो राज्यों की रचना कर दी गई। अन्य राज्यों के लोगों के लिये आन्दोलन का दरवाजा खुल गया और जैसा कहा जा चुका हैं बम्बई का अविभाजित राज्य इस प्रकार के आन्दोलन का पहला केन्द्र बना।

कालान्तर में बम्बई की प्रतिध्वनि पंजाब में भी सुनाई पड़ी वहां अकाली दल ने पंजाबी भाषी लोगों के लिये एक पृथक सूबे की मांग की। राज्य पुनर्गठन आयोग ने इस विदभाषी राज्य के लिये अपने प्रतिवेदन में कोई व्यवस्था नहीं की थी। यथार्थ में इसके पूर्व समुचे देश को भाषा के आधार पर गठित करने की वाँछनीयता पर सरकार उदासीन चली आ रही थी। ऐसी स्थिती में स्वाभाविक था कि पंजाब के लोगों में, विशेषतः वहां के सिक्खों में सरकार के रवैये के विरुद्ध रोष पाया जाता। इस संदर्भ में अकाली दल के नेतृत्व में सिक्खों ने पंजाबी सूबे के लिये आन्दोलन

आरम्भ कर दिया। चूंकि इस आन्दोलन का सूत्रपात अकालियों ने किया था, इसलिये हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने इस आन्दोलन का विरोध किया। फलतः एक क्षेत्रीय आन्दोलन ने एक साम्प्रदायिक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

पिछले वर्षो में पृथक राज्यत्व की मांग की अभिव्यक्ति आन्ध्र तेलंगाना क्षेत्र में भी हुई हैं। हाल के वर्षो में इस मांग में साथ सम्बद्ध आंदोलन ने अत्यधिक उग्र रूप धारण किया हैं।

राज्य पुनर्गठन आयोग ने हैदरावाद के बहुमुखी राज्य के विघटन की सिफारिश की थी। उसने कहा था कि उसके कन्नड़–भाषी क्षेत्रों को मैसूर में मिला देना चाहिये और मराठी भाषी क्षेत्रों को ब्रम्बई में। जहां तक तेलगू भाषी क्षेत्रों का सम्बन्ध था, आयोग का कहना था कि इस क्षेत्र को आन्ध्र के साथ मिलाने के पक्ष में शक्तिशाली तर्क हैं। परंतु इस कदम को फौरन उठाना चाहिये। इसलिये उचित नहीं होगा क्योंकि यहां के लोगों में यह भावना पाई जाती हैं कि यदि ऐसा हुआ तो आंध्र के आगे बढ़े हुये लोग तैलंगाना के पिछड़े हुये लोगों पर छा जायेंगे। इस लिये आयोग ने यह सिफारिश की कि तैलंगाना का पृथक राज्य बनाया जाये, परन्तु इसके साथ में यह प्रावधान रखा की तीसरे आम चुनाव के बाद तैलंगाना और आन्ध्र को उस स्थिति में एक कर दिया जायेगा यदि तैलंगाना की विधानसभा दो तिहाई बहुमत से इस एकीकरण को स्वीकार करें।

संघ––सरकार ने आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार नहीं किया, उसने तैलंगाना को आन्ध्र में मिला दिया। संघ–सरकार का तर्क था कि आयोग की सिफारिश में अनिश्चयात्मकता सन्निहित हैं और उसके कारण तैलंगाना में अपेक्षित आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार एक नवम्बर 1956 को आन्ध्र प्रदेश के राज्य की स्थापना हुई। परन्तु इस परिस्थिति में तैलंगाना क्षेत्र में असन्तोष की वृद्धि होती रही। जब आन्ध्र की सरकार ने तैलंगाना के लोगों को प्रसन्न करने के लिये कोई कदम उठाया तो उनकी आन्ध्र क्षेत्र में प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। इससे तैलंगाना क्षेत्र का आन्दोलन पुनर्जीवित हो गया।

(3) पूर्ण राज्यत्व के लिये मांग :-

पिछले वर्षो में कुछ केन्द्र के प्रशासित क्षेत्रों ने अपने लिये पूर्ण राज्यत्व का दर्जा दिये जाने की मांग की हैं। इस मांग को भी क्षेत्रीयता की ही अभिव्यक्ति माना जाना चाहिये। 1962 में भारत सरकार ने इस मांग को आरंभिक रूप से उस समय स्वीकार कर लिया जब संसद ने 14वाँ संशोधन विधेयक पारित कर दिया। इसके अनुसार संसद को हिमांचल प्रदेश मणीपुर, त्रिपुरा पाण्डिचेरी तथा गोआ, दमन और दियू के लिये स्थानीयविधान मंडलों की स्थापना का अधिकार प्रदान किया गया। परन्तु इसके बाद भी कुछ प्रदेश बचे रहे जिनके लिये इस प्रकार की कोई व्यवस्था

नहीं की गयी थी। ये प्रदेश थे दिल्ली, अन्डमान और निकोबार द्वीपसमूह तथा लक्ष्यद्वीप, मिनीकोय और अमीनद्वीप द्वीप–समूह। इन प्रदेशों में इसी प्रकार की मांगों के लिये आन्दोलन आरम्भ हो गया। जिन प्रदेशों के लिये विधानमंडल की व्यवस्था की गई वे इस सुविधा से सन्तुष्ट नहीं थे। ये प्रदेश अपने लिये पूर्ण राज्यत्व की मांग कर रहे थे। जुलाई 1970 में संघ सरकार ने हिमांचल प्रदेश को पूर्ण राज्य बनाना स्वीकार कर लिया। 25 जनवरी 1971 को इस नये राज्य की विधिपूर्वक स्थापना कर दी गयी। इससे अन्य संघ शासित प्रदेशों में आन्दोलन और अधिक तेज हो गये। 19 सितम्बर, 1970 को दिल्ली महानगर परिषद ने सर्वसम्मति से दिल्ली को पूर्ण राज्यत्व का दर्जा दिये जाने की मांग की। परन्तु केन्द्र ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया। केन्द्र सरकार का कहना था कि यह मांग राष्ट्रीय हित में नहीं हैं क्योंकि दिल्ली देश की राजधानी हैं। पूर्ण राज्यत्व के लिये आन्दोलन अन्य क्षेत्रों में चलता रहा। जनवरी 1972 में त्रिपुरा और मणिपुर को भारतीय संघ के नये राज्यों के रूप में मान्यतायें दे दी गई हैं।

(4) अन्तर-राज्यीय विवाद :

क्षेत्रीयता की अभिव्यक्ति अन्तर–राज्यीय विवादों में भी हुई हैं। निकट भूतकाल मे इस प्रकार के अनेक विवादों का उदय हुआ है, इन विवादों में मुख्यतः मैसूर–महाराष्ट्र सीमा विवाद तथा चण्डीगढ़ के प्रश्न पर पंजाब हरियाणा के विवाद को बताया जा सकता हैं।

मैसूर और महाराष्ट्र के बीच विवाद उन क्षेत्रों के ऊपर था जो उन राज्यों के एक दूसरे से मिलने वाले सीमान्तों पर स्थित थे। महाराष्ट्र के राज्य ने अप्रैल 5,1966 को यह मांग प्रस्तुत की थी कि मैसूर के राज्य के जिले जिनमें मराठी भाषा बोली जाती हैं, उनको महाराष्ट्र में मिला देना चाहिये। इस संबंध में महाराष्ट्र विधानसभा ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें यह कहा गया कि यदि इस मांग को स्वीकार नहीं किया गया तो इससे न केवल राज्यों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, बल्कि यह राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के लिये भी घातक सिद्ध होगा। अतः इस संदर्भ में संघ सरकार ने भारत में भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश मैहरचन्द्र महाजन को इस विवाद की जांच करने के लिये कहा। मैसूर के मुख्य मंत्री निलिंगप्पा का इस विवाद के संबंध में यह कहना था कि वह छोटे–छोटे सीमान्तों के हेर–फेर के लिये तैयार हैं परन्तु वे मराठी भाषी क्षेत्रों के ऊपर महाराष्ट्र के दावे पर बात करने को तैयार नहीं है। अभी तक यह विवाद ज्यों कात्यों बना रहा है, उसके निराकरण के लिये अभी तक जितने प्रयत्न हुये हैं उन्हें सफलता नहीं मिल सकी हैं। अन्तर्राज्यीय विवादों में दूसरा मुख्य विवाद पंजाब और हरियाणा के बीच चण्डीगढ़ के प्रश्न पर हैं। इन दोनो राज्यों के बीच विवाद इस बात पर है कि चण्डीगढ़ का नगर हरियाणा में शामिल किया जाय अथवा पंजाब में। अकाली नेता सन्त फतेह सिंह का कहना था न केवल चण्डीगढ़ को बल्कि पंजाबी भाषा के वे क्षेत्र भी जो हिमांचल प्रदेश में मिला दिये गये थे। उन्हें पंजाब में शामिल किया जाना चाहिये। उन्होंने धमकी दी कि 5 सितम्बर 1966

से वह अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में अनशन आरम्भ करेंगे और यदि 27 दिसम्बर तक उनकी मांग स्वीकार न की गई तो वह उस दिन आत्मदाह कर लेगें। उनके 7 अनुयायियों ने भी इसी प्रकार की घोषणा की।

सन्त फतेह सिंह की इस घोषणा के विरूद्ध आर्य समाज के अध्यक्ष योगिराज सूर्यदेव ने चण्डीगढ़ में अपना आमरण अनशन आरम्भ कर दिया। स्पष्टतः इस स्थिति में कोई भी समझौता नहीं हो सका था। यथार्थ में स्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती जा रही थी। इस पृष्ठभूमि में संघ सरकार ने 19 जनवरी 1970 को यह घोषणा की कि चण्डीगढ़ को पंजाब में विलयन कर दिया जायेगा तथा हरियाणा को इस नगर पर अपने दावे को छोड़ देने के बदले फाजिलका तहसील के 114 हिन्दी भाषी गांव दे दिये जायेंगें, इसमें फाजिलका भी शामिल होगा। इसके अतिरिक्त उसे अबोहर तथा चण्डीगढ़ के संघीय क्षेत्र के 6 गांव भी देने की बात कही गयी। इस घोषणा में यह भी कहा गया था कि पांच वर्ष की अवधि के लिये चण्डीगढ़ केन्द्र शासित क्षेत्र रहेगा और इसके बाद उसे पंजाब में शामिल कर दिया जायेगा। इस बीच में वह पंजाब और हरियाणा दोनों की राजधानी रहेगा तथा हरियाणा को अपनी राजधानी बनाने के लिये समय मिल जायेगा।

इस घोषणा के उभय पक्षी में किसी को सन्तोष नहीं मिला। फलतः यह विवाद भी अभी तक अनिर्णित अवस्था में हैं।

केन्द्र व राज्यों के बीच संवैधानिक सम्बन्धों की समीक्षा :-

भारत में केन्द्र की शक्ति को अधिकाधिक सुदृढ़ करने की चेष्टा की गई हैं। यों तो दुनिया के सभी संघ राज्यों में संघीय शक्ति में वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती हैं पर ऐसी प्रवृत्ति वर्तमान युग के तकनीकी जीवन व व्यक्ति के अधिकाधिक राज्य पर निर्भरता के कारण व्यवहार में अपने आप पैदा हुई हैं पर भारत में इसके लिये संवैधानिक प्रावधान भी किये गये हैं और ये प्रावधान प्रत्येक क्षेत्र में इतने अधिक हैं कि कुछ लोगों की सम्मति में भारत का संघ वास्तव में एक दिखावे का संघ राज्य हैं। व्यावहारिकता में, वह एकात्मक राज्य ही है। संविधान निर्माताओं ने ऐसा चाहा भी था कि भारत का राज्य शान्तिकाल में संघराज्य रहे पर आपातकालीन स्थितियों में आवश्यकता के अनुसार उसके ढांचे को इतना नमनीय बनाया जा सके कि सारा राष्ट्र एक केन्द्रीय नियंत्रण पर चल सके और उनके अतिरिक्त संवैधानिक प्रक्रियाओं की यहां आवश्यकता न पड़े जिनके द्वारा अमेरिका व आस्ट्रेलिया जैसे संघों को सामयिक परिस्थिति के अनुकूल बनाया जाता हैं। जैसा कि इस लेख के प्रारम्भ में ही विवेचन किया गया है, भारत में संघ राज्य का निर्माण एक एकात्मक राज्य की शक्तियों को विकेन्द्रित करके किया गया इसलिये भी केन्द्र को पहले से ही अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रवृत्ति रही हैं। भारत अनेक भाषाओं, जातियों, धर्मो और भौगोलिक स्थितियों का देश है और यदि केन्द्र की शक्ति को इतना सुद्रढ़ न बनाया जाता तो सम्भव है कि उन विघटनकारी शक्तियों को, जो दिनों–दिन प्रबल होती जा रही हैं, अधिक प्रोत्साहन मिलता और देश

के अनेक टुकड़े हो गये होते। स्वतंत्रता के पश्चात् प्रादेशिकता और भाषावाद की प्रवृत्तियों ने इतना अधिक जोर पकड़ा कि कुछ नये राज्यों का निर्माण करना पड़ा कई राज्यों के बीच सीमा–विवाद और नदियों के पानी के वितरण को लेकर इतना अधिक संघर्ष हो रहा हैं कि समूचे राष्ट्र की आर्थिक प्रगति योजनाओं के अनुसार नहीं हो पा रही हैं और केन्द्र की अधिकतर शक्ति राज्यों को एक राष्ट्रीय इकाई के रूप में संगठित बनाये रखने के लिए उपाय ढूंढ़ते रहने में ही व्यय हो रही हैं। संविधान निर्माण के समय ही कितनों ही प्रतिनिधियों को केन्द्र के इतने शक्तिशाली बनाने पर आपत्ति थी और उनका यह आरोप था कि प्रशासनिक और वित्तीय मामलों में राज्य केन्द्र के प्रायः अनुचर हैं और संविधान में राज्य की सम्प्रभुता व स्वायत्तता का केवल एक स्वांग किया गया हैं और दोनों ही अपने क्षेत्र में सम्प्रभु हैं तथा दोनों की शक्तियों का स्त्रोत संविधान हैं फिर भी राज्य नगरपालिकाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। डा0 अम्बेडकर ने इस आलोचनाओं का उत्तर देते हुये संविधान सभा में कहा था–

"यह गम्भीर आरोप लगाया गया हैं कि संविधान में केन्द्रीयकरण इतना अधिक है कि राज्यों को नगरपालिका बना दिया गया हैं परन्तु यह स्पष्ट हैं कि ऐसा दृष्टिकोण न केवल अतिश्योक्ति हैं बल्कि लोगों को इस बात के समझने में गलतफहमी है कि संविधान का उद्देश्य क्या हैं ? जहां तक राज्य और केन्द्र के बीच सम्बन्ध का प्रश्न हैं इसके बारे में उन मूल सिद्धांतों पर यह ध्यान देने की बात हैं जिन पर वह आधारित हैं। संघवाद का मूल सिद्धान्त हैं कि विधायनी और कार्यपालिका शक्तियों को केन्द्र तथा राज्यों के बीच केन्द्र द्वारा बनाये गये कानून के अनुसार विभाजित नहीं किया जाता बल्कि स्वयं संविधान के आधार पर किया जाता हैं। राज्य किसी भी प्रकार अपनी विधायनी और कार्यपालिका शक्तियों के लिए केन्द्र पर निर्भर नहीं है। इस विषय में केन्द्र और राज्य समान हैं। यह मानना कठिन हैं कि संविधान को केन्द्रवादी संविधान कहा जाय। यह सम्भव है कि संविधान केन्द्र को अन्य संघों की अपेक्षा विधायनी और कार्यकारी शक्तियों के कार्यान्वयन में केन्द्र को अधिक विस्तृत शक्तियां प्रदान करता हो। यह भी सही है कि इस संविधान में अवशिष्ट शक्तियां राज्यो को न देकर केन्द्र को दी गई हैं लेकिन केवल इन्हीं बातों से किसी संघीय राज्य का निर्माण नहीं होता। संघवाद की सही पहचान हैं राज्यों और केन्द्र के बीच विधायनी और कार्यकारी शक्तियों का बंटवारा, हमारे संविधान में इस सिद्धान का पालन हुआ हैं।"[1]

केन्द्र की शक्तियों के सुदृढ़ करने के पक्ष में बोलते हुये डा0 अम्बेदकर ने कहा "कि चाहे केन्द्र को शक्तिशाली होने से आप कितना भी क्यों न रोके, पर उसे अधिक शक्तिशाली होने से रोकना अधिक कठिन हैं। वर्तमान संसार में स्थितियां ऐसी हैं कि केन्द्रीकरण की शक्तियां आवश्यक हैं..................। केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने की प्रवृत्ति का अवश्य ही प्रतिरोध होना चाहिए (परन्तु) वह जितना पचा सकता हैं उतने से अधिक नहीं चबायेगा। केन्द्र की शक्ति उसे बजन के अनुकूल होनी चाहिए। दूसरी ओर बहुत से ऐसे भी आलोचक हैं जो यह आरोप लगाते हैं कि संघ के पास सही रूप में जितनी राष्ट्रीय शक्ति होनी चाहिए उतनी नहीं हैं और केन्द्र,

1. M.V. Pylee, Constitutional government in India - ed.1960 p. 515

नेतृत्व के बल पर व्यावहारिकता में ही उस शक्ति को प्राप्त कर रहा है (सिद्धान्त में नहीं) जिसे दूसरे संघ सिद्धान्त में प्राप्त करते हैं पाल अपलवी ने इन सम्बन्धों की व्याख्या करते हुये कहा– कोई भी इतनी बड़ी दुनिया में महत्वपूर्ण राष्ट्रीय सरकार, मेरी मान्यता में, अपनी अलग–अलग सिद्धान्त रूप में अधीनस्थ इकाइयों पर, लेकिन यथार्थ में राजनीतिक नियन्त्रण में स्वतंत्र व भिन्न इकाइयों पर इतना अधिक निर्भर नहीं करती जितना भारतीय सरकार। इसके लिए वह राष्ट्रीय हित के कार्यक्रमों व सम्मेलनों द्वारा प्राप्त नियन्त्रण पर निर्भर करती हैं। यह केवल प्रभाव हैं शक्ति नहीं, जो केन्द्र को राष्ट्रीय हित की रक्षा करने में मदद करता हैं। श्री अपलवी को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि किस प्रकार भारत सरकार को अपनी सभी बड़ी योजनाओं का कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में राज्यों पर निर्भर करना पड़ता है तथा महत्वपूर्ण नीति व प्रशासन के बारे में केन्द्र की सत्ता किस प्रकार काल्पनिक है।[1]

इस प्रकार दोनों ही पक्षों में आलोचनाओं की गई हैं। जो भी हो इतना तो स्पष्ट ही हैं कि संविधान में शब्द का प्रयोग न करके (यूनियन) शब्द का प्रयोग किया गया हैं जो फेडरेशन की तुलना में अधिक घनिष्टता, एकरूपता और राष्ट्रीय एकता की भावना को अभिव्यक्त करता हैं।

गैर कांग्रेसी सरकारों का उदय-

उपर्युक्त विवेचन में केन्द्र व राज्यों के बीच संबंधों के संवैधानिक आधार का वर्णन किया गया हैं। इस पृष्ठ–भूमि में ही उनका परीक्षण वर्तमान परिस्थिति में किया जा सकता हैं। यह स्पष्ट है कि जब तक देश में केन्द्र तथा राज्य दोनों की सरकारों में एक ही राजनीतिक दल का प्रभुत्व रहता हैं जब तक इन सम्बन्धों की वैधानिकता का न कोई परीक्षण करता और न उनकी कोई पुनर्व्याख्या ही होती है। चौथे आम चुनाव के पश्चात् जब से राज्यों में अनेक संविद सरकारों का उदय हुआ तभी से इस विषय को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया हैं। अप्रैल सन् 67 में मुख्य मंत्रियों का एक सम्मेलन नई दिल्ली में हुआ और उसके बाद भी कई सम्मेलन हुये जिनमें इस विषय पर चर्चा की गई। जब तक कांग्रेस राज्य और केन्द्र दोनों पर सत्तारूढ़ रही तब तक केन्द्र और राज्यों के बीच का सम्बन्ध बहुत कुछ मुख्य मंत्रियों के निजीव्यक्ति पर निर्भर करता रहा। श्री गोविन्द बल्लभ पन्त, श्री कामराज नाडार, श्री राजगोपालचारी और श्री सम्पूर्णानन्द जैसे मुख्य मन्त्रियों ने जहां एक और राज्यों की शक्ति को सुदृढ़ किया और केन्द्र अपनी मांगों के मनवाने में जैसे भी हो, राजी किया वहां कमजोर व्यक्तित्वों के मुख्य मंत्रियों ने राज्यों को केन्द्र का विश्वासपात्र अनुचर बनाये रखने में ही अपने गद्दी को सुरक्षित समझा। फिर भी गत 20 वर्षो के शासन में यह कहा जा सकता हैं कि केन्द्र की शक्ति औसतन हर क्षेत्र में बहुत अधिक बढ़ी हैं। यद्यपि मद्रास के मुख्य मंत्री अन्नादुराई के इस कथन में कुछ अतिश्योक्ति हो सकती है कि राज्य केन्द्र के सम्मुख भिखारी की तरह हैं और जब देखों अपने अस्तित्व के लिए

1. Link April- 9, 1967

सहायता की झोली फैलाये दिल्ली सरकार के दरवाजे पर हर किसी चीज के लिए खड़े रहते हैं तथापि यह सही है कि वर्तमान सम्बन्धों की स्थिति पर बहुतेरे राज्यों को काफी असन्तोष हैं और केरल के मुख्य मंत्री ने तो इन सम्बंधों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर जोर देते हुये संविधान के संशोधन तक की मांग की हैं। अधिकतर मुख्य मंत्रियों ने इस सम्बन्ध में संविधान की आत्मा को, जो एक दलीय शासन के कारण प्रायः निर्जीव हो चुकी थी, पुनर्जीवित करने की मांग की हैं। वे राज्यों के अधिकारों के प्रति पूर्ण सजग है और अपने संवैधानिक अधिकारो को पूरा–पूरा उपभाग करने की मांग करते हैं। श्री अन्नादुराई का कहना है कि राज्य सरकारें केन्द्र की अपेक्षा जनमत को अधिक सही रूप में व्यक्त करती है और इसलिए एक लोकतंत्रीय सरकार में राज्यों की मांग को जनता की मांग समझा जाना चाहिये पर स्थिति आज तक इसके बिलकुल विपरीत रही हैं और केन्द्रीय सरकार राज्यों को धन देतें समय या उनकी अन्य मांगों की पूर्ति करते समय यही समझती रही है कि मानो वह राज्यों को दान लुटा रही हैं। हरियाणा के भूतपूर्व मुख्य मंत्री राव वीरेन्द्र सिंह ने कहा था कि अभी तक कांग्रेस सरकार का केन्द्र और राज्य के बीच समबन्धों का आधार लोकतांत्रिक और संवैधानिक नहीं बल्कि दलीय अनुशासन रहा हैं इसलिए भारत का संघ अधिकाधिक कृत्रिम बनता गया। इसका फल यह हुआ कि राज्यों ने कभी किसी भी योजना राष्ट्रीय कार्यक्रम में अपनी ओर से कोई कदम उठाने की हिम्मत नहीं की। ऐसी चीज लोकतांत्रिक भावना को समाप्त करती हैं। उनका कहना था कि भारत में अभी तक सही रूप में संघवाद का विकास हुआ ही नहीं और अब समय आ गया जब कि केन्द्र को मानना होगा कि राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण में राज्यों के योगदान की बड़ी आवश्यकता हैं। मैसूर के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री निजलिनगप्पा का यह कथन बहुत प्रभावशाली रहा कि विभिन्न राज्यों को केन्द्र से वित्तीय सहायता उन राज्यों के अधिकारियों की केन्द्र के "हाईकमान" के पास पहुंच के अनुपात में मिली। जिनको पहुंच अधिक रही उन्हें अधिक धन मिला और जिनकी पहुंच कम थी उन्हें नाम मात्र को सहायता दी गई। इस प्रकार वित्तीय सहायता का कोई लोकतांत्रिक या संवैधानिक आधार नहीं रहा।

कुल मिलाकर ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न राज्यों की प्रतिक्रियायें सबसे अधिक वित्तीय क्षेत्र में प्रहार करती हैं और केन्द्र द्वारा राज्यों को दिये गये वित्तीय अनुदान या सहायता से राज्य असंतोष व्यक्त करते हैं। जब से विभिन्न राजनीतिक क्रिया प्रकट हुई हैं। कई गैर कांग्रेसी राज्यों में (उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और हरियाणा) राष्ट्रपति के शासन लागू करने को एक राजनीतिक चाल कहा जा सकता हैं कहा जा रहा हैं। और राज्यों ने तीव्र प्रतिक्रिया के द्वारा केन्द्र पर यह आरोप लगाया हैं। कि राष्ट्रपति और राज्यपाल की शक्तियों को केन्द्र पर सत्तारूढ़ राजनीति दल की शक्ति को बढ़ाने में प्रयुक्त किया गया है। केन्द्र और राज्यों के बीच पुनर्विचार के लिए इसलिए निम्नलिखित प्रश्नों का विशेष परीक्षण अपेक्षित प्रतीत होता हैं।

1. केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय स्त्रोतों का वितरण।
2. सभी राज्यों के साथ केन्द्र द्वारा समानता का व्यवहार।

3. खाद्य पदार्थो की उपलब्धि।
4. ओवर ड्राफ्ट का प्रश्न।
5. योजना।
6. कार्मचारियों की वेतन व महंगाई वृद्धि।
7. राष्ट्रीय एकता।
8. मुख्य मंत्रियों की बढ़ती हुई शक्ति तथा केन्द्रीय प्रशासन के बीच संतुलन का प्रश्न।

1. केन्द्र व राज्यों के बीच आर्थिक स्त्रोंतों का वितरण :-

लगभग सभी राज्यों को, चाहे वे कांग्रेस के प्रशासन में हो चाहे गैर कांग्रेस के प्रशासन में हो यह शिकायत हैं कि राज्यों के आर्थिक स्त्रोत बहुत कम या कम सीमित हैं जिसके कारण राज्य सरकारें न अपनी योजनायें बना पाती और न सही रूप में लोक कल्याणकारी राज्य के दायित्वों को ही निभा पाती। श्री अन्नादुराई ने अपना मत व्यक्त करते हुये कहा कि राज्यों को एक ऋणी की भांति केन्द्र से सहायता की भिक्षा मांगनी उचित नहीं हैं। यह राज्यों का अधिकार हैं कि वे अपने आय के स्त्रोतों की वृद्धि के लिए केन्द्र पर दबाव डालें उन्होंने मद्रास विधानसभा में केन्द्र को यह चेतावनी दी कि यदि वह राज्य को उचित मूल्य पर लोगों के लिए आवश्यक चीजों को उपलब्धि में सहायता नहीं करती तो वे केन्द्र की इस प्रवृत्ति को जनता के सामने रखने में किंचित भी नहीं हिचकिचायेंगें। हरियाना के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री राव वीरेन्द्र सिंह का कहना था कि आय के मुख्य स्त्रोत केन्द्रीय सरकार के पास है अतएव राज्यों की वित्तीय नीति का निर्धारण करें उसे अब यह जानना चाहिये कि कई राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें हैं और उनके सहयोग से ही ऐसी नीति का निर्धारण किया जाना चाहिए। अब वह समय नहीं रहा जब केन्द्रीय सरकार सारी आर्थिक नीति का अपने आप निर्धारण कर लेती थी और बाद में उसे राज्यों पर थोप देती थी। केन्द्र और राज्यो के बीच अर्थिक सम्बन्धो पर चर्चा करते हुये पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री गुरूनाम सिंह ने कहा था इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कमजोरी इस बात की रही है कि राज्यों को आर्थिक सहायता केन्द्र की इच्छा पर निर्भर करती रही हैं जबकि संविधान के अनुसार प्रत्येक राज्य को वित्तीय सहायता एक स्वतंत्र वित्तीय आयोग अनुशंसा के आधार पर ही मिलनी चाहिये थी। उनका आरोप था कि योजना के आयोग के संगठन के कारण एक प्रकार वित्त आयोग का महत्व समाप्त कर दिया जो असंवैधानिक बात हैं। योजना आयोग ने अतिरिक्त संवैधानिक शक्ति को अपने आप ग्रहण कर लिया। राज्यों को अपनी योजनाओं के कार्यान्वयन के लिए केन्द्र के पास एक कर्जदार की हैसियत से हमेशा ही जाना पड़ा और केन्द्र ने जो भी अनुदान दिया उसमें अपनी शर्ते जोड़ दी। योजना आयोग के विशेषों ने बहुत सी योजनायें स्वयं बनाई और केन्द्रीय सहायता के साथ उन योजनाओं को जोड़ते हुये उन्हें सर्वोच्च प्राथमिकता दी और राज्यों को विवश होकर बिना उनके महत्व का परीक्षण किये ही उन्हें कार्यान्वित करना

पड़ा चाहे वे बाद में अलाभकारी ही क्यों न सिद्ध हुई हों। इस प्रकार राज्यों को जो सहायता मिली वह सहायता नहीं थी बल्कि केन्द्रीय कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की आर्थिक व्यवस्था थी। उनका सुझाव था कि योजना बनाने और वित्तीय नीतियों के निर्धारण में केन्द्र को केवल मोटी रूप रेखा ही देनी चाहिये और विस्तार की सारी चीजें राज्य द्वारा पूरी की जानी चाहिये। उनका तात्पर्य यह था कि योजना और वित्तीय नीतियों के निर्धारण में राज्यों को अधिक छूट दी जानी चाहिये। श्री निजलिंगप्पा के सुझाव में केन्द्र तथा राज्यों के बीच सही वित्तीय सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए एक स्थाई वित्त आयोग की नियुक्ति कर दी जानी चाहिये जो प्रति वर्ष राज्य की वित्तीय स्थिति का अध्ययन करें। प्रत्येक 5 वर्ष में इस आयोग के नियुक्त होने से बहुत सारी समस्यायें उलझ जाती हैं। आन्ध्र के मुख्य मंत्री श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी ने कहा है कि केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बंधों की पुनर्व्याख्या होनी चाहिये। विशेषकर वित्तीय सम्बन्धों और योजनाओं के कार्यान्वयन में दोनों के सही अधिकार क्षेत्रो की व्याख्या होनी चाहिये जिससे केन्द्र वित्तीय सहायता वहन के नाम पर राज्यों के कार्य में कम से कम हस्तक्षेप कर सकें।

2. राज्यों के साथ समानता का व्यवहार :-

गैर कांग्रेसी सरकारों का यह आरोप हैं कि केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस की सरकार राज्यों की गैर–कांग्रेस सरकारों के साथ दुर्भावनापूर्ण व्यवहार करती हैं और कांग्रेसी सरकारों के साथ पक्षपात करती है जिससे वहां की जनता में यह भ्रमात्मक धारणा फैलाई जा सके कि गैर–कांग्रेसी सरकारों के साथ दुर्भावनापूर्ण व्यवहार करती है गैर सरकारी सरकारें शासन के कार्य में सक्षम हैं। विशेषकर केरल में आम चुनाव के तुरन्त बाद लोगों में इसी प्रकार की भावना फैलाई गई थी और उसका सम्बन्ध वहां की खाद्य समस्या से जोड़ा गया था। पश्चिमी बंगाल में श्री अजय मुखर्जी सरकार का भी यह आरोप था कि कांग्रेस राज्यों में संविद सरकारों को गिराने के लिये अपनी केन्द्र की शक्ति का दुरूपयोग करती हैं और गुप्तरीति से संविद सरकारो को गिराने के लिये अन्य दलों में मिलकर षड्यन्त्र करती हैं। जो भी हो, चौथे चुनाव के बाद आरम्भ में कांग्रेस ने उन राज्यों में दूसरे दलों से मिलकर कोई सरकार नहीं बनाई जहां उसका स्पष्ट बहुमत नहीं था। कई संविद सरकारें बनी और कांग्रेस की संख्या सभी दलों के लोगों से अधिक होने पर भी कांग्रेस को दूसरे दलों से मिलकर सरकार बनाने की अनुमति "हाईकमान" से नहीं मिली यद्यपि संविद सरकारों की असफलता के बाद उसे दूसरों दलों से मिलकर सरकार बनाने की अनुमति अब मिल गई हैं। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी राज्यों के मुख्य मन्त्रियों की राय लेती हैं और जानबूझ कर ऐसी कोई परिस्थिति पैदा नहीं करना चाहती जिससे संविद के लोगों की शिकायतों को बल मिले। जैसा भी हों सभी सरकारें समान हैं और केन्द्र तथा सभी राज्य भी संवैधानिक दृष्टि से समान हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं।

3. खाद्य समस्या :-

पिछले कुछ वर्षो से खाद्य समस्या से देश में भयंकर स्थिति पैदा हुई। कुछ राज्यों में सूखो के कारण अकाल पड़ा और कुछ राज्यों में हमेशा की तरह ही अनाज पैदा हुआ। फिर भी अकाल पीड़ित क्षेत्रों को अनाज देश की उपज से पूरा नहीं किया जा सकता था इसलिए अमेरिका, आस्ट्रेलिया रूस व कनाड़ा से गेंहू ज्वार मंगाया गया। लाखों टन अनाज के आयात के पश्चात् भी दुर्भिक्ष का सामना करना कठिन हो गया क्योंकि जो अनाज बाहर से आता था उसका राज्यों की आवश्यकता के अनुपात में वितरण समय पर उसे भूखे लोगों तक पहुंचाना तथा अधिक उपज वाले क्षेत्रों को अनाज पहुंचाना – ये सारी चीजें केन्द्र का दायित्व बन गई। कई राज्यों को केन्द्र की खाद्य नीति से बहुत असन्तोष हुआ और केन्द्र तथा राज्यों में उस समय कांग्रेस सरकार होने पर भी केन्द्र की भर्त्सना की गई। प्रायः ऐसा माना गया कि संकट काल में अनाज की पूर्ति करना केन्द्र का उत्तरदायित्व हैं। जिसे उसने पूरा करने के बजाय इस प्रकार उलझा दिया कि समस्या बहुत जटिल हो गई। सारे देश को केन्द्र की नीति के अनुसार कई खाद्य क्षेत्रों में बांट दिया गया और एक खाद्य क्षेत्र से दूसरे खाद्य क्षेत्र को अनाज जाने की मनाही कर दी गई उससे कम उपज वाले क्षेत्रों को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा – सारे देश में अनाज की कीमतों में इतना अधिक अन्तर हो गया कि लोगों में असन्तोष होना स्वाभाविक था। प्रत्येक राज्य ने अनाज में अपनी–अपनी नाकाबन्दी कर दी जिससे अकाल पीड़ित क्षेत्रों में कीमतें आकाश को छूने लगी जबकि पड़ोसी राज्यों में अनाज महंगा नहीं हुआ। लोगों ने सरकार की इस नीति की कटु आलोचना की और अकाल पीड़ित राज्यों को बहुत असन्तोष हुआ। चौथे आम चुनाव के बाद जब राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारें बनी तो उन्होंने खाद्य क्षेत्रों को तोड़ देने के लिये केन्द्र को बाध्य किया और कमी के क्षेत्रों में गल्ला सस्ता करने के लिये केन्द्र को अनाज पर "सबसिडी" देने के लिये सुझाव दिया। बिहार के मुख्यमंत्री श्री महामाया प्रसाद का आरोप था कि केन्द्रीय सरकार की "खाद्य क्षेत्र" की नीति के कारण बिहार में अनाज का भाव पड़ोसी राज्यों की अपेक्षा 50 प्रतिशत ऊंचा था। दुर्भिक्ष में भी बिहार इस नीति के कारण अपने उन पड़ोसी राज्यों से गल्ला नहीं खरीद सकता था जो बेच सकते थे। इस स्थिति से कुछ होकर बिहार के खाद्य मंत्री श्री कपिलदेव सिंह ने केन्द्र को चेतावनी दी कि यदि वह बिहार सरकार को बचत वाले राज्यों से अनाज खरीदने की अनुमति नहीं देती तो बिहार सरकार को भी अपने कच्चे लोहे व कोयले को दूसरे राज्यों को न बेचने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। केन्द्रीय सरकार का एक ऐसी परिस्थिति में यह तर्क था कि यदि देश में कमी वाले क्षेत्रों में बचत वाले क्षेत्रों से अनाज को पूरा करते है तो सारे देश के अनाज की बिक्री उसकी निकासी तथा नियमन का अधिकार भी केन्द्र को होना चाहिये तथा बचत वाले राज्यों का सारा बिक्री का गल्ला पहले केन्द्रीय खाद्य निगम को बेचा जाना चाहिये। पंजाब सरकार ने केन्द्र की इस नीति का विरोध किया। पंजाब के भूतपूर्व मुख्यमंत्री सरदार गुरूनाम सिंह का तर्क था कि खाद्य निगम एक व्यापारिक संस्था हैं जो मुनाफे की दृष्टि से कार्य करती हैं। वह बचत और कमी वाले राज्यों की सम्बन्धित मांगों पर विचार नहीं कर सकती। प्रदेशीय अनाज भण्डारों की स्थापना में इसके आकस्मिक व प्रशासनिक खर्च राज्यों द्वारा प्रबन्ध की अपेक्षा कहीं

अधिक होते हैं इसके अतिरिक्त खाद्य निगम अनाज की खरीद के साथ सम्बन्धी राज्यों में अनाज के भाव उसके चढ़ाव उतार पर नियन्त्रण नहीं कर सकता। राज्य को अनाज के भाव पर नियन्त्रण करना आवश्यक होता हैं इसलिये निगम के बजाय राज्य सरकार को अनाज की खरीद का और उसे बेचने का अधिकार होना चाहिए।

संविधान निर्माण के समय इस समस्या के बारे में पूर्व विचार सम्भव नहीं था इसलिये खाद्य नीति पर अधिकारों की स्थिति संविधान में स्पष्ट नहीं हैं और इस नीति को अब भी स्पष्ट करना बाकी हैं। केन्द्र ने एक केन्द्रीय खाद्य निगम की स्थापना की हैं जो सारे देश की खाद्य आवश्यकता, का बजट बनायेगा और प्रादेशिक अन्न भण्डारों की स्थापना कराया करेगा पर राज्यों की अपनी–अपनी कठिनाईयों हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुये अभी खाद्य नीति पर दोनो के बीच विचार जारी है।

4. ओवर ड्राफ्ट का प्रश्न :-

राज्यों के पास सीमित आर्थिक स्त्रोत होने के कारण लगभग सभी राज्यों ने रिजर्व बैंक से अपनी आय से प्रतिवर्ष अधिक धन निकाल लिया जिसके कारण "ओवर ड्राफ्ट" की समस्या केन्द्र के लिये सिर दर्द बन गई हैं। राज्यों ने केन्द्र का अनुकरण करके अपनी उच्चाभिलाषी योजनायें बनाई और घाटे का बजट बनाकर अपने खर्च को आमदनी से अधिक बढ़ा लिया। इस अधिक खर्च को उन्होंने किस तरह से पूरा किया और यह समस्या आज केन्द्र की हजार चेतावनी पर भी हल नहीं हो रही हैं। मैसूर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए बताया कि ओवर ड्राफ्ट की समस्या केन्द्र की त्रुटिपूर्ण नीति का परिणाम हैं। केन्द्र ने घाटे का बजट बनाकर राज्यों को भी ऐसा ही करने के लिये प्रेरित किया और राज्यों पर आर्थिक अनुशासन रखना तब सम्भव हो गया प्रत्येक राज्य ने करोड़ो रूपयों का ओवर ड्राफ्ट किया और जब रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय सरकार के सामने इस भयावह परिस्थिति को रखा तब कहीं केन्द्र की आंखें खुली और राज्यों को बैंक से अधिक धन निकालने की मनाही पर कड़ाई के साथ अमल नहीं किया जा सकता था क्योंकि बहुत से खर्चे ऐसे थे जिनके लिये केन्द्रीय सरकार की आर्थिक नीति उत्तरदायी थी और राज्य केन्द्र पर दोष मढ़ सकते थे। दूसरे लगातार अकाल की स्थिति से भी आमदनी और खर्च के बीच बहुत अन्तर पड़ा और ओवर ड्राफ्ट अनिवार्य हो गया। केन्द्र ने बार–बार केन्द्रीय कर्मचारियों का वेतन व मंहगाई भत्ता बढ़ा कर राज्यों के लिये एक प्रकार से बाध्य कर दिया कि वे भी ऐसा करे । यह अधिक खर्च और कहां से आता। इस समस्या के हल के सुझाव के रूप में सरदार गुरूनाम सिंह ने कहा था कि राज्यों को भारत के रिजर्ब बैंक से उतना ही धन निकालने की छूट होनी चाहिये जितनी कि उनकी जमानत हों। श्री अन्नादुराई ने ओवर ड्राफ्ट की नीति का विरोध करते हुये आर्थिक अनुशासन पर जोर दिया और केवल असम्भावित स्थितियों में ही इसे अनुमति देने का सुझाव दिया हैं। सन् 1967–68 में केन्द्रीय वित्तमंत्री श्री मोरारजी देसाई

ने स्पष्ट रूप से राज्यों को ओवर ड्राफ्ट की मनाही कर दी हैं पर व्यवहार पर एक निश्चित नीति का निर्धारण आवश्यक हैं जिससे केन्द्र व राज्य एक दूसरे पर दोष न मढ़ सकें।

5. योजनाओं का कार्यान्वयन :-

राज्य चाहते हैं कि केन्द्रीय सरकार अपनी योजनायें बनाकर राज्यों पर न लादें बल्कि राज्य स्वयं अपनी आवश्यकता के अनुसार योजनायें बनायें और लोकतन्त्र के हित के लिये केन्द्रीय सरकार उन योजनाओं के कार्यान्वयन पर आर्थिक मदद देने में रूचि ले। केन्द्रीय सरकार राज्यों को अपनी योजनाओं के चलाने में ही अभी तक वित्तीय सहायता देने की रूचि लेती रही हैं। ऐसी नीति भ्रमात्मक हैं। राज्यों को योजना के क्षेत्र में अधिक छूट होनी चाहिये। केन्द्रीय सरकार लोगों की स्थानीय मांगों व आवश्यकताओं को उतना अधिक नहीं समझती जितना राज्य सरकार। इसलिये योजनाओं का निर्माण अधिकतर राज्यों का विषय होना चाहिये श्री अन्नादुराई का आरोप है कि केन्द्र ने योजना का केन्द्रीकरण करके अलाभकारी योजनाओं को प्राथमिकता दी और उनकी पूर्ति के लिये लोगों पर टैक्स लगाया। ऐसी नीति राज्यों की स्थिति को संकट में डालने वाली हैं क्योंकि जनता यह नहीं समझती कि अलाभकारी योजनाओं और करों के लिये कौन उत्तरदायी है। इस क्षेत्र में स्वस्थ्य परम्पराओं के आरम्भ करने के लिये गत बीस वर्षो की केन्द्रीय नीति का परीक्षण करने का उन्होंने सुझाव दिया हैं। अप्रैल 1967 के मुख्यमंत्री सम्मेलन में योजनाओं के बारे में नई नीति निर्धारित करने पर कई मुख्य मंत्रियों द्वारा सुझाव दिया गया।

6. वेतन वृद्धि और मंहगाई भत्ते की वृद्धि से उत्पन्न समस्या :-

लगभग सभी राज्यों की यह शिकायत हैं कि केन्द्रीय सकरार अपने कर्मचारियों के वेतन और मंहगाई भत्ते को बिना राज्यों से पूंछताछ किये जब चाहे बढ़ाकर राज्यों को एक बड़े आर्थिक संकट में डाल देती हैं। यह बहुत स्पष्ट बात हैं कर्मचारी चाहे वे राज्य के हों चाहे केन्द्र के, एक प्रकार ही की आर्थिक कठिनाईयों का सामना करते हैं अतएव यदि केन्द्र के वेतन व मंहगाई भत्तों में वृद्धि होगी तो राज्यों के कर्मचारी वैसी ही सुविधा के लिये हड़ताल करेंगे। उनका यह भी कहना हैं कि मंहगाई भत्ते की वृद्धि के द्वारा मंहगाई रोकी नहीं जा सकती क्योंकि वेतन और मंहगाई भत्ते बढ़ते ही बाजार में चीजें उतनी ही अधिक महंगी हो जाती है। अतएवं इस समस्या का सही हल निकालने के लिये केन्द्र और राज्य के बीच सतत् सहयोग होना चाहिये और दोनों मिलकर किसी ऐसी नीति का निर्धारण करें कि इस वेतन या भत्ते की वृद्धि का पूरा भार राज्यों पर न पड़े। इस भार को दोनों एक उचित औसत में अपनी आय के स्त्रोतों के अनुपात में वहन करें तो समस्या का सही समाधान प्राप्त हो सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि नई केन्द्रीय सरकार इस दृष्टिकोण का स्वागत कर रही हैं और अपनी नीति में परिवर्तन के लिये तैयार है।

7. राष्ट्रीयता एकता का प्रश्न :-

बहुत पहले से ही देश में विघटनकारी शक्तियां काम कर रही हैं जो संघ राज्य को टुकड़े करने के लिये उद्यत हैं पंजाब में सिक्ख राज्य की मांग को मास्टर तारासिंह ने इस सीमा तक साम्प्रदायिक बना दिया था कि सिक्ख राज्य भारतीय संघ से स्वतंत्र होकर अपनी अलग सार्वभौमिक सत्ता का निर्माण कर सके। इसके लिये पाकिस्तान की सरकार ने सिक्खों का पक्ष लेकर उन्हें भारतीय संघ से अलग होने के लिये भड़काया। नागालैण्ड को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन वर्षो से चल रहा हैं और ईसाई मिशनरियों ने नागाओं के मस्तिष्क को भारतीय संघ के विरूद्ध करके विकृत कर दिया है और भारत की ओर से श्री जयप्रकाश की अध्यक्ष में जो शिष्टमण्डल नागरिकों से बात करने के लिये नियुक्त किया गया था वह असफल हो चुका हैं और अब नागा पाकिस्तान चीन और ईसाई मिशनरियों के सहयोग से सशस्त्र क्रान्ति की तैयारी कर रहे हैं, ऐसा सुनने में आता हैं। दक्षिण भारत में द्रविड़स्तान की मांग को लेकर पिछले वर्षो में एक विद्रोह की आग भड़की और भारतीय संविधान को जगह–जगह जलाया गया। राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न को लेकर दक्षिण और उत्तर दोनों में आन्दोलन हुआ और उत्तर तथा दक्षिण में एक दूसरे के प्रति घृणा की भावना जोर पकड़ती जा रही हैं। पश्चिमी बंगाल में नक्सलवाड़ी काण्ड इस बात का द्योतक है कि वहां लोग सशस्त्र शक्ति के द्वारा देश के विघटन कराने के लिये तैयार हैं। केन्द्र और राज्य दोनो को इस समस्या पर विचार करना है। यद्यपि श्री अन्नादुराई ने यह आश्वासन दिया है कि मद्रास में डी.एम.के. (द्रविण मुनेत्र कड़गम) के शासन के बाद तामिलनाडू या द्रवड़िस्तान की मांग को स्थगित कर दिया गया हैं तथापि इसे कई क्षेत्रों में एक राजनीतिक "स्टण्ट" ही कहा जा रहा हैं क्योंकि श्री अन्नादुराई ने स्वयं स्वीकार किया है कि तामिल लोगों में पृथकत्व की भावना समाप्त नहीं हुई हैं और यह केन्द्र का काम हैं कि वह देखे कि किस प्रकार उनकी मांगों के साथ सहानुभूति के साथ विचार करके इस समस्या का समाधान निकाला जाय। उन्होंने यह भी कहा हैं कि सभी गैर कांग्रेसी सरकारों को मिलकर पृथकवादी समस्याओं का हल निकालना चाहिये और केन्द्र तथा राज्यों के बीच सम्बंधों को मधुर बनाने के लिये नये आधारों की खोज करनी चाहिये। केन्द्र ने समय रहते इस पृथकवादी शक्तियों को भांप लिया है और संसद के पिछले सत्र में (1967) पृथकवादी कृत्यों के विरूद्ध वैधानिक कार्यवाही करने के लिये कानून पारित कर लिया गया है।

8. मुख्य मन्त्रियों की बढ़ती शक्ति और केन्द्रीय शासन :-

केन्द्रीय शासन की सबलता अभी तक संविधान की अपेक्षा प्रधानमंत्रियों के व्यक्तियों पर अधिक निर्भर करती रही हैं। पं0 जवाहरलाल नेहरू के समय में मुख्यमंत्री को अपनी संवैधानिक मांगों को भी सामने रखने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। श्री लालबहादुर शास्त्री के समय से केन्द्र प्रशासनिक व अन्य निर्णय एक व्यक्ति की राय से नहीं बल्कि मंत्रिमंडल के कुछ मंत्रियों

की राय से हमेशा किये जाने लगे और एकाकी व्यक्तित्व का प्रभाव समाप्त हो गया। उनके समय से ही प्रधांनमंत्री के चुनाव में राज्य के मुख्यमंत्रियों का प्रभाव आधिक बढ़ गया। श्रीमती इन्दिरागांधी को प्रधानमंत्री बनाने में कांग्रेसी राज्यों के मुख्य मंत्रियों ने बहुत बड़ा भाग अदा किया इससे स्पष्ट है कि केन्द्र अब उतना प्रभावशाली नहीं रहा जितना पहले था। यह बात कांग्रेस के सम्बन्ध में लागू होती हैं पर यही चीज हमेशा के लिये कोई नियम नहीं बन सकती क्यों कि कांग्रेस के केन्द्र से भी अपदस्थ होते ही किसी एक राजनीतिक दल का केन्द्र व राज्य दोनों में प्रभुत्व होना कठिन है अतएव भविष्य में केन्द्र व राज्यों के बीच क्या स्थिति होमी अभी से कुछ कहा नहीं जा सकता। अभी तक की स्थिति में पं0 नेहरू के अन्तिम दिनों से ही राज्यों के मुख्य मंत्रियों का महत्व बढ़ने लगा था, ऐसा कहा जा सकता हैं। पं. नेहरू के बाद तो उनका प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया था कि केन्द्र में उत्तराधिकार का प्रश्न लगभग उन्होंने तय किया और सारे देश में एक राष्ट्रीय खाद्य--नीति के निर्धारण में उन्होंने ही अड़ंगा लगाया जिसके दुष्परिणामों को सारे देश को भोगना पड़ा। कुछ मुख्य मंत्रियों की बात को केन्द्र टाल नहीं सका और इसलिये कोई राष्ट्रीय नीति निर्धारित नहीं हो सकी। योजनाओं के सम्बन्ध में भी राज्यों द्वारा केन्द्र के विरूद्ध व्यक्त किये गये विचार बिल्कुल सही नहीं हैं क्योंकि योजना आयोग में अन्तिम निर्णय हमेशा राज्यों के मुख्य मंत्रियों की सलाह से लिये जा सकते थे और पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण में राज्यों का सदा सहयोग रहा हैं तथा इन योजनाओं के फलस्वरूप जो आय अपेक्षित हैं उनमें राज्यों का उचित हिस्सा भी होगा, यह भी निश्चित हो चुका हैं। योजनाओं के निर्माण में ''राष्ट्रीय विकास परिषद'' का भाग बहुत महत्वपूर्ण रहा है और इस परिषद में राज्यों के मुख्यमंत्री ही सदस्य होते रहे हैं। योजना आयोग पर इस परिषद ने बराबर ही प्रभाव डाला हैं और योजना आयोग के सदस्य राज्यों की राजधानियों में जाकर योजना के बारे में परामर्श करते रहे हैं। राज्यों के मुख्यमंत्री राष्ट्रीय परिषद एकीकरण राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद और दूसरी राष्ट्रीय संस्थाओं में अपना स्थान प्राप्त करते रहे हैं फिर भी यदि राज्यों को केन्द्र के विरूद्ध एकाधिकारवाद की शिकायत है तो वह केवल इसलिए कि व्यावहारिकता में केन्द्र व राज्य का सम्बन्ध हमेशा दलीय सम्बन्ध में प्रमाणित होता रहा। आज की स्थिति भिन्न हैं और जब अधिकतर राज्यों में केन्द्र का दलीय अनुशासन व सम्बन्ध नहीं रहा तो यही मुख्यमंत्री केन्द्र व राज्यों के बीच के सम्बन्धों को पलट सकते हैं। इस नये सन्दर्भ में यदि वस्तु स्थिति का अध्ययन किया जाय तो श्री पाल अपलवी की बात बहुत सत्य प्रतीत होती है कि भारत में सारी राष्ट्रीय योजनाओं, प्रशासनिक यंत्रों व संसद की विधियों का कार्यान्वयन राज्यों पर निर्भर करता है। यदि केन्द्र और राज्यों के बीच सम्बन्धों में तनाव हो जाय (जैसी की सम्भावना दिखाई पड़ रही है) तो निश्चय ही केन्द्र की स्थिति बहुत शोचनीय हो सकती हैं और केन्द्र को राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिये संविधान के उन अनुच्छेदों की सहायता लेनी पड़ सकती है जिनका प्रयोग साधारण स्थिति में नहीं होता। केन्द्र और राज्यों के बीच की सही स्थिति तो अब स्पष्ट हो रही हैं क्योंकि अभी तक दोनों के बीच सम्बन्धों का आधार संविधान नहीं बल्कि दलीय अनुशासन रहा हैं। इस परिवर्तित स्थिति में मुख्य मंत्रियों की बढ़ती हुई शक्ति को सन्तुलित करने की समस्या पर भी सोचते रहने की आवश्यकता हैं। आज राज्य जहां पर केन्द्र पर एकाधिकारवाद का आरोप करते हैं वहां केन्द्र को भी राष्ट्रीय हित के लिये इन आरोपों का परीक्षण उपर्युक्त पृष्ठभूमि में करना होगा संविधान का लक्ष्य जैसा कि दीवान चमनलाल ने बताया

हैं, केन्द्र व राज्यों के बीच समानता के स्तर पर एवं सहकारिता के सम्बन्ध को निर्मित करना हैं न कि केन्द्र की राज्यों पर अथवा राज्यों की केन्द्र पर प्रभुता को स्थापित करना हैं।

केन्द्र व राज्यो के बीच संबंधों की पुनर्व्याख्या

केन्द्र और राज्य के बीच सम्बन्धों की पुनर्व्याख्या राजनीतिक क्षेत्र में चर्चा का विषय बन गया हैं और बौद्धिक क्षेत्रों में इस पर बहुत वाद–विवाद चल रहा है। मध्यम श्रेणी के असन्तुष्ट लोगों की ऐसी धारणा हैं कि वर्तमान सम्बन्ध संविधान के अनुकूल न होकर गत 20 वर्षो की परम्पराओं के प्रतिफल है। इन सम्बन्धों में संविधान की आत्मा की पुनर्जीवित करने की नितांत आवश्यकता है। अतिवादी असंतुष्टों की राय में संविधान राज्यों की स्वायत्ता की रक्षा नहीं करता और संघवाद की बात संविधान में एक ढोंग से अधिक कुछ नहीं है। सही संघ राज्य की स्थापना के लिये पूरे सम्बन्धों में पुनर्विचार करने की आवश्यकता हैं। उनका कहना हैं कि जब संविधान का निर्माण हुआ उस समय इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती थी कि केन्द्र में एक राजनीतिक दल का शासन होगा और राज्यों में दूसरे दलों का। उस समय लोगों में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव इतना अधिक था कि एक संघ के अन्दर विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रमों और भिन्न प्रकार की सरकारों के निर्माण की बात उनके मन में थी ही नहीं। आज एकता के अन्दर अनेकता को फलने फूलने का अवसर मिलना चाहिये। ऐसे लोगों की राय में संविधान में संशोधन की अवश्यकता हैं।

यह सही है कि संघराज्य में अनेक राजनीतिक कार्यक्रमोंको प्रोत्साहन मिलना चाहिये इस पर प्रोत्साहन और विभिन्नता को इतनी छूट भी नहीं मिलनी चाहिये कि वह राष्ट्रीय एकता को खतरे में डाल दें। स्वायत्तता के नाम पर राष्ट्रविरोधी तत्वों को छूट नहीं दी जा सकती। संघ और राज्यों के सम्बन्धों के निर्णय में राष्ट्रीय हित सर्वोपरि होना चाहिये। विघटनकारी शक्तियों का सामना करने के लिये केन्द्र को अधिक शक्तिशाली होना ही चाहिये। सारे संसार में संघवाद की यह प्रवृत्ति अपने आप विकसित हुई हैं। जिससे भारत इंकार नहीं कर सकता दूसरे दुनिया के अन्य संघ राज्यों में विघटन का अब उतना डर नहीं है जितना भारत में। कारण यहां के कई राजनीतिक दल जातिवादी, सम्प्रदायवादी, माओंवादी और आशावादी संकीर्णताओं के आधार पर पनप रहे हैं। यदि इन्हें छूट मिल गई तो कही शिव सेना तो कहीं द्रमुक सेना तो कहीं नाग सेना और कहीं नागा सेना अपना अधिपत्य जमा लेगी। दुनिया के किसी भी लोकतान्त्रिक संघ के अन्दर आजकल बामपंथी साम्यवादियों की सरकार नहीं बन पाई हैं। भारत इसका पहला उदाहरण हैं। द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का नेता जो कल तक पृथक द्रविडंस्तान का नारा लगा रहा था आज भारतीय संघ के अन्दर के महत्वपूर्ण इकाई राज्य का प्रतिनिधित्व करता है।। क्या रातों–रात उस पृथकवादी धारणा का रूपान्तर हो जाना सम्भव हैं । अनेक त्रुटियों के बाद भी यह भारतीय संघ की सबसे बड़ी उदारता हैं कि विरोधी सिद्धांतों पर चलने वाली सरकारें एक ही संघ राज्य की अंग हैं। अन्य संघो में इतनी विरोधी सिद्धान्तों भिन्नताओं को पनपने नहीं दिया जाता। विशेषकर ऐसी स्थिति में

जहां दल–बदल जैसी राजनीति अनैतिकताओं को भी राजनीतिक सफलता कहा जाता हो, एक शक्तिशाली केन्द्र का आवश्यकता हैं। ऐसी शक्ति पूर्णतया संविधान की आत्मा पर आधारित हो, यह मांग उचित है।

अभी हाल में ही श्री महावीर त्यागी की अध्यक्षता में चतुर्थ वित्तीय आयोग के संगठन से केन्द्र तथा राज्य के बीच वित्तीय सम्बन्धों पर पुनर्विचार का अवसर मिलेगा और जैसा कि श्री के0सन्थनाम का सुझाव हैं, दोनों के बीच इस क्षेत्र में संबंधों का एक समायोजित रूप तैयार हो सकता हैं। चिकित्सा, यन्त्र तथा इंजीनियरिंग आदि के क्षेत्र में अखिल भारतीय सेवाओं के आरम्भ करने के पूर्व राज्यों की सम्मति ली जानी चाहिये, ऐसा भी श्री सन्थानम का सुझाव है। गैर कांग्रेसी राजयों में इस बात की बहुत आशंका थी कि अखिल भारतीय सेवाओं के लोग शायद उनके साथ असहयोग करें परन्तु अनुभव से वह बात सही सिद्ध नहीं हुई फिर भी ऐसी सेवाओं के संगठन में राज्यों की सम्मति लेना संवैधानिक दृष्टि से आवश्यक न होने पर भी मधुर सम्बन्धों के लिये बहुत आवश्यक हैं। श्री संथानम ने प्रशासन सुधार आयोग के सामने गवाही देते हुये यह भी सुझाव दिया है कि केन्द्र तथा राज्यों के बीच प्रशासन की सही प्रत्याभूति के लिये एक स्वतंत्र प्रशासन के आयोग, की नियुक्ति की जानी चाहिये।

हाल ही में दो घटनाएं हुई। इनका रिश्ता नागरिक के जीवन एवं आजादी के संरक्षण के लिए केन्द्र सरकार जवावदेही के बारे में संवैधानिक प्रावधानों से हैं। दोनों मामलों में केन्द्रीय गृहमंत्री इन्द्रजीतगुप्त की प्रतिक्रियाओं ने इस मामले को रेखांकित किया हैं। बिहार के भोजपुर जिले में कत्लेआम हुआ। निचली जाति के लोग मार डाले गए। इनमें महिलाएं और बच्चे भी शरीक थे। रणवीर सेना नामक गैर कानूनी संगठन से जुड़े लोगों की भीड़ ने हत्याकांड किया। गृहमंत्री की प्रतिक्रिया फकत यही थी कि "बेशक कानून और व्यवस्था के उपकरण बतौर पुलिस की भूमिका बेअसर रही हैं।" बहरहाल इतने भर से ही संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत केन्द्र के लिए हस्तक्षेप का आधार नहीं बन जाता। दूसरा मामला जम्मू और कश्मीर का हैं यहां दो हादसे हुए। एक में बिहार से मजदूरी करने आए बारह लोगों को, उग्रवादियों ने गोली से उड़ा दिया। एक अन्य हादसे में राजस्थान से आए छह सैलानी पहले उपहृत किए गए और बाद में मार डाले गए। गृहमंत्री गुप्त ने महज इतना ही कहा कि सैलानियों को कश्मीर जाने से बचना चाहिये। कश्मीर में राष्ट्रपति शासन लागू है यानी वहां के प्रशासन का सीधा जिम्मा केन्द्रीय गृहमंत्रालय का हैं।

केन्द्रीय गृहमंत्री का सार्वजनिक तौर पर यह कहना कि वे कश्मीर जाने वाले भारतीयों की हिफाजत करने में नाकाम हैं, शक्ति के परित्याग का बेशर्म उदाहरण है।

संयुक्त मोर्चा सरकार के घटक दलों का एक मुख्य मुद्दा यह भी है कि संघीय राजनीति का तकाजा हैं कि राज्यों के मामलात में, केन्द्र दलखंदाज नहीं बने। लगातार ये शोर

किया जा रहा है कि केन्द्र की शक्तियां घटाई जाएें और प्रदेशों की शक्तियों में इजाफा हो। बिहार, असम, तमिलनाडु और आंध्र के मुख्यमंत्री तो यह साफतौर पर कह चुके हैं कि वे यह सुनिश्चित करेंगें कि केन्द्र का क्षेत्राधिकार न्यूनतम हो जाये और प्रदेशों के क्षेत्राधिकार में इतनी वृद्धि कर दी जाए कि व्यवहारतः सभी मामले उसके अधीन हो जाएं।

कश्मीर में अलगांवादी और वे भी जो कि अलगाववादी नहीं हैं, साफतौर पर कश्मीर को भारत संघ से अलग करने के हक में हैं। इनके मुताबिक केन्द्र के बचे खुचे अधिकार इतने कम होने चाहिए कि वे नगण्य नजर आऐं। यहीं से सबाल उठ खड़ा होता है कि क्या भारत को एक ऐसे संघ में तब्दील हो जाना चाहिए कि जहां केन्द्र की हैसियत सिफर से ज्यादा नहीं रह जाए या फिर मौजूदा संविधान को बदले। ये तय कर लिया जाए कि जहां इस मामले में कड़े निर्देश है कि प्रदेश के मामलों में केन्द्र कब और क्यों दखल दे सकता है।

इतिहास का इशारा यह हैं कि भारत तभी एक रह पाया हैं जब केन्द्र मजबूत रहा हैं। मौर्यो, मुगलों और अंग्रेज राज के उदाहरण दिए जा सकते हैं। बेशक इस देश में इतनी विविधता हैं कि उसे माकूल अभिव्यक्ति मिलना ही चाहिए, लेकिन परेशानी तब दस्तक लेने लगती हैं जब क्षेत्रीय मतभेद, मातृभूमि से अलगाव की शक्ल ले लेते हैं। हालात की हकीकत ये हैं कि हर वह प्रदेश जो ज्यादा स्वायत्तता की मांग करता हैं उसे ही केन्द्रीय बलों की ज्यादा जरूरत होती हैं क्यों कि कानून और व्यवस्था के बिगड़ते हालात से निपटना उसके लिए संभव नहीं रहा जाता। ये एक अलग तथ्य है कि इस विकृति के लिए संबंधित प्रदेशों के नेता ही जिम्मेदार होते हैं।

अब भोजपुर के मामले को लेते हैं। देश में भारतीय शस्त्र कानून हैं, अपराध दंड संहिता और भारतीय दंड संहिता हैं। इनके जरिये अपराध परिभाषित होता हैं। मुकदमें की कार्यवाही का आधार बनता हैं। और अपराधी सजा पाते हैं, ये कानून, पुलिस को भी प्रवर्तन के लिय पर्याप्त शक्तियां देते हैं। सवाल यह है कि क्या हम कानून लागू कर पाते हैं। बिहार में बगैर लायसेंस शुदा हथियारों की तादाद अकल्पनीय हैं। इन हथियारों का खुलकर इस्तेमाल किया जाता है। गैर लायसेंस शुदा हथियारों को रखने वालों की धरपकड़ और जब्ती के लिए किसी लम्बे-चौड़े सरंजाम की जरूरत नहीं हैं, लेकिन जब भिण्डरांवाले को 200 सशस्त्र लोगों के साथ दिल्ली में नहीं रोका जा सकता था तो आज ये अपेक्षा क्यों करते हैं कि बेतिया, भोजपुर या समस्तीपुर का पुलिस सब इंस्पेक्टर उन राजनीतिक गुण्डों की पकड़-धकड़ कर लेगा जो बंदूके लटकाए घूमते हैं। बिहार का हरेक विधायक अपने साथ सशस्त्र निजी गुण्डे लेकर चलता हैं। पुलिस ऐसे विधायक और उसके साथियों को गिरफ्तार क्यों नहीं करती। आर्म्स एक्ट केन्द्र का बनाया कानून हैं और इसे लागू नहीं करना, संसद द्वारा रचे गऐ कानून की अवज्ञा हैं। क्यों केन्द्र सरकार ने अनुच्छेद 252 के तहत दी गई शक्तियों का इस्तेमाल करते हुए कभी राज्य सरकारों को निर्देशित किया हैं कि वे आर्म्स एक्ट पर अमल करवाएं। संविधान के सोलहवें अध्याय का संबंध अनुसूचित जातियों और जनजातियों से हैं। इसके तहत समाज के इस तबकों के संरक्षण के लिए केन्द्र का विशेष

क्षेत्राधिकार है।

संविधान का अनुच्छेद इक्कीस नागरिक के जीवन और निजी आजादी के संरक्षण की बात कहता हैं। यदि नगरिक की हत्या हो जाए खासतौर से सामूहिक तौर पर तो यह अनुच्छेद इक्कीस का उल्लंघन हैं। ऐसी सरकार जो अपनी नागरिकों की जान की रक्षा करने में नाकाम रही वह संविधान के प्रावधान के उल्लंघन की दोषी हैं। ऐसी सरकार के खिलाफ संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत कार्रवाई बिल्कुल न्यायसंगत है। मैं गृहमंत्री इन्द्रजीत गुप्त की राय से रजामंद नहीं हूँ कि कानून लागू करने की एजेंसी बतौर बिहार पुलिस बेअसर हैं। ऐसा दरअसल इसलिए हैं कि पुलिस में जाति के आधार पर विभाजन हैं, राजनीतिक दखलंदाजी के चलते उसका हौसलापस्त हैं और उसे मंत्रियों तथा अफसरों का चाकर बना दिया गया हैं जब पंजाब में उग्रवाद चरम पर था, ऐसी ही बातें पंजाब पुलिस के बारे में कहीं गई थी। वहां पुलिस को राजनीतिक दखलंदाजी से आजाद किया गया और इससेपुलिस की कार्यक्षमता बढ़ी तथा हौसला बुलंद हुआ और वह आतंकवाद से निपटने का बढ़िया औजार बनी। असम में हितेश्वर सैकिया ने ऐसा ही करने की कोशिश की और इसके नतीजे भी निकले। कश्मीर में भी पुलिस बल स्पंदित हुआ । हम बिहार में भी ऐसा कर सकते हैं और ऐसा करने के लिए अगर लालू यादव की सरकार को बर्खास्त करना पड़े तो यह बिहार के नागरिकों के हक में होगा। यह अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग नहीं, बल्कि सदुपयोग होगा।

कश्मीर में हालात जरा मुख्तलिफ हैं वहां भाड़े के सैनिक सक्रिय हैं। आतंकवाद को वहां पाकिस्तान की खुली मदद हासिल हैं। बहरहाल इसके बावजूद हालात वहां इतने सामान्य तो बना ही दिए गए हैं कि वहां लोकसभा चुनाव सम्पन्न हो गए और आतंकवादियों की धमकियों के बावजूद विधानसभा चुनाव की तैयारी जारी हैं। ये सही हैं कि आप केरल में जितनी आजादी से घूम–फिर सकते हैं, उस तरह तो नहीं फिर भी कश्मीर में चुनिंदा जगहों पर जा सकते जैसे हालात होने चाहिए। अगर केन्द्रीय गृहमंत्री इतना भी नहीं कर सके तो बेहतर होगा कि वे सार्वजनिक जीवन से अवकाश ग्रहण कर लें। किसी भी सूरत में उन्हें बेवकूफाना बयान नहीं देना चाहिए कि ये तो उनके "निजी विचार" था। ये ऐसा मामला जो देश के नागरिकों की सुरक्षा से जुड़ा हो वहां गृहमंत्री के निजी विचार नहीं होते सिर्फ सरकारी कर्तव्य होते है और इन्द्रजीत गुप्त अपने सरकारी कर्तव्यों का निर्वाह नहीं कर पाए ।

चन्द्रबाबू नायडू का व्यापक स्वायत्तता का आग्रह भी चौंकाता है। नायूडू और बंसीलाल ने आंध्र और हरियाणा में नशाबंदी लागू की। सातवीं सूची की दूसरी सूची के आठवें क्रम में उन्हें यह शक्ति प्राप्त हैं, लेकिन वे नशाबंदी लागू करने से हो रहे राजस्व नुकसान की भरपाई का आग्रह केन्द्र सरकार से कर रहे है। इसका केन्द्र से क्या संबंध मुख्यमंत्री चाहते हैं कि केन्द्र उन्हें फण्ड मुहैया करें। राज्य पैसे के व्यवरिथत खर्च का जिम्मा लेने को तैयार नहीं हैं। मैं तो आरोप लगाना चाहूँगी कि प्रदेशों द्वारा ज्यादा स्वायत्तता की मांग के मूल में यही इच्छा हैं कि उड़ाने फूकने के लिए सार्वजनिक धन मिल जाए। अगर ऐसा नहीं होता तो राजीव गांधी यह क्यों कहते

कि केन्द्र ग्रामीण विकास के लिए जो भी राशि प्रदेशों को देता हैं उसका सिर्फ 15 प्रतिशत ही गांवों तक पहुंच पाता हैं। राजीव गांधी का कथन अतिरंजित होते हुए भी काफी हद तक सच था।

सार्वजनिक धन के साथ प्रदेश के सलूक का रिकार्ड अच्छा नहीं कहा जा सकता। मध्यप्रदेश सरकार ने किसानों और झुग्गीवासियों को मुफ्त बिजली दे रखी है। उत्तरप्रदेश सरकार ने भू–राजस्व का बड़ा हिस्सा माफ कर दिया हैं । आंध्र प्रदेश सस्ता चालव और गुजरात सस्ता खाना मुहैया करा रहे हैं। ये फेहरिस्त अंतहीन हो सकती है। हर प्रदेश चाहता हैं कि केन्द्र सरकार कर लगाए। कर लगाए और अलोक प्रिय बने। हरेक प्रदेश की ख्वाहिश हैं कि केन्द्र सरकार उसे बगैर सवाल किए पैसा मुहैया करवाती जाए। ये संघवाद (फेडरलिज्म) नहीं हैं। ये मुख्यमंत्रियों के रूप में लूटेरे क्षेत्रपों द्वारा कमजोर केन्द्र सरकार के खजाने पर डाका हैं।

भारत को जरूरत हैं कि संविधान पर ईमानदाराना तौर पर अमल हो। संविधान ने प्रदेशों के लिए पर्याप्त स्वायत्तता का प्रावधान किया हैं और देश को एक रखने के लिए केन्द्र को पर्याप्त ताकत दी हैं। यही बात न्यायमूर्ति सरकारिया आयोग ने अपनी रपट में कहीं हैं। केन्द्र को कमजोर करने की कोशिश रोकी जानी चाहिए। राष्ट्रीय स्तर पर इसी में समझदारी हैं।

1967 में गठबंधन सरकारें राज्यों से बननी शुरू हुई जिन्हें हम संविद सरकारों के नाम से जानते हैं। इन सरकारों के बनने में राज्यपालों ने अहम भूमिका निभाई थी। राज्यपालों के निवास राजनीति के अड्डे बन गए थे। उन सरकारों के अनुभव भी बहुत मधुर नहीं रहे। इस प्रयोग ने भारतीय राजनीति के माहौल को गंदा तो किया ही। साथ ही अस्थिरता की भी शुरूआत की 1967 के गठबंधन प्रयोग से हमें तीन सबक मिले। पहला इसने आयाराम, गयाराम की संस्कृति को जन्म दिया, क्योंकि ये सरकारें चली नहीं। आज जबकि हम भूमंडलीकरण के युग में जी रहे हैं, क्याइस तरह की अस्थिरता का जोखिम उठा सकते हैं।

दूसरा सबक यह मिला कि तब लोकतंत्र का जो मखौल राज्यपालों ने उड़ाया, राजभवन राजनीति के अड्डे बने, क्या आज हम चाहते हैं कि राष्ट्रपति भवन में वह सब हो। क्या राष्ट्रपति को रोज–रोज राजनीति में घसीटने की अनुमति हमारा संविधान देता है। तीसरा सबक 1967 के प्रयोगों से यह मिला था कि हमारी नौकर शाही का इसके साथ बंटवारा शुरू हुआ वह विभिन्न गुटों में बंट गई थी। अत एक बार फिर नौंकरशाही का राजनीतिकरण हो रहा हैं। प्रदेशों में हम यह साफ–साफ देख रहे हैं।

1967 के बाद 1977 में एक बार फिर कांग्रेस को पराजित करने के मकसद से

पांच विरोधी दल इकट्ठे हुए और जनता पार्टी बनी। लेकिन पांचों के आपसी झगड़ों व टकरावों ने ढाई साल के भीतर ही इस प्रयोग को भी धराशायी कर दिया। एक दूसरे पर आरोप–प्रत्यारोपों के चलते पहले मोरारजी देसाई की सरकार अल्पमत में आई और फिर चरणचौधरी सिंह की सरकार बनी। यह सरकार संसद का सामना तक नहीं कर पाई। पहली बार राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी पर कीचड़ उछाला गया। यह हुआ केवल कुर्सी पाने के लिए किए गए गठबंधन का हश्र।

1989 में एक बार फिर गठबंधन बना। वी.पी.सिंह नाम के एक ऐसे व्यक्ति के नेतृत्व में बना जिसका एकमात्र मकसद राजीव गांधी को अपदस्थ करना था 11 महीने उनकी सरकार चली। राष्ट्रपति विवादों में आए। चंद्रशेखर के रूप में एक ऐसा व्यक्ति प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठा, जिसके पास सिर्फ 57 सदस्य थें। वह सरकार भी 4 महीने ही टिकी। दो साल के भीतर चुनाव हुए। कांग्रेस को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। अल्पमत को बहुमत में बदलने के लिए उसे झारखंड मुक्ति मोर्चा की मदद लेनी पड़ी, जिसे रिश्वत देने का दाग आज तक उसके दामन में लगा हैं। 1996 का जनादेश और भी गड़बड़ था। इसकी सबसे बुरी हालत तब हुई जब कांग्रेस के बाहरी समर्थन से संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी। यानी बड़े घटक को छोटा घटक ब्लैकमेल करके सत्ता में पहुंचा था। "96" से "98" तक दो प्रधानमंत्री रहे। 50 साल के इतिहास में पहली बार राष्ट्रपति को मंत्रिमंडल की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए वापस भेजना पड़ा। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी के मामले में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री और राज्यपाल के बीच तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई। पहली बार अंतराष्ट्रीय स्तर पर हमारी फजीहत हुई। प्रधानमंत्री को राष्ट्रकुल देशों की बैठक में शामिल होना था, विमान इंतजार करता रहा लेकिन प्रधानमंत्री अंदरूनी क्षुद्र राजनीति में उलझे रहे, कहने को तो यह एक छोटी घटना थी। लेकिन अंतराष्ट्रीय राजनीति में इसके जो संकेत गये वे अच्छे नहीं थे,। अंतराष्ट्रीय राजनीति में महत्व उसी को मिलता हैं। जो अंदर से सुदृढ होते हैं।

आपके भीतर एकता नहीं होगी तो बाहरी ताकतें भी आपको ब्लैकमेल करेंगी यही वजह हैं कि अमेरिकी राष्ट्रपति क्लिंटन ने अपनी भारत यात्रा को टाल दिया। एक खतरनाक स्थिति पिछले दो सालों में नहीं हैं। ऐसी स्थिति फिर नहीं बननी चाहिए। गठबंधन का यह मतलब कदापि नहीं होता कि केन्द्र कमजोर हो। केन्द्र की राजनीति को क्षुद्र माना जाता है। वहीं क्षुद्र राजनीति का अखाड़ा बन जाए तो देश कैसे तरक्की करेंगा?

ऐसा नहीं कि भारत में ही ऐसा हो रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद इटली और फ्रांस में भी ऐसा ही हुआ। फ्रांस में दि गाल के समय 7–8 महीने में सरकारें बदल जाया करती थी। कहा जाता था कि फ्रांसीसी लोग उसी तरह सरकार बदलते हैं जैसे कमीजें। लेकिन फ्रांसीसियों ने अपना संविधान बदल डाला इटली को यूरोप के बीमार आदमी की उपाधि मिली। इसलिए इटली यूरोप के बीच कोई मजबूत छवि नहीं बना पाया। हालांकि इटली में राजनीतिक अस्थिरता आज

भी बरकरार हैं। फिर भी इस के बावजूद अपनी व्यवस्था को उसने कमजोर नहीं होने दिया।

हमें इन सब उदाहरणों से सबक लेना चाहिए। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे राजनीतिक दल सबक नहीं लेते। पिछले लोकसभा में ही 120 नए सांसदों ने लोकसभा को भंग न करने की अपील की थी। लेकिन उनकी अपील को नजर अंदाज कर दिया गया। क्योंकि हमारे दलों को उनकी बातों में अपने निहित स्वार्थो के पूरे होने की कोई आशा नजर नहीं आती।

मैं यह नहीं कहती कि बार–बार की इस विफलता के लिए हमारा संविधान दोषी हैं। हमारा संविधान तो राजनीतिक सामंजस्य की अवधारणा पर ही आधारित हैं। गठबंधन को हमारे नेताओं ने अवसरवाद करार दिया हैं। नेताओं ने राजनीति को दंगल का अखाड़ा बना दिया हैं यही हमारे समय की सबसे बड़ी पीड़ा है। इनसे मुक्ति पाने के लिए जहां हमें ऐसे नेताओं को समय पर बेनकाब करना होगा। वहीं राष्ट्रपति को भी कड़ा रूख अपनाना होगा।

गठबंधन के नियमों को जो भी तोड़ता हैं, उसे चिन्हित कर कटघरे में लाना होगा। तभी यह लोकतंत्र बचा रह सकता हैं।

1. अलगाववादी शासन का आरम्भ

अलगाववाद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष पृथक राज्य की मांग रही है। आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक राज्य की मांग समय समय पर उठायी गयी तथा क्षेत्रीय आन्दोलनों की शुरूआत की गयी। पृथक राज्यों के मांग के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष संघीय इकाइयों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की मांग हैं। इसी मांग के तहत हिमांचल प्रदेश को 1970 में पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा जनवरी 1922 में पूर्ण राज्य त्रिपुरा एवं मणिपुर को बना दिया गया। 1987 में मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश और गोआ को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया। दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की मांग करते रहे है। दिसम्बर 1991 में दिल्ली के लिए 70 सदस्यीय विधानसभा तथा 7–सदस्यी मंत्रिपरिषद् के निर्माण से संबंधित विधेयक संसद ने पारित कर दिया। परन्तु केन्द्र शासित क्षेत्र के रूप में दिल्ली का दर्जा बना रहेगा इसके अतिरक्त पृथक राज्यों की मांग को निम्नलिखित सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

राज्यों का पुनर्गठन :-

सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य कारण भाषायी राज्यों की ही भाग थी। भाषागत राज्यों की मांगों ने राष्ट्रव्यापी असन्तोष को जन्म दिया। इसके द्वारा क्षेत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रवादी लोगों में यह आशंका पैदा हुई कि इससे देश छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जायेगा और राष्ट्रीय एकता का अन्त हो

जायेगा ।

बंबई राज्य का विभाजन :-

बम्बई राज्य के विभाजन की मांग तीव्रतर होने लगी। यह मांग की जाने लगी कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्य के दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिये। सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई।

पृथक विदर्भ राज्य की मांग :-

सन् 1960 के आस–पास पृथक विदर्भ राज्य की मांग की जाने लगी। नागपुर के लोगों का कहना था कि महाराष्ट्र की स्थापना से नागपुर का महत्व कम हो गया क्योंकि उससे पूर्व नागपुर बाध्य भारत की राजधानी था।

पंजाब राज्य का पुनर्गठन :-

सन् 1966 में पंजाब राज्य का पनुर्गठन किया गया परिणामतः पंजाब, हरियाणा एवं चण्डीगढ़ का संघीय प्रदेश बनाया गया। हिमाचल प्रदेश एक प्रशासनिक इकाई बन गया है। इस पुनर्गठन का उद्देश्य इस क्षेत्र के सभी राज्यों का तेजी से आर्थिक विकास करना और वहां की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को संतुष्ट करना था।

असम राज्य का पुनर्गठन :-

सितम्बर 1968 में असम पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गयी थी। इस योजना में राज्य के पहाड़ी लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी जिससे पहाड़ी लोगों की आकांक्षाएं पूरी हों और विकास सम्बन्धी क्रिया–कलाप बढ़ सकें। "असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल" दिसम्बर 1968 में पारित होकर कानून बन गया और असम राज्य के अन्तर्गत "मेघालय" का स्वायत्तशायी राज्य स्थापित हो गया। भूतपूर्व संघीय प्रदेशों–मणिपुर तथा त्रिपुरा के लोग भी अधिक स्वायत्त शासन की मांग कर रहे थे। सरकार ने उनकी मांगों पर सहानुभतिपूर्वक विचार किया और असम के मिजो जिले की जनता के लिए एक पृथक प्रशासनिक इकाई की मांगपर विचार किया और प्रदेश की सुरक्षा और आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए उत्तर–पूर्वी क्षेत्रों के पुनर्गठन के लिए कदम उठाए गए। इन परिवर्तनों को अमल में लाने के लिए 1972 में एक अधिनियम पारित किया गया और मणिपुर एवं त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया।

आज बोरो, गारो और करबी जैसी जनजातियां भी असम से अलग हो जाने की भाषा बोल रही हैं।

आन्ध्र राज्य के विभाजन की मांग :-

आन्ध्र प्रदेश में तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गयी विकास रोजगारों के अवसरों और शिक्षा–विषयक सुविधाओं के मामले में तेलंगाना क्षेत्र के लिए 1967 में पब्लिक एम्प्लायमेण्ट "ऐक्ट में संरक्षणों की व्यवस्था की गयी।उसी वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने इस ऐक्ट की उस व्यवस्था को असंवैधानिक करार दे दिया, जिसका तेलांगाना क्षेत्र को मिलने वाले संरक्षणों से सम्बन्ध था। संरक्षणों के कार्यान्वयन के ढंग से असन्तोष था और तेलंगाना एवं आन्ध्र प्रदेश के अन्य भागों में गम्भीर आन्दोलन शुरू हो गए। हिंसात्मक आन्दोलनों से बड़ी गम्भीर परिस्थिति पैदा हो गयी जिससे राज्य के संगठन को ही खतरा पैदा हो गया। आन्ध्र प्रदेश के लोगों में पूरी–पूरी भावनात्मक एकता लाने के लिए बड़े भारी धैर्य, सूझ–बूझ और कुशलता की आवश्यकता थी। 1967 में शुरू की गयी इस बड़ी नाजुक कार्यवाही का परिणाम 6–सूत्रिय फार्मूला था जो 1972 में घोषित किया गया।

पृथक तेलंगाना के समर्थकों का कहना था कि अन्य क्षेत्रों का विकास तेलंगाना के मूल्य पर किया जा रहा हैं। तेलंगाना आन्दोलन को देखते हुए शंका व्यक्त की गयी कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागों में उपक्षेत्रीयतावाद की उदीयमान शक्तियों का संकेत देती प्रतीत होती हैं।

अन्य भागों में पृथक राज्यों की मांग

भारत के विभिन्न भागों में क्षेत्रीयता के आधार पर पृथक राज्यों की मांग की जाती रही हैं। असम के मैदानी भागों की जनजातियों ने पृथक संघीय क्षेत्रों की मांग की हैं। भूतपूर्व मैसूर रियासत के लोगों ने कर्नाटक से अलग होने की मांग की हैं। उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों कुमायू, एवं टिहरी–गढ़वाल ने भी पृथक राज्य की आकांक्षा प्रस्तुत की हैं। पृथक उत्तराखण्ड राज्य की मांग का आधार आर्थिक पिछड़ापन ही हैं। यह मांग उठायी जा रही हैं कि उत्तर प्रदेश के आठ पहाड़ी जिलों को मिलाकर पृथक राज्य गठित किया जाए जिससे कि इन क्षेत्रों का स्वतंत्र रूप से विकास हो सके। भौगोलिकता का तत्व भी इसी सन्दर्भ में महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इन पहाड़ी क्षेत्रों के विकास की समस्याएं मैदानी भागों से अधिक भिन्न एवं जटिल हैं जिसमें पूर्वी उत्तर प्रदेश का आर्थिक पिछड़ापन गम्भीर विषय हैं। दक्षिण गुजरात के आदिवासी लोगों ने पृथक राज्य की मांग की हैं। बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश के पन्द्रह आदिवासी जिलो को मिलाकर पृथक झारखण्ड राज्य की आवाज बुलन्द की गयी। इस समय झारखण्ड आंदोलनकारियों द्वारा पृथक

झारखण्ड राज्य की मांग को लेकर तीव्र आन्दोलन चल रहा है। 21 मार्च, 1992 को झारखण्ड बंद के दौरान बिहार के अनेक जनपदों में जनजीवन ठप्प हो गया। 15 मार्च, 1963 को झारखण्ड राज्य सर्वदलीय संघर्ष समिति ने 12 घंटे के बाद और अनिश्चित काल की आर्थिक नाकेबंदी का आव्हान किया। आंदोलनकारी अलग झारखंड राज्य की मांग कर रहे हैं, इसके अन्तर्गत चार राज्यों के 24 जिलों को मिलाकर स्वायत्तशासी राज्य बनाने का प्रस्ताव हैं। इसी भांति लोकसभा के जनवरी 1980 के चुनाव के दिनों में पृथक छत्तीसगढ़ राज्य की मांग को भी पृथक चुनावी मुद्दा बनाया गया था। बोर्डो कछाड़ी आदिवासी असम के विभाजन की मांग कर रहे हैं। ताकि उदयांचल राज्य की स्थापना हो सके। असम की 2 करोड़ 20 लाख आबादी में से 65 लाख आदिवासी हैं, यानी करीब 40 प्रतिशत। 1987 के उत्तरार्द्ध में बोडों लोगों ने राज्य के आदिवासी इलाकों में बन्द की राजनीति का सिलसिला शुरू किया और सन् 1989 में बोडो आन्दोलन ने काफी हिंसक रूप से लिया। अखिल बोड़ो छात्र यूनियन ने पृथक राज्य की मांग की तथा उसके लिए बन्द का आव्हान किया। 21 फरवरी, 1983 को बोडो नेताओं, असम सरकार तथा केन्द्र सरकार के बीच एक समझौता हुआ जिसमें स्वायत्त बोडो क्षेत्र (असम राज्य) के भीतर की पहचान की व्यवस्था हैं। नई वोडो स्वायत्त परिषद को 38 विषय सौंपने का प्रावधान हैं।

अलगाववाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं। राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी पानी विवादों को लेकर राज्य में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े हैं। राष्ट्रीय स्त्रोतों के वितरण पर राज्यों के बीच कई बार सहमति नहीं हो पायी और राज्यों में कई बार अधिकतम स्त्रोत प्राप्त करने की होड़ सी दिखलायी देने लगी। मध्यप्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर उत्पन्न विवाद, राजस्थान और पंजाब के बीच भाखड़ा नांगल बांध से उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर विवाद, तमिलनाडू व कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के मुख्य उदाहरण हैं, जिनमें कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया और संघवाद की भावना डगमगाती प्रतीत हुई हैं।

असम–नागालैण्ड सीमा विवाद भंयकर नरसंहारों का कारण बन चुका हैं। 5 जनवरी 1979 मे हथियारों से लैस नागाओं ने 55 असमियों की हत्या कर दी थी। 4 जून, 1985 को मेरापानी मे दूसरा बड़ा काण्ड हुआ । इस बार नागाओं के साथ उनके राज्य सशस्त्र पुलिस की थी। इस काणड में 30 असमी मारे गए और 90 घायल हुए। असम से अधिकारी दावा करते हैं कि उनके राज्य की 878 वर्ग किमी भूमि नागालैण्ड ने दबा ली हैं।

वस्तुतः असम और नागालैण्ड के बीच 4,973 वर्ग मील क्षेत्र पर विवाद चल रहा हैं नागालैण्ड ने विवादास्पद क्षेत्र मे विधानसभा चुनावों (1978) के लिये 25 मतदान केन्द्र खोलने की घोषणा की तो पूरा असम उग्र हो उठा और अखिल असम छात्र संघ ने नागालैण्ड की आर्थिक

नाकेबन्दी करने को कदम उठाया। प्रधानमंत्री राजीव गांधी को यह आवश्वासन देना पड़ा कि अगर नागालैण्ड की आर्थिक नाकेबन्दी समाप्त न की गयी तो केन्द्र सरकार विमानों के जरिऐ वहां जरूरी सामना भेजेगी। असम अरूणाचल, असम–मेघालय, मिजोरम का मणिपुर व त्रिपुरा के साथ सीमा विवाद की बहुत कटु और चिन्ताजनक होता जा रहा हैं।

कावेरी जल विवादः-

कावेरी जल विवाद कर्नाटक, तमिलनाडू और केरल राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेश पांडिचेरी के बीच कावेरी नदी के पानी के बंटवारे पर एक लम्बे, लगभग दो दशाब्दियों से अधिक समय से चला आ रहा है। तमिलनाडू के किसानों ने सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर कर केन्द्र सरकार को यह निर्देश देने की प्रार्थना की थी कि वह अन्तर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम के अर्न्तगत एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर तामिलनाडू को कावेरी जल का उचित भाग दिलाए। 14 मई, 1990 को सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार को एक माह के अंदर ऐसा न्यायाधिकरण नियुक्त करने का निर्देश दियां इस आदेश के अनुपालन में केन्द्र सरकार ने 2 जून, 1990 को बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति चित्ततोष मुखर्जी की अध्यक्षता में तीन–सदस्यीय न्यायाधिकरण की नियुक्ति की। इस कावेरी जल विवाद न्यायाधिकरण ने 26 जून,1991 को अपने अन्तरित आदेश में कर्नाटक सरकार को 1जुलाई 1991 से प्रारम्भ होने वाले वर्ष के लिए तमिलनाडू को 205 हजार घनमीटर पानी छोड़ने का तथा कावेरी बेसिन में अपने सिंचाई को 11. 2 लाख एकड़ तक सीमित रखने का निर्देश दिया।

कर्नाटक ने इस आदेश का डटकर विरोध किया। मूख्यमंत्री बंगारप्पा नें 25 जुलाई,1991 को कर्नाटक–कावेरी बेसिन सिंचाई सुरक्षा अधिनियम, 1991 के नाम एक अध्यादेश जारी करवाकर न्यायाधिकरण के अन्तरिम आदेश को निष्प्रभावी कर दिया। दूसरी तरफ तमिलनाडू सरकार ने केन्द्र सरकार से मांग की कि वह कर्नाटक सरकार द्वारा न्यायाधिकरण के निर्णय का अनुपालन कराऐं। दोनो राज्यों के केन्द्र सरकार से अपना–अपना पक्ष मनवाने के लिए आंदोलनो की श्रंखला प्रारंभ कर दी। मामले ने इतना तूल पकड़ा कि कर्नाटक ने न्यायाधिकरण के अन्तिम आदेश के विरोध में सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिका तक दायर कर दी हैं।

अलगाववाद और स्वायत्ता की मांग :-

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गयी हैं जिसमें स्वाभाविक रूप से केन्द्र शक्तिशाली हैं। विगत कुछ वर्षो से मांग की जाती रही हैं कि भारतीय संविधान के सम्बन्धित प्रावधानो का पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिये। मांग की गयी है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए।स्वायत्तता की मांग के साथ–साथ यदाकदा पृथकतावादी नारे भी दिए जाते हैं। स्वायत्तता

की यह मांग उन दिनों बड़ी प्रबल हो जाती हैं जबकि केन्द्र एवं राज्यों में पृथक–पृथक राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। पंजाब में मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल द्वारा सिक्खों के स्वायत्त राज्य की मांग उठाई गयी थी। पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार–बार राज्यों की स्वायत्ता की मांग दुहराई हैं। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलों ने भी राज्य स्वायत्ता की मांग का समर्थन किया हैं।

भारतीय राजनीति क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केन्द्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई हैं। राज्यों ने कई बार केन्द्र के सुझावों और निर्देशों को मानने से इंकार कर दिया और अपने स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय दिया। 18 सितम्बर, 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिए केन्द्र ने राज्यों को निर्देश दिए। केरल की वामपंथी सरकार के मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने केन्द्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इन्कार कर दिया। सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिन्तित होकर केन्द्रीय सरकार ने उपद्रव–ग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामलों में केन्द्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने बराबर विरोध किया हैं। जनता पार्टी के शासन काल में गौ–हत्या प्रतिबन्ध के विषय पर केन्द्र तथा तमिलनाडू,केरल व पश्चिमी बंगाल की सरकारों के बीच विवाद उत्पन्न हुए। केन्द्र से अधिकतम वित्तीय स्त्रोतों को प्राप्त करने के लिए भी राज्यों ने केन्द्र के विरूद्व संघर्ष का रूख अपनाया। कई बार अन्तर्राज्यीय विवादों के समाधान में राज्यों ने केन्द्र के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार राज्यों द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना, केन्द्र के निर्देशों का पालन न करना क्षेत्रीयतावाद की नीति के द्योतक हैं।

भारत में उत्तर और दक्षिण के सन्दर्भ में सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती हैं। दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामलें में उनकी उपेक्षा की हैं। दक्षिण के चार राज्यों–तमिलनाडू,आन्ध्रप्रदेश,केरल कर्नाटक जहां द्रविड़ भाषा बोली जाती है, का विचार हैं कि राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उत्तरी भारत की अपेक्षा दक्षिणी भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिये थे। केन्द्रीय मंत्रिमंडल,योजना आयोग तथा केन्द्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाए हुए हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में 2,240 करोड़ रू0 राशि में से दक्षिण भारत को 521 करोड़ रू0 ही दिए गए। इस्पात के सभी बड़े कारखाने राउरकेला, भिलाई, दुर्गापुर उत्तरी भारत में ही हैं। दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत में उद्योगो का जाल बिछा हुआ हैं। दक्षिण के राज्यों ने सरकार की भाषा नीति का डटकर विरोध किया हैं। दक्षिणी राज्य यह मानते हैं कि हिन्दी उत्तरी भारत की भाषा हैं उन पर हिन्दी जबर्दस्ती थोपने की एक चाल हैं। वे मानते हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं की भांति हिन्दी भी एक भारतीय भाषा हैं। अन्य द्रविड़ भाषाओं,जैसे तमिल,मलयालम,तेलगू और कन्नड़ से हिन्दी इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं हैं। दक्षिण के राज्य चाहते हैं कि प्रशासन की भाषा के रूप में हिन्दी के बजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए। हिन्दीं को वे उत्तरी भारत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति

का परिचायक मानते हैं।

क्षेत्रीयता की इस मनोवृत्ति के कारण मार्च 1997 के छठी लोकसभा के 8वें चुनावों में उत्तर और दक्षिण के मताचरण में भी काफी अंतर पाया गया। जहां उत्तरी भारत में कांग्रेस के पैर पूरी तरह से उखड़ गए वहां दक्षिण भारत के राज्यों ने कांग्रेस के पक्ष में मतदान किया। जनता पार्टी को तमिलनाडू में तीन,कर्नाटक में दो, आन्ध्र प्रदेश में एक और केरल में एक भी स्थान नहीं मिला। इसके विपरीत कांग्रेस को मध्यप्रदेश और राजस्थान में एक–एक स्थान मिला। उसे बिहार, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश में एक भी स्थान नहीं मिला। इसी प्रकार नवम्बर 1989 तथा मई–जून 1991 के लोकसभा चुनावों में भी उत्तर और दक्षिण के मताचरण में व्यापक अन्तर दिखाई देता हैं। उत्तरी भारत के राज्यों में जनता दल और भाजपा को शानदार सफलता मिली वहां दक्षिण के राज्यों में कांग्रेस (इ) को उल्लेखनीय विजय प्राप्त हुई।

स्वाधीनता के तुरन्त बाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्र भाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यको को किस प्रकार संरक्षण दिया जाए। संविधान ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित किया। भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा का विरोध करने लगे। वे राजभाषा के रूप में हिन्दी को पसन्द नहीं करते थे। उनका कहना था कि हिन्दी इस स्थिति में नहीं हैं कि वह भारत की राजभाषा बन सके। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बड़ी भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आन्दोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गयी। मॉरिस जोन्स लिखते हैं कि " दक्षिण भारत ने हिन्दी का जोरदार विरोध किया बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के अन्य भागों के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप में ही इसका विरोध किया।"

असम में भाषा की राजनीति असम आन्दोलन की प्रेरणा स्त्रोत रही हैं। जनगणना के आंकड़ों के अनुसार 1951 व 1971 के बीच राज्य में 61–62 प्रतिशत लोग ही असमिया भाषा बोलते थे। राज्य के हिन्दू जो लगभग 72 प्रतिशत हैं कि असमिया भाषा बोलने वाले 62 प्रतिशत लोगों में 25 प्रतिशत लोग बंगला देश के मुसलमान हैं। उनका यह मानना हैं कि इन मुसलमानों ने असमिया भाषा बोलना इसलिए शुरू किया ताकि उन्हें पहचाना न जा सकें कि वे विदेशी हैं। असम के लोगों को भय हैं कि एक बार स्थिति सामान्य हुई और बंगला देश से आए मुसलमान अपनी मूल भाषा बंगाली का प्रयोग शुरू कर देंगें और ऐसी स्थिति में असमिया भाषा बोलने वालों का प्रतिशत 36–37 रह जाएगा।

दूसरी ओर बंगला भाषी लोग जो इस समय असम की जनसंख्या के 20 प्रतिशत

हैं, उनकी संख्या में 25 प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार राज्यों में बंगलाभाषा भाषियों का प्रतिशत 45 हो जाएगा जो असमिया भाषा बोलने वालें के प्रतिशत से आठ–नौ प्रतिशत ज्यादा होगा।

इससे ''असली'' असमवासी भयभीत हो जाते हैं। इन लोगों का कहना हैं कि बंगाली अच्छे–अच्छे पदों पर हैं और असमिया भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति :-

द्रविड. मुनेत्र कड़ग़म की मांग :-

क्षेत्रीयतावाद के आन्दोलन को प्रबल बनाने में तमिलनाडू के द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल की प्रमुख भूमिका रही हैं। जून 1950 में द्रमुक ने मद्रास राज्य में पृथकतावादी आन्दोलन संगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीस संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। जगह–जगह भारत के नक्शों को जलाया गया। द्रमुक ने यहां तक कहा कि मद्रास, आन्ध्रप्रदेश, केरल और मैसूर राज्यों को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक सम्प्रभु ''द्रविड़ स्थान'' राज्य बनाया जाना चाहिए। मई 1962 में राज्यसभा में द्रमुक के नेता अन्नादुरै ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालों से कई दृष्टि से भिन्न हैं और दक्षिण वालों की सदैव उपेक्षा की गयी हैं। इस प्रकार की विघटनकारी मांगों के फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में संविधान का 16वां संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गयी कि भारत की अखण्डता के विरूद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं कर सकेगा। इसके फलस्वरूप द्रमुक ने भारतीय संघ से अलग होने की मांग को छोड़ दिया और भारतीय संघ में ही स्वायत्त राज्य की मांग प्रस्तुत की। सन् 1970 में द्रमुक के तत्वावधान में ''राज्य स्वायत्तता सम्मेलन आयोजित किया गया और राज्य स्वायत्तता की मांग की गयी। राज्य के तात्कालिक मुख्यमंत्री करूणानिधि ने चुनौती दी कि यदि उनकी मांग स्वीकार नहीं की जाती हैं तो वे जनआन्दोलन का भी सहारा लेंगें। एक बार तो उन्होंने पृथक ध्वज की भी मांग की। क्षेत्रीय दल होने के कारण द्रमुक ने सदैव क्षेत्रीय भावना को भड़काया हैं। करूणानिधि ने तो यहां तक कह डाला कि राज्य की नौकरियों में 80 प्रतिशत स्थान स्थानीय लोगों को दिए जाएंगें।

अकाली दल की मांग :-

मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिक्ख सम्प्रदाय ने स्वाधीनता से पूर्व ''खालिस्तान'' की मांग की थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद मास्टर तारासिंह ने पृथक सिक्ख राज्य की मांग की। सन् 1950 से 1969 के बीच सिक्खों ने हिंसात्मक आन्दोलनों के माध्यम से पंजाबी सूबे की मांग की और। 1 नवम्बर, 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ। इससे भी सिक्ख समुदाय सन्तुष्ट नहीं हुआ और सिक्खों के लिए राज्य की मांग उठने लगी। अकाली दल के महासचिव

डा0 जगजीतसिंह ने सिक्ख जनमत को जाग्रत करने के लिए "सिक्खस्तान" की मांग हेतु विभिन्न देशों की यात्रां की। अकाली दल के कई नेता यह धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अन्तर्गत सिक्ख राज्य को स्वायत्तता प्रदान नहीं की गयी तो वे जन–आन्दोलन का सहारा लेगें। आज भी अकाली दल राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की मांग प्रस्तुत करता रहा हैं।

खालिस्तान की मांग :-

सिक्खों के लिए पृथक राज्य खालिस्तान"की मांग नयी नहीं हैं। सिक्ख देश" की मांग भारत की आजादी के दिनों से पहले की हैं। खालसा पन्थ का कहना हैं कि सिक्खों को धोखाधड़ी से भारतीय गणतन्त्र में शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था। पन्थ यह भी कहता हैं कि भारत के हिन्दू बहुमत ने एकजुट होकर इस बात पर जोर देते हुए कि सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का ही अंग हैं सिक्ख धर्म को बर्बाद करने की कोशिश की और उनकी पंजाबी भाषा को एक बोली मात्र घोषित करके और पंजाब के द्विभाषी प्रदेश बनाकर उनकी भाषा को नीचा दिखाने की कोशिश की।

खालिस्तान की यह मांग आज (खासतौर से 1980–1993 की अवधि में) एकाएक चिन्ता का विषय इसलिए बन उठी हैं कि पहले इसका समर्थन कुछ मुट्ठी भर उग्र तत्व करते थे, लेकिन अब प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके समर्थन में राजनीतिक दल तो आ ही गए, सिक्खों की वे संस्थाएं भी अपने मंच का उपयोग इस प्रकार की गतिविधियों के लिए करने लगीं जो केवल गुरूद्वारों और शिक्षा संस्थाओं के प्रबन्ध से ताल्लुक रखती थी।

पिछले दिनों आनन्दपुर साहिब में आयोजित शैक्षिक सम्मेलन के मंच से पृथक सिक्ख राज्य की मांग की गयी। इसके बाद शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी ने जिसका गुरूद्वारा और उनकी विशाल सम्पत्ति पर नियन्त्रण है, इसी प्रकार का एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया। इस पर अकाली दल के लोगोंवाल गुट का प्रभुत्व हैं। बाद में पृथक सिक्ख कौम के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सह–सदस्यता प्राप्त करने के बारे में अकाली दल के तलवण्डी गुट ने प्रस्ताव पास कर दिया। वे भारत संघ के अन्दर पृथक सिक्ख राज्य चाहते हैं।

खालिस्तान आन्दोलन को विदेश में रहने वाले सिक्खों की एक बड़ी संख्या का समर्थन प्राप्त हैं। यह आन्दोलन अमरीका में बसे गंगासिंह ढ़िल्लों और इंग्लैंड में बसे जगजीतसिंह द्वारा चलाया जा रहा हैं। उनका अपना ध्वज हैं, निर्वासित सरकार हैं, लन्दन में मुख्य कार्यालय हैं। उत्तरी अमरीका के लगभग सभी बड़े शहरों में गुप्त संगठन हैं और वे इस कोशिश में लगे हुए हैं कि संयुक्त राष्ट्र में उन्हें वहीं सहभागी दर्जा दिया जाए जो फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को प्राप्त

हैं। पृथकतावादी आन्दोलन के संगठनों का दावा है कि कनाडा में उनके सदस्यों की संख्या 10,000 है जो मासिक प्रतिव्यक्ति 10 डालर चन्दे के हिसाब से खालिस्तान गणतन्त्र के निर्माण के लिए प्रतिवर्ष लगभग 12 लाख डालर इकट्ठे करते हैं।

आनन्दपुर साहिब में शैक्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए गंगासिंह ढ़िल्लों ने कहा कि खालिस्तान की मांग सिक्खों के हितों की रक्षा के लिए की जा रही हैं। आजादी के बाद भारत में सिक्खों के साथ भेदभाव बरता गया हैं। इसलिए जरूरी हैं कि सिक्खों का एक पृथक राज्य हो जहां उन्हीं का बोलबाला हो।

वस्तुतः यह तर्क काफी खोखला हैं। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत में सिक्खों की जनसंख्या केवल दो प्रतिशत हैं लेकिन सेनाओं में ग्यारह प्रतिशत सिक्ख हैं। इसी प्रकार पुलिस व अन्य असैनिक सरकारी सेवाओं में भी उन्हें जनसंख्या के अनुपात से अधिकस्थान प्राप्त हैं। केन्द्रीय मंत्रिमंडल में सिक्ख हैं। राज्यपाल सिक्ख हैं, राष्ट्रपति (श्री जैल सिंह) सिक्ख रह चुके हैं तथा पंजाब में जहां केवल आधी आबादी सिक्ख हैं, अब तक हमेशा सिक्ख मुख्यमंत्री रहा हैं। इस प्रकार यह कहना कि भारत में सिक्खों के हितों की उपेक्षा की जा रही हैं, सरासर गलत हैं।

आसाम में मिजो मांग :-

आसाम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलों के नेता भारतीय संघ से पृथक होने की लगातार मांग करते रहे हैं। वहां एक "स्वाधीन मिजो राष्ट्रीय फ्रण्ट" की स्थापना की गयी। मिजो लोगों ने सशस्त्र आन्दोलन का मार्ग अपनाया। 1962 के चीनी आक्रमण के समय फ्रण्ट पर प्रतिबंध लगा दिया गया किन्तु कछार और त्रिपुरा क्षेत्रों में इनकी गतिविधियां चलती रही। सन् 1971 में मिजो नेता राज्य की मांग के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने की मांग करने लगें। मिजो लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं को देखते हुए केन्द्रीय सरकार ने 'मिजोरम" नामक संघीय क्षेत्र की स्थापना की और सन् 1987 में इसे पूर्ण "राज्य" का दर्जा प्रदान किया।

आसाम में नागा आन्दोलन :-

आसाम में नागा जाति ने भी भारतीय संघ से अलग होने का आन्दोलन छेड़ा। फीजो के नेतृत्व में नागा राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गयी और हिंसात्मक संघर्ष की सक्रिय गतिविधियां प्रारम्भ कर दी गयीं। सन् 1952 में नागाओं ने प्रथम आम चुनाव का बहिष्कार किया। फीजों ने यहां तक कहा कि वे नागा लोगों को सुयंक्त राष्ट्र संघ में ले जाएंगें। 1960 में नागाओं और केन्द्रीय सरकार के मध्य एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप नागा राज्य की स्थापना का

मार्ग प्रशस्त हुआ।

पृथक तेलंगाना आन्दोलन :-

1960 के दशक में तेलंगाना को पृथक राज्य बनाने की मांग की गयी। तेलंगाना के लोगों का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित आर्थिक विकास नहीं हो रहा हैं। जनवरी 1969 में पृथक राज्य के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसका नेतृत्व डॉ0 चेना रेड्डी एवं तेलंगाना प्रजा समिति जैसे संगठन ने किया। हाल में 1969 की तरह फिर एक बार पृथक तेलंगाना की मांग जोर पकड़ने लगी। पृथक तेलंगाना की मांग करने वालों को डा0 चेना रेड्डी का परदे के पीछे से समर्थन प्राप्त था। 8 जुलाई, 1985 को तेलंगाना के प्रबल समर्थक पूर्वपार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आन्दोलन की शुरूआत की।

स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग :-

1986 पं0 बंगाल के पहाड़ी क्षेत्र के लोगों ने स्वतंत्र गोरखालैण्ड की मांग प्रस्तुत की हैं। मई 1988 में दार्जिलिंग एवं कालिमपांग में तीन दिन का सफल बन्द गोरखा मुक्ति मोर्चे ने आयोजित किया। नेपाल से आए गोरखा लोगों ने इस संगठन के माध्यम से यह मांग रखी कि उनका स्वतंत्र देश गोरखालेण्ड बनाया जाए। सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखा राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा पिछले दो वर्षो से पं0 बंगाल में सक्रिय हैं"

स्वतंत्र कश्मीर का सपना :-

हाल ही में कश्मीर में उग्रवादियों की गतिविधियों में वृद्धि हुई है। अधिकांश कश्मीरी कल्पनालोक में रहना चाहते हैं और उनमें यह धारणा बढ़ती जा रही है। कि उग्रवादियों के प्रयासों और इस्लामाबाद की मदद से स्वतंत्र कश्मीर की स्थापना सम्भव है। पाकिस्तान ने अपने हथकंडे बदल दिए हैं और उसने भारत के साथ विजय को निष्प्रभावी करने के लिए स्वतंत्र कश्मीर की मांग का समर्थन करना आरम्भ कर दिया हैं।

2– धारा 356 का प्रयोग

यदि राष्ट्रपति को प्राप्त सूचनाओं के आधार पर अथवा अन्य किसी प्रकार से अथवा राज्यपालों द्वारा भेजे गए प्रतिवेदनों के आधार पर यह विश्वास हो जाए कि किसी राज्य का शासन

संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, तो वह एक उद्घोषणा द्वारा राज्य के विधान–मण्डल को छोड़कर राज्यपाल या किसी निकाय अथवा राज्य के किसी भी प्राधिकारी के अधिकारी सहित उस राज्य की सरकार के सभी अथवा किसी कार्य को अपने हाथ में से लेते हुये यह घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधान–मण्डल के अधिकारी का संचालन संसद द्वारा अथवा संसद के अधिकार के अधीन होगा। साथ ही, वह राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सम्बन्धित संस्थान के किसी भाग को लागू कर सकता हैं। इस सम्बन्ध में एक मात्र अपवाद यह हैं कि वह उच्च न्यायालय में लिखित अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त होने वाले किसी भी अधिकर को अपने हाथ में नहीं ले सकता हैं और न वह उच्च न्यायालयों से सम्बन्धित संविधान की किसी व्यवस्था को सीमित कर सकता हैं।

जहां तक विधायी अधिकारों का सम्बन्ध हैं, संसद किसी भी विधान मंडल के अधिकार राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर सकती हैं अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे सकती है कि वह अपने द्वारा नियत किए गए किसी अधिकारी को राज्य के विधान मंडल के अधिकार सौंप दें। यदि उस समय लोकसभा का अधिवेशन न हो रहा हो तो संसद के स्वीकृति मिलने तक राष्ट्रपति राज्य की समेकिंत निधि में से व्यय करने की स्वीकृति दे सकता है।

अनुच्छेद 356 के अधीन जारी की गई उद्घोषणा संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी और यदि वह पूर्ववर्ती उद्घोषणा द्वारा प्रतिसंहात नहीं की गई है तो दो महीने तक मान्य होगी। यदि दो महीने तक संसद संकल्प द्वारा उद्घोषणा का अनुमोदन कर देती हैं तो वह 6 माह तक प्रवर्तन में रहेगा। 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 में यह स्पष्ट कर दिया है कि संसद एक बार में इस अवधि को 6 माह के लिए बढ़ा सकती हैं और एक वर्ष से अधिक अवधि के लिए आपात को तभी जारी रखा जा सकता हैं जब चुनाव आयोग इस बात का प्रमाण–पत्र दे दें कि सम्बन्धित विधान सभा के लिए आम चुनाव कराने में कठिनाईयों के कारण आपात स्थिति जारी रहना आवश्यक हैं।

संविधान का 48वाँ संशोधन, 1984 :—

यह अधिनियम पंजाब राज्य की विशेष स्थिति के संदर्भ में पारित किंया गया था। राज्य में हिंसा और आतंकवादियों की गतिविधियों के कारण 6 अक्टूबर, 1983 को विधान सभा को स्थगित करते हुए राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था। संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार राज्य में स्थिति में सुधार नहीं होने से राष्ट्रपति शासन की अवधि को बढ़ाया जाना अपरिहार्य बन गया था। अतः इस संविधान संशोधन से राज्य में राष्ट्रपति शासन को अधिकतम दो वर्ष तक रखा जा सकता था।

स्वतंत्रता के पश्चात राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के प्रसंग भी भारतीय

राजनीति में अत्यंत चर्चित तथा विवादास्पद रहे हैं। समय–समय पर इन प्रसंगों ने देश में उत्तेजनात्मक वातावरण को भी प्रश्रय दिया हैं। राज्यों में राष्ट्रपति शासन किन परिस्थितियों में लागू होता है। इसका विस्तार से विवेचन हम अध्याय 2 में कर चुके हैं। अनुच्छेद 356 में यह व्यवस्था हैं कि यदि राष्ट्रपति को प्राप्त सूचनाओं के आधार पर अथवा अन्य किसी प्रकार से यह विश्वास हो जाए कि किसी राज्य का शासन संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार नही चलाया जा सकता, तो वह एक उद्घोषणा द्वारा राज्य के विधानमंडल को तोड़कर राज्यपाल या किसी निकाय अथवा राज्य के किसी भी प्राधिकारी के अधिकारों सहित उस राज्य की सरकार के सभी अथवा किसी कार्य को अपने हाथ में ले सकता हैं और यह घोषणा कर सकता हैं कि राज्य के विधान मंडल के अधिकारों का संचालन संसद द्वारा अथवा संसद के अधिकार के अधीन होगा। साथ ही, वह राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सम्बन्धित संविधा के किसी भाग को स्थापित कर सकता हैं। जहां तक विधायी अधिकारों का सम्बन्ध हैं, संसद किसी भी विधान–मण्डल के अधिकार राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर सकती हैं अथवा राष्ट्रपति को यह अधिकार दे सकती हैं कि वह अपने द्वारा नियत किये गये किसी अधिकारी को राज्य के विधान–मण्डल के अधिकार सौंप दें।

भारत संघ के राज्यों के अक्षम नेतृत्व दल–बदल दलों की आन्तरिक गुटबंदी आदि के कारण राजनीतिक स्थायित्व प्रायः कम ही रहा हैं। अधिकांश राज्य काफी हद तक राजनीतिक अस्थिरता के शिकार रहे हैं, वहां संवैधानिक संकट पैदा होते रहे हैं और फलस्वरूप बार बार राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा है।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत इस शक्ति का प्रयोग, दिसम्बर, 1976 तक 42 बार किया जा चुका था और बाद की अवधि में भी अनेक बार इसका प्रयोग हुआ हैं। हम यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

1. अधिकार मामलों में राष्ट्रपति शासन ऐसी स्थिति में लागू किया गया हैं जबकि किसी न किसी कारण से एक स्थायी सरकार का गठन सम्भव नहीं रहा इसके कुछ उदाहरण हैं – पंजाब 1951, पेप्सू 1953, आन्ध्रप्रदेश 1954 ट्रावनकोर कोचीन 1956 उड़ीसा 1961 केरल 1964, राजस्थान 1967 उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, पंजाब 1969 एवं गुजरात 1976, 1975 में कांग्रेस दल के अपने अन्दरूनी झगड़ो को निबटाने के लिए उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था जो अनुच्छेद 356 का सरासर दुरूपयोग था।

2. सन् 1976 में अनुच्छेद 356 का प्रयोग तमिलनाडू में किया गया। एम.करूणानिधि के नेतृत्व वाले द्रमुक मंत्रिमंडल को इस आधार पर अपदस्थ कर दिया गया था कि उसने केन्द्रीय सरकार के निर्देशों की अवहेलना की हैं तथा आपात शक्तियों का दुरूपयोग किया हैं। राज्यपाल महोदय ने राष्ट्रपति को भेजी गयी रिपोर्ट में लिखा था कि द्रमुक मंत्रिमंडल

के कुप्रबन्ध, भ्रष्टाचारपूर्ण कृत्यों तथा विभेदपूर्ण नीतियों का पालन कर न्याय को ताक पर रख दिया गया हैं जो जनतांत्रिक प्रशासन की आधारशिला हैं। केन्द्रीय सरकार यह कृत्य भी जनतांत्रिक परम्परा एवं सिद्धान्तों के विपरीत ही कहा जा सकता हैं क्योंकि तमिलनाडू के मंत्रिमंडल को विधान मंडल तथा जनता दोनों का पूर्ण विश्वास प्राप्त था। प्रजातंत्र के नाम पर ही प्रजातंत्र हत्या करने का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। जून 1977 में तमिलनाडू विधानसभा के चुनाव कराए गए और 30 जून, 1977 को राष्ट्रपति का शासन समाप्त कर दिया गया। एम.जी.रामचन्द्रन के नेतृत्व में अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक का मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ।

3. नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन (1977) :–

लोकसभा के मार्च, 1977 के चुनावों से अभूतपूर्व राजनीतिक स्थिति सामने आई नौ राज्यों – पंजाब, हरियाणा हिमांचल प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश उत्तरप्रदेश, बिहार पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में मतदाताओं ने तत्कालीन सत्ताधारी दल की सरकारों में पूर्ण अविश्वास का संकेत देते हुए उस दल के उम्मीदवारों का पूरी तरह या लगभग पूरी तरह से सफाया कर दिया। इन नौ राज्यों में कांग्रेस दल को 300 स्थानों में से मात्र 9 स्थान ही प्राप्त हुए। इस पर तत्कालीन गृहमंत्री चौधरी चरण सिंह ने इन नौ राज्यों के मुख्य मंत्रियों को सुझाव दिया कि वे विधानसभाओं को भंग करने और नए चुनाव कराने के लिए राज्यपालों को सलाह दें। यह सुझाव नहीं माना गया। दूसरी तरफ केन्द्र के सुझाव की संविधानिक वैधता को सिद्ध करने के प्रयास किये गए। इन नौ राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने सर्वोच्च न्यायालय में एक अपील दायर करके केन्द्र की इस कार्यवाही को रोकने का निवेदन किया। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने केन्द्र के सुझाव को संविधानिक ठहराया। 29 अप्रैल, 1977 को इन नौ राज्यों की स्थिति पर विचार–विमर्श किया और 30 अप्रैल, 1977 को कार्यवाहक राष्ट्रपति इन नौ राज्यों के लिए संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन उद्घोषणा जारी की गई। इन राज्यों की विधानसभाएं भंग कर दी गई और मुख्य चुनाव आयुक्त से उनके लिए नए चुनाव कराने के लिए कहा गया। तदनुसार जून, 1977 के मध्य में इन नौ राज्यों में नए चुनाव कराए गए और नई सरकारें गठित की गई ।

4. मई 1977 में मणिपुर में राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा क्योंकि दल बदलने के कारण दारेन्द्रसिंह सरकार का पतन हो गया और राजनीतिक स्थिति इतनी अनिश्चित बन गई कि कोई दल अथवा संगठन सरकार बनाने की स्थिति में नहीं रहा। विधानसभा को निलम्बित रखा गया। बाद में राज्यपाल ने यंगमाशों शैजा को आमन्त्रित किया जिन्हें सर्वसम्मति से जनता पार्टी का नेता चुना गया और उन्हें सरकार बनाने के लिए 60 सदस्यों के सदन में 34 विधायकों का समर्थन प्राप्त था। राज्यपाल की सिफारिश पर 29 जून, 1977 को राष्ट्रपति शासन समाप्त किया गया, और तब शैजा के नेतृत्व में नए मंत्रिमंडल ने उसी दिन शपथ ग्रहण की।

5. नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन (1980) :–

सन् 1980 में अनुच्छेद 356 का कमोवेश प्रयोग उन्हीं परिस्थितियों में किया गया जिनमें 1977 में इसका प्रयोग जनता पार्टी द्वारा किया गया था और नौ राज्यों– उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब, उड़ीसा, बिहार, गुजरात महाराष्ट्र और तमिलनाडू की जनता सरकारों को इसी आधार पर पदच्यूत किया गया कि वे जनता का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। जबकि जैसा कि विदित हैं 1977 को केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार पदासीन हुई थी किन्तु आपसी कलह के कारण जनता पार्टी का विघटन हो गया। फलतः राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने लोकसभा भंग कर दी और मध्यावधि चुनाव की घोषणा की। दिसम्बर 1979 में चुनाव में जनता पार्टी की भारी पराजय हुई और कांग्रेस पार्टी को संसद में दो तिहाई बहुमत प्राप्त हुआ। इस समय उपर्युक्त राज्यों में जनता पार्टी और अन्य विपक्षी दलों की सरकारें कार्य कर रही थी। 18 फरवरी, 1980 को श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की सरकार ने इन सरकारों को पदच्युत कर इन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया। सरकार ने आदेश में किसी कारण का उल्लेख नहीं किया। यह इतिहास की पुनरावृत्ति का एक जो राजनीति निर्णय था भारत का संघात्मक व्यवस्था में असहिष्णुता जन्य परम्परा का द्योतक बन गया।

6. 21 अक्टूबर, 1981 को केरल में राज्यपाल की सिफारिश पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। राज्य विधान मण्डल को निलम्बित अवस्था में रखा गया ताकि राजनीतिक स्थिति स्पष्ट हो जाने के पश्चात् एक लोकप्रिय सरकार बनाई जा सके। 28 दिसम्बर, 1981 को राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया और उसी दिन कांग्रेस (इ) नेता के करूणाकरन के नेतृत्व में एक लोकप्रिय सरकार ने कार्यभार सम्भला।

7. असम राज्य में श्रीमती अनवरा तैमूर के नेतृत्व वाली सरकार ने 29 जून, 1981 को त्यागपत्र दे दिया और 30 जून, 1981 को संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा राज्य के प्रशासन को अपने हाथ में ले लिया गया। असम विधान सम्बन्धी एक परामर्शदात्री समिति भी गठित की गई जिसमें 45 सदस्य थे। इसमें 30 सदस्य लोकसभा और 15 सदस्य राज्यसभा के थे, के.सी.गोगाई द्वारा मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ग्रहण किए जाने पर 13 जनवरी, 1982 को असम में राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया।

8. सन् 1982 में दो राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया– केरल और दूसरा असम। इन दिनों राज्यों में राज्य विधान–मण्डलों में सरकार का स्पष्ट बहुमत न होते हुए भी कांग्रेस (इ) के नेतृत्व वाली सरकारें पदासीन की गई थी। केरल में के.करूणाकरण के नेतृत्व में, जब सभी लोक–सरकारें प्रारम्भ से ही अल्पमत में थी और विधान–मण्डल में अविश्वास के प्रस्ताव पर स्पीकर के तान्त्रिक मूल्यों का आदर करके कांग्रेस दल को मंत्रिमंडल बनाने का अवसर दिया गया था।

सरकार प्रारम्भ से ही अल्पमत में थी और विधान मंडल में अविश्वास के प्रस्ताव पर स्पीकर के मत से विजयी हुई थी। कोई भी लोकतान्त्रिक सरकार स्पीकर के मत से अपना बहुमत नहीं कायम रख सकती हैं। स्पीकर एक गैरराजनीतिक व्यक्ति होता हैं और उसके निर्णायक मत को सदन में किसी महत्वपूर्ण विषय पर विवाद को समाप्त करने के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है, सरकार के बहुमत सिद्ध करने के लिए नहीं। इस प्रकार असम में गोगाई के नेतृत्व में कांग्रेस दल के मंत्रिमंडल को पदासीन किया गया था जो 65 दिन तक अपने पद पर रहा। ऐसे समय में जब असम में जन–आन्दोलन के कारण गम्भीर समस्या व्याप्त थी, मंत्रि मंडल बनाने में शतरंजी मोहरों की आवश्यकता थी। इन दो राज्यों में स्थायी वैकल्पिक सरकार के बनने की सम्भावना न होने पर भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।

9. सन् 1983 में दो राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया– पाण्डिचेरी और पंजाब। पाण्डिचेरी में 1980 में चुनाव हुए और किसी भी पार्टी को बहुमत न मिलने पर डी.एम. के. और कांग्रेस(इ) ने मिलकर सरकार बनाई। किन्तु बाद में कांग्रेस के इस संयुक्त सरकार से बाहर निकल जाने पर उप राज्यपाल ने रिपोर्ट की कि कोई भी दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं हैं, अतः राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाए। 30 सदस्यीय सदन में डी.एम.के. 13, कांग्रेस के 10, जनता पार्टी के 3 सदस्य थे। डी.एम.के.को जनता पार्टी का समर्थन मिल गया, किन्तु उप–राज्यपाल ने उसे नहीं माना। पंजाब में 6 अक्टूबर, 1983 को अकाली आन्दोलन से निबटने के लिए उपराष्ट्रपति शासन लागू किया गया। राज्य की कांग्रेस सरकार अकाली आन्दोलन को कुचलने में असमर्थ हो गई थी। पंजाब में 6 अक्टूबर, 1983 को लागू हुए राष्ट्रपति शासन को 5 अप्रैल, 1984 के बाद 6 महीने की अवधि के लिए बढ़ाया गया और स्थिति अनिश्चित बनी रहने पर राष्ट्रपति शासन 6 अक्टूबर 1984 से और 6 महीने की अवधि के लिए बढ़ाया गया जिसे बाद में इस अवधि को बढ़ाकर दिया गया। अवधि समाप्त होने पर पंजाब में 25 सितम्बर, 1985 को चुनाव कराना निश्चित किया गया। इस चुनाव में अकाली दल (लोगोंवाल) को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ।

10. 25 मई, 1984 को सिक्किम राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया ओर राज्य विधानसभा भंग की गई। चूंकि राज्य में वातावरण काफी बोझिल बना रहा और कुछ दूरगामी निहितार्थो वाले आधारभूत मामलों का समाधान करना था, इसलिए 25 नवम्बर 1984 से अग्र छः महीने की अवधि के लिए राष्ट्रपति शासन को बढ़ाया गया। मार्च, 1985 में विधानसभा चुनावों के बाद सिक्किम में राष्ट्रपति शासन समाप्त होकर, नरबहादुर भंडारी के नेतृत्व में लोकप्रिय सरकार की स्थापना हुई।

11. 11 मई, 1987 को पंजाब में सुरजीतसिंह बरनाला के नेतृत्व वाली अकाली दल की सरकार को बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। राज्य में आतंकवादी गतिविधियों से हिंसा के ताण्डव का दौर प्रारम्भ हो गया था। अतः शांति और व्यवस्था के नाम पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। अकाली दल ने इस निर्णय की आलोचना की।

राज्य में पाँच वर्ष के लगभग अविराम रूप से राष्ट्रपति शासन लागू रहा। सन् 1992 में राज्य से राष्ट्रपति शासन को समाप्त किया गया।

12. 30 जनवरी, 1988 को तमिलनाडू के राज्यपाल सुन्दर लाल खुराना के प्रतिवेदन के आधार पर राज्य में विधानसभा को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। यह कार्य मुख्यमंत्री श्रीमती जानकी रामचन्द्रन के नेतृत्व वाली अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक की सरकार को बर्खास्त करके किया गया था।

13. अगस्त, 1988 में नागालैण्ड में 13 कांग्रेस (इ) विधायकों के दलों को छोड़ने के कारण होकिशेसेमाका मंत्रि मंडल अल्पमत में आ गया। इसके बाद राज्यपाल जनरल कृष्णराव ने विपक्षी दलों को वैकल्पित सरकार बनाने का अवसर दिए बिना ही राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने ओर राज्य विधान सभा को भंग करने सम्बन्धी अपनी प्रतिवेदन राष्ट्रपति को भेजा। राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर राज्य विधानसभा को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

14. सितम्बर, 1988 में मिजोरम में भी राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हुई। कतिपय विधायकों द्वारा दल से विद्रोह करने के फलस्वरूप मुख्यमंत्री लालडेंगा वाली सरकार को बर्खास्त करते हुए। राज्य विधान सभा को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

सन् 1989 में कर्नाटक में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। कतिपय जनता दल के सदस्यों द्वारा दलबदल करने के कारण मुख्यमंत्री एम.आर.बसेम्मई के नेतृत्व वाला मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया। इस पर विपक्षी दल के रूप में कांग्रेस (इ) ने राज्यपाल से इस सरकार को बर्खास्त करने की मांग की। दूसरी तरफ मुख्यमंत्री एस.आर.बोम्मई ने राज्यपाल से यह अनुरोध किया कि उन्हें राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त है।, और इसके लिए वे राज्य विधानसभा का सत्र बुलाने को तैयार है। मुख्यमंत्री का यह भी तर्क था कि जिन विधायकों ने उनके मंत्रिमंडल से समर्थन वापस लिया था, उन्होंने पुनः लिखित रूप में उन्हें अपना समर्थन दे दिया हैं। इससे राज्य में अनिश्चितता का वातावरण व्याप्त हो गया।

दूसरी ओर, राष्ट्रीय स्तर पर जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे के नेताओं ने राष्ट्रपति आर.बैंकटरमण से मुलाकात करके उनसे यह अनुरोध किया कि वे केन्द्र सरकार की राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की किसी भी कार्यवाही को अपनी स्वीकृति नहीं दें। राज्य के राज्यपाल पी. बैकट सुब्बया ने राष्ट्रपति को भेजे गये प्रतिवेदन में कहा कि राज्य में संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार शासन चलाना संभव नहीं रहा हैं। केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राज्यपाल की सिफारिशों को स्वीकार करते

हुए बोम्मई मंत्रिमंडल को बर्खास्त करते हुए राज्य विधानमंडल को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया।

केवल कांग्रेस (इ) ने ही राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय का समर्थन किया। अन्य सभी राजनीतिक दलों ने इस निर्णय की तीव्र आलोचना और निंदा की। विपक्षी दलों द्वारा कर्नाटक की इस घटना के विरोध में देशव्यापी विरोध दिवस मनाया गया। कर्नाटक में अनेक स्थानों पर हिंसक घटनाएं घटित हुई। राज्यपाल वैंकटसुब्बया को तीव्र आलोचना और निन्दा का पात्र बनना पड़ा।

16. सन् 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार द्वारा कर्नाटक में वीरेन्द्र पाटिल के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) सरकार को बर्खास्त करते हुए, राज्य विधानसभा को निलम्बित कर राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय भी व्यापक आलोचना का विषय बना। केन्द्र सरकार और राज्यपाल भानुप्रताप सिंह द्वारा कांग्रेस (इ) की आन्तरिक राजनीति का लाभ उठा कर राज्य को राष्ट्रपति शासन के हवाले कर देने की तीव्र आलोचना हुई।

राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय का कांग्रेस (इ) और भारतीय जनता पार्टी ने विरोध किया। उन्होंने इस कार्य को "अलोकतांत्रिक और संविधान–विरोधी" बताया। कांग्रेस (इ) ने संसद के दोनों सदनों में कर्नाटक की घटना की तीव्र आलोचना करते हुए इसे "लोकतंत्र–विरोधी" करार दिया। इस बीच कर्नाटक में राजनीतिक घटनाऐं बहुत तेजी से घूमती गई। अधिसंख्यक कांग्रेस (इ) विधायक वीरेन्द्र पाटिल शिविर को छोड़कर उनके स्थान पर निर्वाचित हुये नए नेता एस.बंगारप्पा के शिविर में जा मिले। अंत में, राज्यपाल ने कांग्रेस (इ) विधानमण्डलीय दल के नेता एस0बंगारप्पा को मंत्रि मंडल के लिए आमंत्रित किया। एस.बंगारप्पा के मुख्यमंत्री बनने के साथ ही राज्य में राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया।

17. सन् 1990 में प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्ववाली राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने जम्मू–कश्मीर के राज्यपाल पद पर जगमोहन को नियुक्त किया। इस नियुक्ति के विरोध में डा. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेस और कांग्रेस (इ) सरकार ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद राज्य में राज्यपाल शासन लागू करने की घोषणा की। राज्य विधानसभा को भंग करने तथा राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय लिया। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के अलावा और कोई विकल्प ही नहीं रह गया था।

18. नवम्बर, 1990 में केन्द्र में कांग्रेस (इ) के समर्थन से चन्द्रशेखर के प्रधानमंत्री पद पर सत्तारुढ़ होने के साथ ही तमिलनाडू और असम की राष्ट्रीय मोर्चे की सरकारों के भविष्य

के आगे संकट खड़ हो गया। इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा अपने वक्तव्यों में बराबर यह चेतावनी दी जाती रही कि अगर उनकी सरकारों को बर्खास्त करने का प्रयत्न किया गया तो इसके गंभीर परिणाम निकलेंगे।

दूसरी तरफ तमिलनाडू में कु0 जयललिता के नेतृत्व में अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक और प्रदेश कांग्रेस (इ) के नेताओं द्वारा राज्य में मुख्यमंत्री एम.करूणानिधि की सरकार को बर्खास्त कर के राष्ट्रपति शासन लागू करने की निरन्तर मांग की जाती रही। अंत में, नवम्बर 1990, में राष्ट्रपति की एक उद्‌घोषणा के माध्यम से करूणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक सरकार को बर्खास्त करते हुए राज्य विधानसभा को भंग कर दिया गया। केन्द्र द्वारा राज्य में कानून और व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति के आधार पर इस सरकार को बर्खास्त करने का तर्क दिया गया। जहां कांग्रेस (इ) और अन्ना–द्रमुक ने केन्द्र के इस निर्णय का स्वागत किया, वहां राष्ट्रीय मोर्चे और वामपंथी दलों ने इस निर्णय की कटू आलोचना की।

यहां यह उल्लेखनीय हैं कि राज्य के राज्यपाल सुरजीतसिंह बरनाला ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के संबंध में कोई प्रतिवेदन राष्ट्रपति को प्रेषित नहीं किया था बल्कि राज्यपाल का तो यही कहना था कि राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति ठीक नहीं थी। राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय के बाद अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। राष्ट्रपति ने उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। उनके स्थान पर भीष्मनारायण सिंह को राज्यपाल पद पर नियुक्ति किया गया।

द्रमुक के अध्यक्ष और बर्खास्त मुख्यमंत्री एम.करूणानिधि का कहना था कि उनकी सरकार को बर्खास्त करना पूर्णतया "असंवैधानिक कृत्य था" क्योंकि उन्हें राज्य विधानसभा में दो तिहाई बहुमत का समर्थन प्राप्त था।

यहां यह स्मरण रहे कि राज्य में यह दूसरा अवसर था, जबकि एम.करूणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक सरकार को बर्खास्त किया गया। इस बार भी करूणानिधि मुख्यमंत्री के रूप में अपना कांर्यकाल पूरा नहीं कर सकें।

जून, 1991 में लोकसभा चुनाव के साथ ही राज्य विधान सभा के चुनाव भी सम्पन्न हुए। इस चुनाव में द्रमुक का पूरी तरह सफाया हो गया। लोकसभा के 39 स्थानों में से द्रमुक को एक भी स्थान प्राप्त नहीं हो सका। अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक की नेता कु0 जयललिता के नेतृत्व में अखिल भारतीय अन्ना–द्रमुक और कांग्रेस (इ) के गठबंधन ने लोकसभा के सभी 39 स्थानों पर भारीमतो से विजय प्राप्त की। द्रमुक और उसके गठबंधन के सदस्य भारी मतों के अन्तर

से पराजित हुये।

राज्य विधानसभा में भी द्रमुक को भारी और लगभग पूर्ण पराजय का सामना करना पड़ा। पूर्व मुख्यमंत्री एम.करूणानिधि भी अत्यल्प बहुमत से मद्रास से अपनी सीट बचाने में सफल रहे। उनके अतिरिक्त द्रमुक के सभी महत्वपूर्ण नेता पराजित हुए। द्रमुक राज्य विधानसभा में अपनी संख्या दो अंकों तक भी पार नहीं कर सका। अपने दल की पराजय का नैतिक दायित्व अपने पर लेते हुए एम.करूणानिधि ने राज्य विधानसभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इस चुनाव में कु0 जयललिता के नेतृत्व में अखिल भारतीय अन्ना–द्रमुक और कांग्रेस (इ) गठबंधन की पूर्ण विजय हुई। अकेले ही अखिल भारतीय अन्ना–द्रमुक को दो–तिहाई से भी अधिक बहुमत प्राप्त हुआ। कु0 जयललिता के नेतृत्व में अखिल भारतीय अन्ना–द्रमुक मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ।

19. सन् 1990 में ही प्रधानमंत्री चंद्रशेखर के नेतृत्व वाली केन्द्र सरकार ने प्रफुल्ल कुमार महन्त के नेतृत्व में असम–गण परिषद की सरकार को भी शांति और व्यवस्था के नाम पर बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू करते हुए असम राज्य विधानसभा को भंग कर दिया गया।

केन्द्र सरकार का तर्क था कि राज्य में ''उल्फा'' संगठन की आतंकवादी गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति निरन्तर खराब हो रही थी। राज्य सरकार कानून और व्यवस्था को कायम रखने में असफल रही। इसीलिए केन्द्र को यह कदम उठाना पड़ा। कांग्रेस (इ) जनता (समाजवादी) दल और भारतीय जनता पार्टी ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय का स्वागत किया।

इसके विपरीत असम गण–परिषद जनता दल, तेलगूदेशम, अकाली दल, मार्क्सवादी साम्यवादी दल और भारतीय साम्यवादी दल ने इस निर्णय का विरोध करते हुये इसकी कटु शब्दों में आलोचना की। इन दलों का तर्क था कि तमिलनाडू की ही तरह यहां भी केन्द्र की अल्पमतीय चन्द्रशेखर सरकार ने कांग्रेस (इ) के दबाव में आकर बहुमत वाली असम–गण परिषद की सरकार को बर्खास्त किया हैं। उन्होंने इस निर्णय को अलोकतांत्रिक बताया।

मई–जून, 1991 में लोकसभा के चुनावों के साथ ही राज्य विधासभा के भी चुनाव संपन्न हुए। कांग्रेस (इ) दल ने पूर्व मुख्यमंत्री हितेश्वर सैकिया को विधिवत रूप से नेता निर्वाचित किया। हितेश्वर सैकिया के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) मंत्रि मण्डल सत्ता में आया। इसके साथ ही राज्य में गैर कांग्रेस राजनीति का पटाक्षेप हो गया।

20. सन् 1991 में हरियाणा में मुख्यमंत्री ओमप्रकाश चौटाला के नेतृत्व वाले मंत्रिमण्डल

को बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। राज्य विधानसभा को विघटित कर दिया गया। जब चौटाला तीसरी बार मुख्यमंत्री बने तो कतिपय मंत्रियों और जनता (समाजवादी) दल के विधायकों ने उनके विरूद्ध विद्रोह करते हुए उन्हें समर्थन देना बंद कर दिया। इससे राज्य विधानसभा में वे अल्पमत में आ गये। इस पर राज्यपाल धनिकलाल मंडल ने मुख्यमंत्री चौटाला को राज्य विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का निर्देष दिया, जिसकी मुख्यमंत्री ने अवहेलना कर दी। इंस पर राज्यपाल ने केन्द्र सरकार को भेजे गये अपने प्रतिवेदन में मुख्यमंत्री को बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू की सिफारिश की।

इस घटनाक्रम में केन्द्रीय सरकार के निर्णय पर पूरे देश की नजरें लगी हुई थी। यह एक सर्वविदित तथ्य था कि चन्द्रशेखर को प्रधानमंत्री बनवाने में ओमप्रकाश चौटाला की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। इतना ही नहीं मुख्यमंत्री के पिता चौधरी देवीलाल उपप्रधानमंत्री के रूप में कार्य कर रहे थे। अतः यह आशंका बराबर बनी हुई थी कि केन्द्र सरकार राज्यपाल के प्रतिवेदन का सम्मान करेंगी अथवा नहीं? दूसरी तरफ प्रधानमंत्री अपने वक्तव्यों में यही कहते रहे कि राज्यपाल के प्रतिवेदन का पूरा सम्मान किया जायेगा। प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर की अध्यक्षता में केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राज्यपाल की सिफारिशों का सम्मान करते हुए चौटाला मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय लिया। केन्द्रीय मंत्रिमंडल के निर्णय के बाद राष्ट्रपति आर.बैंकटरमण ने चौटाला मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने संबंधी उद्घोषणा जारी की। राज्य विधानवभा को भंग कर दिया गया।

मुख्यमंत्री ओमप्रकाश चौटाला को बर्खास्त किये जाने के निर्णय का सभी पक्षों ने स्वागत किया। कांग्रेस (इ) भारतीय जनता पार्टी और चौधरी बंशीलाल के नेतृत्व वाली हरियाणा विकास मंच ने केन्द्र के इस निर्णय का स्वागत करते हुए कहा कि राज्य की जनता को चौटालाशाही से राहत मिलेगी।

दूसरी, ओर अपदस्थ मुख्यमंत्री ओमप्रकाश चौटाला का कहना था कि वे पार्टी के अनुशासित सिपाही के रूप में इस निर्णय को स्वीकार करते हैं।

मई 1991 में राष्ट्रपति शासन की अवधि में ही लोकसभा चुनावों के साथ–साथ राज्य विधानसभा के निर्वाचन भी सम्पन्न हुआ।

चुनाव परिणाम सर्वथा प्रत्याशित ही रहे। 90 सदस्यीय राज्य विधानसभा में कांग्रेस (इ) ने 51 स्थान प्राप्त करके पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। देवीलाल के नेतृत्व वाले जनता (समाजवादी) दल को केवल 16 स्थान ही प्राप्त हुए। चौधरी बंसी लाल के नेतृत्व वाले हरियााणा विकास पार्टी को

तीसरा स्थान प्राप्त हुआ। जनता के इस निर्णय ने चौटाला मंत्रि मंडल को बर्खास्तगी के औचित्य को सही सिद्ध कर दिया।

कांग्रेस (इ) विधानमंडलीय दल ने पूर्व मुख्यमंत्री भजनलाल को सर्वसम्मति से अपना नेता निर्वाचित किया, इस पर राज्यपाल धनिकलाल मंडल नें उन्हें मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई। भजनलाल तीसरी बार राज्य के मुख्यमंत्री बने।

21. सन् 1991 में नागालैण्ड में भी राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना। राज्यपाल एम.एम.थॉमस ने मुख्यमंत्री वामुजो की सलाह पर विधानसभा को भंग करते हुए उन्हें काम चलाऊ मुख्यमंत्री के रूप में कार्य करने की अनुमति दी। स्थानीय कांग्रेस (इ) नेताओं ने राज्यपाल के इस निर्णय की कड़ी आलोचना की। केन्द्र सरकार द्वारा राज्यपाल द्वारा इस संबंध में लिये गये स्वतंत्र निर्णय के प्रति क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि राज्यपाल थॉमस ने वामुजो को काम चलाऊ मुख्यमंत्री के रूप में कार्य करने का अनुमति देने के पूर्व केन्द्र सरकार से आवश्यक परामर्श नहीं किया था। इस पर राष्ट्रपति ने राज्यपाल थॉमस को बर्खास्त कर दिया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। वामुजो को चुनाव तक काम चलाऊ मंत्रिमंडल के रूप में कार्य नहीं करने दिया। सन् 1993 में राज्य विधान सभा के चुनाव में कांग्रेस (इ) को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। परिणाम स्वरूप राज्य में एम.सी. जमीर के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ।

22. 11 अक्टूबर 1991 को मेघालय के राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करते हुए राज्य विधानसभा को निलम्बित कर दिया। राष्ट्रपति शासन लागू करने के समय लिंगदोह के नेतृत्व में एक संविद सरकार सत्तारूढ़ थी। बाद में राज्य विधानसभा को भंग कर दिया गया। सन 1993 में राज्य विधानसभा के निर्वाचन हुए, और राज्य में कांग्रेस (इ) के नेतृत्व वाला मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ।

23. 6 दिसम्बर, 1992 को उत्तरप्रदेश में कल्याण सिंह के नेतृत्व वाला भारतीय जनता पार्टी के मंत्रिमंडल को बर्खास्त करते हुए राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। राज्य विधानसभा को भंग कर दिया गया। दूसरी ओर निवर्तमान मुख्यमंत्री का कहना था कि "अयोध्या की घटनाओं" का नैतिकदायित्व लेते हुए मुख्यमंत्री ने राज्यपाल को अपनी मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र भेज दिया था।

24. 6 दिसम्बर, 1992 के अयोध्या प्रकरण ने भारतीय जनता पार्टी शासित शेष तीनों राज्य सरकारों के भविष्य के आगे प्रश्न चिन्ह लगा दिया। कांग्रेस (इ) द्वारा राष्ट्रपति शासन लागू करने की मांग की जाने लगी। प्रधानमंत्री पी.वी.नरसिम्हाराव पर भारतीय जनता पार्टी शासित राज्य

सरकारों को बर्खास्त करने का जबर्दस्त दबाव था। अन्त में 15 दिसम्बर, 1992 को राजस्थान में भैरों सिंह सेखावत, मध्य प्रदेश में सुन्दरलाल पटवा और हिमांचल प्रदेश में शांताकुमार ने नेतृत्व वाली भारतीय जनता पार्टी की राज्य सरकारों को बर्खास्त कर दिया गया। तीनों ही राज्यों की विधानसभाओं को भंग करते हुए राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। इसके साथ ही भारतीय जनता पार्टी की सभी चारों राज्यों में सत्ता समाप्त हो गई। केन्द्र के इस निर्णय का भारतीय जनता पार्टी और तेलगुदेशम ने कड़ा विरोध किया। दूसरी ओर कांग्रेस (इ) वामपंथी, दलों, राष्ट्रीय मोर्चे तथा मुस्लिम लींग ने इस निर्णय का समर्थन किया।

25. फरवरी, 1993 में त्रिपुरा में राज्य विधानसभा को भंग कर के राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इसके बाद राज्य विधानसभा के निर्वाचन संपन्न हुआ। इस निर्वाचन में वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चे को बहुमत प्रापत हुआ। मार्क्सवादी साम्यवादी दल के नेता दशरथ देव के नेतृत्व में वामपंथी लोकतांत्रिक मोर्चे का मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ हुआ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि अनेक अवसरों पर केन्द्र में सत्तारूढ़ सभी दलों की सरकारों ने अपने दलीय हितों की पूर्ति करने में अनुच्छेद 356 का खुला उपयोग किया है। इसके कारण राज्यपालों को भी व्यापक निन्दा और आलोचना का पात्र बनना पड़ा इतना ही नहीं अनेक बार इस पद को ही समाप्त किये जाने की मांग भी उठाई जाती रही। लेकिन यह एक अतिवादी दृष्टिकोण हें। संविधान निर्माताओं का मन्तव्य इस अनुच्छेद के माध्यम से राज्यों में अस्थिर शासन से संसदीय व्यवस्था की सुरक्षा करने के लिए केन्द्रीय हस्तक्षेप को औचित्यता प्रदान करना था। वर्तमान समय में भी अनुच्छेद 356 को बनाये रखने के ठोस कारण विद्यमान हैं। आवश्यकता इस बात की हैं कि इसका दुरूपयोग नहीं किया जाये। इस संबंध में राज्यों में व्याप्त इस धारणा के भय का अन्त करना आवश्यक हैं कि केन्द्र सरकार इस अनुच्छेद का सहारा लेकर प्रायः उनका दमन करती रहती हैं।

अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग को रोकने के संबंध में राजामन्नार समिति, और सरकारिया आयोग ने महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। इनमें सरकारिया आयोग की सिफारिशें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आयोग का कहना था कि अपवाद रूप में ही अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया जाना चाहिऐ।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 356 संविधान का एक ऐसा विवादास्पद अनुच्छेद रहा है जो लम्बे समय से भारतीय संघात्मक व्यवस्था को उद्वेलित करता रहा है।

3– राज्यपाल की भूमिका

समय समय पर राज्यपालों की भूमिका विवादास्पद रही है। उसका प्रमुख कारण राज्यपाल को प्राप्त स्वविवेकीय शक्तियां हैं।

राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के निम्नलिखित दो रूप हैं।

1. संविधान–प्रदत्त स्वविवेकीय शक्तियां,
2. परिस्थितिजन्य स्वविवेकीय शक्तियां

संविधान प्रदत्त स्वविवेकीय शक्तियां :-

इसका अभिप्राय उन शक्तियों से हैं जिनके प्रयोग के सम्बन्ध में राज्यपाल को स्वविवेक से निर्णय लेने का अधिकार संविधान द्वारा ही दे दिया गया हैं। यह संविधान के अनुच्छेद 163(1) –तथा (2) की शब्दावली से स्वयं स्पष्ट हैं–

अनुच्छेद 163(1) – "जिन बातों में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती हैं कि वह अपने कृत्यों अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करे, उन बातों को छोड़कर राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा।

अनुच्छेद 163(2) – यदि कोई प्रश्न उठता हैं कि कोई विषय ऐसा हैं कि जिसके सम्बन्ध में, इस संविधान के द्वारा या अधीन राज्यपाल से अपेक्षित हैं कि स्वविवेक से कार्य करे तो राज्यपाल का स्वविवेक से किया हुआ विनिश्चय अन्तिम होगा तथा राजयपाल द्वारा की गई किसी बात की मान्यता पर इस कारण से कोई आपत्ति नहीं की जाएगी कि उसे स्वविवेक से कार्य करना या न करना चाहिए था।

अनुच्छेद 160 में उल्लेख हैं कि इस अध्याय (संविधान के भाग) (6) का अध्याय

(2) कार्यपालिका सम्बन्धी में उपबन्धन की हुई किसी आकस्मिकता में राज्यपाल के कृत्यों के निर्वहन के लिए राष्ट्रपति ऐसे उपबन्धों, का निर्माण कर सकता है। जिनमें राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के अधिक अवसर मिल सकें।

संविधान द्वारा कुछ विशेष मामलों में और विशेषकर असम के राज्यपाल को स्वविवेकीय अधिकार दिए गए हैं। असम के राज्यपाल का यह विशेषाधिकार हैं कि वह प्रजातीय क्षेत्रों से सम्बन्धित कुछ प्रशासकीय मामलों तथा असम सरकार व स्वायत्ता जिला–परिषद के बीच खनिज सम्पतित संबंधी विवादो के बारे में स्वविवेक से निर्णय करे। विद्रोही एवं भूमिगत नागाओं से निपटने के लिए नागालैण्ड के राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग की शक्ति हैं, तो सिक्किम के राज्यपाल को वहां के सभी क्षेत्रों के लोगों के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए समुचित प्रबन्ध की दृष्टि से विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए हैं।

परिस्थितिजन्य स्वविवेकीय शक्तियां :

इसका अभिप्रय यह है कि राज्यपाल को कुछ स्वविवेकीय शक्तियां कुछ परिस्थितियों – विशेष में ही प्राप्त होती हैं। ये विशेष परिस्थितियां तब उत्पन्न हो सकती हैं जब–

1. किसी एक दल को विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो।
2. संयुक्त सरकार का गठन हो और आपसी फूट के कारण शासन का सुचारू संचालन कठिनाई में पड़ रहा है।
3. दल–बदल के कारण सरकार के अस्तित्व को खतरा पैदा हो जाए।
4. राज्य में शान्ति और व्यवस्था को खतरा पैदा हो गया हो या उसकी सम्भावना हो।
5. मंत्रिमंडल में विधानसभा के अविश्वास की स्थिति पैदा हो गई हो आदि।

राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के अवसरों को डॉ.एम.वी.पायली ने निम्नानुसार गिनाया है–

1. मंत्रिपरिषद की स्थापना से पूर्व मुख्यमंत्री का चुनाव।
2. मंत्रिमंडल को पदच्युत करना
3. विधानसभा का विघटन करना।
4. मुख्यमंत्री से प्रशासनिक तथा विधायी कार्यो के सम्बन्ध में सूचना माँगना।
5. किसी एक मंत्री द्वारा किए गए निर्णय (जिस पर मंत्रि परिषद ने विचार न किया हो) को मंत्रि परिषद के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत करने के लिए मुख्यमंत्री को आदेश देना।
6. विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकृति न देकर उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देना।
7. राज्य विधान–मण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजना।

8. किसी अध्यादेश को प्रख्यात करने से पूर्व राष्ट्रपति के अनुदेश की याचना करना।

9. राष्ट्रपति को आपात घोषणा करने का परामर्श देना तथा

10. असम तथा अन्य पूर्ववर्ती राज्यों के राज्यपाल के लिए आदिम जाति क्षेत्रों की कुछ प्रशासनिक समस्याओं का हल करना, असम राज्य (स्वायत्तशासी) क्षेत्र की जिला–परिषदों के खनिज स्वामित्व सम्बन्धी विवादों का निर्णय''। उपर्युक्त परिस्थितियों में राज्यपाल को अपनी शक्ति और भूमिका प्रदर्शन करने का सुनहरा अवसर प्राप्त हो जाता हैं। ऐसी स्थिति में राज्यपाल वास्तविक शासक के रूप में आचरण करता हैं। राज्यपाल की भूमिका से जिस पक्ष को राजनीतिक नुकसान उठाना पड़ता है, वह उसका कटु आलोचक बन जाता है। अपनी इन स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के कारण ही राज्यपालों को आलोचना का पात्र बनाना पड़ता हैं।

कतिपय उदाहरण :

राज्यपाल द्वारा स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) राज्यों में संविधानिक तन्त्र की विफलता के बारे में स्वविवेक से निर्णय लेते हुए राज्यपाल ने समय–समय पर राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजा और फलस्वरूप राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। पहला प्रतिवेदन पंजाब से 1951 में गया। 1952 में पेप्सू राज्य में, 1954 में आन्ध्रप्रदेश में, 1961 में उड़ीसा में, 1967 में राजस्थान में, और तत्पश्चात, पश्चिम बंगाल बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश हरियाणा, पंजाब, कर्नाटक और गुजरात राज्य में जो संकटकालीन घोषणा लागू की गई वह मुख्यतः राजनीतिक अस्थिरता के कारण ही की गई और राष्ट्रपति द्वारा की गई इन घोषणाओं का आधार प्रमुख रूप से राजयपाल का प्रतिवेदन ही था। शिरोमणि अकाली दल के आन्दोलन तथा उग्रवादी तत्वों की गतिविधियों से पंजाब में संवैधानिक तन्त्र की विफलता सम्बन्धी राज्यपाल के प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात पंजाब में 6 अक्टूबर, 1983 से राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 11 मई, 1987 को पंजाब में पुनः राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 30 जनवरी, 1988 को तमिलनाडू में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। अगस्त 1988 में नागालैण्ड में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। सितम्बर, 1988 में मिजोरम में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1991 में हरियाणा नागालैण्ड और मेघालय में भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। सन 1992 में उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमांचल प्रदेश में तथा 1993 में त्रिपुरा में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

(ख) 1967 के चौथे आम चुनाव के बाद राज्यों में ऐसी स्थितियां बनी कि मुख्य मंत्री की नियुक्ति में राज्यपालों को स्वविवेक के प्रयोग के अवसर मिले। किन्ही सर्वाधिक स्थान प्राप्त दल के नेता को पहले मुख्यमंत्री बनने के लिए आमन्त्रित किया गया, जैसे राजस्थान में मोहनलाल सुखाड़िया को, तो कही मिलेजुले दलों के नेता को, जैसे पश्चिमी बंगाल में अजयकुमार

मुखर्जी और बिहार में माया प्रसाद सिन्हा को। राज्यपालों का प्रयत्न यह रहा है कि ऐसे नेता के नेतृत्व में सरकार गठित हो जाए जो स्थायी शासन दे सके। कुछ परिस्थितियों में दल–बदलू नेता को भी मुख्यमंत्री बनाया गया जैसे पश्चिमी बंगाल में राज्यपाल धर्मवीर द्वारा पी.सी.घोष को, पंजाब में लक्ष्मणसिंह गिल और बिहार में विंध्येश्वरी प्रसाद मण्डल को मुख्यमंत्री पद देना है।

यदि राज्य विधानसभा में चुनावों में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है। तब स्व–विवेकाधिकार के प्रयोग की बात नहीं उठती क्योंकि राज्यपाल को बहुमत दलीय नेता को ही मुख्यमंत्री नियुक्त करना पड़ता है। लेकिन एक दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में अनेक प्रकार की स्थितियां उत्पन्न हो जाती है और राज्यपाल की विवेक शक्ति का विस्तार हो जाता हैं।

(ग) मंत्रिमंडल बनाने के लिए समय का निश्चय करने में भी राजयपाल द्वारा स्वविवेक की शक्ति के प्रयोग के उदाहरण हैं। 23 नवम्बर, 1967 को पंजाब के मुख्यमंत्री सरदार गुरनाम सिंह ने त्याग–पत्र दे दिया और राज्यपाल ने उन्हें दो दिन का समय पुनः मंत्रिमंडल के निर्माण के लिए दिया। इसी बीच राज्यपाल कहां बाहर चले गये और वहां से लौटकर 26 नवम्बर को उन्होंने लक्ष्मणसिंह गिल को मुख्यमंत्री बनने के लिए आमन्त्रित किया।

(घ) विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल विधानसभा भंग करने के सम्बन्ध में मुख्यमंत्री के परामर्श को मानने से इन्कार कर सकता हैं अथवा मुख्यमंत्री के परामर्श के बिना विधान सभा भंग कर सकता हैं। ऐसे उदाहरण हैं जिनमें इस सम्बन्ध में राज्यपाल ने अपने विवेक का प्रयोग किया हैं। सन् 1953 में ट्रावनकोर कोचीन में पराजित मंत्रिमंडल ने राज्यपाल को विधानसभा भंग करने की सलाह दी लेकिन राज्यपाल ने अस्वीकार कर दिया। 1969 में सरंगगढ़ के राजा नरेशचन्द्र सिंह लगभग एक सप्ताह तक मध्यप्रदेश में मुख्यमंत्री रहे। इस बीच उनका बहुमत समाप्त हो गया। उन्होंने त्यागपत्र देकर विधानसभा भंग करने की मांग की जिसे राज्यपाल ने नहीं माना। सन् 1984 में जम्मू–कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन ने फारूक अब्दुल्ला मंत्रिमंडल की सिफारिश को अस्वीकार कर दिया था।

वास्तव में राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों के प्रयोग की कोई एकदम सुनिश्चित सीमा या परिभाषा कठिन हैं और न ही राज्यपाल के स्वविवेकाधिकार निरपेक्षित हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में राज्यपाल की स्थिति का तर्क संगत मूल्यांकन डा.एम.वी.पायली ने किया हैं।

निरपेक्ष स्वविवेक निरंकुशता का प्रतीक हैं। लोकतन्त्रात्मक संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल किसी परिस्थिति में भी निरंकुश नहीं हो सका। उसका स्वविवेक शक्ति पर कौन सा अंकुश हैं? राज्य मंत्रिपरिषद अथवा राज्य विधान मंडल इस सम्बन्ध में उस पर कोई रोक नहीं लगा सकते,

किन्तु राष्ट्रपति इस सम्बन्ध में राज्यपाल को नियन्त्रित कर सकता हैं। इससे यह स्पष्ट हैं कि राज्यपाल अपने स्वविवेकाधिकार के प्रयोग में नितान्त स्वतंत्र नहीं हैं। यदि वह इस अधिकार का प्रयोग निजी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए या राज्य की राजनीतिक उथल–पुथल में एक पक्ष दोषी के रूप में कार्य करता हैं तो राष्ट्रपति उसका विरोध कर सकता हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे पदच्युत भी कर सकता हैं। अन्तिम विश्लेषण से यह स्पष्ट होता जाता हैं। कि सामान्य अथवा असामान्य परिस्थितियों में, राज्यपाल अपने स्वविवेकाधिकार के प्रयोग में स्वतंत्र नहीं है। अपने सामान्य कृत्यों की निष्प्रति के लिए वह मंत्रि परिषद के परामर्श एवं मंत्रणा से कार्य करता हैं। जब तक मंत्रि परिषद को राज्य विधान मंडल का विश्वास प्राप्त हैं तब तक वह मंत्रिमंडल के परामर्श पर अपने स्वविवेक से कार्य नहीं ले सकता। असामान्य परिस्थितियों में जैसे कि युद्ध अथवा आन्तरिक अशान्ति या राज्य में संविधानिक राजतन्त्र की विफलता इत्यादि में राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में कार्य करेगा। यह सत्य हैं कि असामान्य परिस्थितियों में वास्तविक सत्ता प्राप्त होती हैं जबकि सामान्यतः वह नाम मात्र का सत्ताधारी होता हैं।

"इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता हैं कि राज्यपाल के पद में उसके परामर्शदाता के रूप पर अधिक जोर दिया गया हैं। एक ओर वह मंत्रि परिषद के निष्पक्ष परामर्शदाता के रूप में कार्य करता हैं और एक राज्य का अध्यक्ष होने के नाते उसे अधिकार हैं । वह सुविधाजनक तथा प्राधिकार पूर्ण स्थान से राज्य में होने वाले प्रत्येक कार्य को अनासक्त पर्यवेक्षक के रूप में देखता हैं। इस स्थिति से वह राज्य सरकार के गौरव, स्थायित्व तथा सामूहिक दायित्व को बनाए रखता हैं। दूसरी ओर वह राष्ट्रपति का अभिकर्ता तथा उस राज्य से सम्बद्ध कार्यो में उसका परामर्शदाता हैं। वह राज्य में संघ का प्रतिनिधि हैं। वह संघ तथा राज्य को बांधने वाली एक कड़ी तथा संघ–राज्यक सम्बन्धों को विनियमित करने का माध्यम हैं। इस प्रकार वह सांविधानिक व्यवस्था का एक अवाश्यक अंग हैं जो एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति तथा एक आवश्यक सेवा प्रदान करता है। डा. एम.बी.पायली के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि राज्यपालों को अपनी स्व–विवेकीय शक्तियों का प्रयोग करते समय अत्यन्त सावधानी और सतर्कता का परिचय देना चाहिए। ऐसा नहीं होने पर भी आवंछनीय विवाद खड़े होते हैं।

राज्यपालों की भूमिका पर विवाद :

समय–समय पर राज्यपालों की भूमिका विवादास्पद बनी हैं। और उन्हें आलोचना का पात्र बनना पड़ा हैं।

(1) सन 1967 में ही राजस्थान के राज्यपाल डा0 सम्पूर्णानन्द द्वारा विपक्षी दलों के दाबे को अस्वीकार करते हुए कांग्रेस विधानमंडल नेता मोहनलाल सुखड़िया को राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाने के निर्णय की तीव्र आलोचना हुई। विपक्षी दलों ने राज्यपाल के निर्णय के विरोध में राज्य भर में हिंसक प्रदर्शन हुई। गोलियां चली एवं कई हताहत हुऐ।

(2) सन् 1967 में पश्चिमी बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल धर्मवीर द्वारा अजयकुमार मुखर्जी के नेतृत्व वाले संयुक्त मोर्चे के मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और उनके स्थान पर डा0 प्रफुल्ल चन्द्र घोष के नेतृत्व में एक अल्पमतीय सरकार को शपथ दिलाने के निर्णय ने भी पर्याप्त उत्तेजना उत्पन्न की। सम्पूर्ण विपक्ष ने राज्यपाल के कदम की तीव्र भर्त्सना की। डा0 प्रफुल्ल चन्द्र घोष नेतृत्व वाली सरकार भी स्थिर नहीं रह सकी और सन् 1979 में राज्य में मध्यावधि चुनाव सम्पन्न हुए इन चुनावों में अजय कुमार मुखर्जी के नेतृत्व में पुनः संयुक्त मोर्चे को बहुमत प्राप्त हुआ। इस मंत्रिमंडल ने राज्यपाल का जो अभिभाषण तैयार किया, उसमें राज्यपाल धर्मवीर द्वारा संयुक्त मोर्चे मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने के निर्णय के लिए राज्यपाल के उक्त कृत्य की आलोचना की गई। राज्यपाल ने स्वयं द्वारा स्वयं की निंदा करने वाले अभिभाषण के अंशों को पढ़ने से इंकार कर दिया। राज्यपाल के इस कदम की भी विपक्षी दलों ने यह कहकर आलोचना की कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद द्वारा तैयार किये गये अभिभाषण को पूरा पढ़ने के लिये बाध्य हैं। राज्यपाल ने ऐसा नहीं करके गलत आचरण किया हैं। इस प्रकार से राज्यपाल धर्मवीर के आचरण या उनकी भूमिका पर पर्याप्त वाद–विवाद रहा।

(3) सन् 1968 में हरियाणा के राज्यपाल बी..चतुर्वेदी द्वारा राव वीरेन्द्र सिंह के नेतृत्व भले संविद मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय की भी विपक्षी दलों में तीव्र आलोचना की। दूसरी तरफ वास्तविकता तो यह थी कि राज्य में दलबदल या आयाराम–गयाराम की राजनीति को देखते हुए राष्ट्रपति शासन के अलावा कोई विकल्प नहीं नहीं रह गया था। भारतीय संसद में हरियाणा प्रकरण की अनुगूंज हुई। तत्कालीन गृहमंत्री यशवंतराव चव्हाण ने राज्य की राजनीती को आयाराम–गयाराम की राजनीति का नाम दिया।

(4) सन् 1967 कें पश्चात पंजाब के राज्यपाल दादासाहब पावटे द्वारा सरदार गुरनाम सिंह के नेत्त्व वाली संविद सरकार से विद्रोह करने वाले डा0 लक्ष्मण सिंह गिल के नेतृत्व में एक अल्पमतीय सरकार को प्रतिष्ठित करने के निर्णय की भी कटु आलोचना हुई। अकाली दल और भारतीय जनसंघ के नेताओं ने राज्यपाल के इस निर्णय की तीव्र भर्त्सना की।

(5) सन 1967 के बाद बिहार में महामाया प्रसाद सिन्हा की सरकार को अपदस्थ करने के प्रयत्न किये गये। आखिर में बी.पी.मंडल के नेतृत्व में अनेक विधायकों ने इस संविद मंत्रिमंडल से विद्रोह कर दिया। राज्यपाल नित्यानंद कानूनगों ने मंडल के नेतृत्व में राज्य में पूर्णरूपेण "दल बदलुओं" के मंत्रिमंडल को शपथ दिलाई। राज्यपाल का यह निर्णय भी आलोचना का विषय बना।

(6) सन 1967 के पश्चात मध्यप्रदेश के राज्यपाल के.सी.रेड्डी द्वारा द्वारिका प्रसाद मिश्र के नेतृत्व वाली कांग्रेस की सरकार के विधानसभा में पराजित मुख्यमंत्री की सलाह पर विधानसभा को भंग करने के स्थान पर दलबदलुओं को सत्ता में प्रतिष्ठित अर्थात गोविन्दनारायण

सिंह के नेतृत्व में विपक्षी दलों का संविद मंत्रिमंडल सत्तारूढ़ करने के निर्णय की भी कांग्रेस ने कटु आलोचना की।

(7) सन 1970 में उत्तरप्रदेश में चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल को जिस नाटकीय ढंग से बर्खास्त करते हुए राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, उसके लिए राज्यपाल बी0 गोपाल रेड्डी को भारी आलोचना का पात्र बनना पड़ा उस समय तत्कालीन राष्ट्रपति बी.बी.गिरि सोवियत संघ की यात्रा पर थे। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की उद्घोषणा पर राष्ट्रपति से सोवियत संघ में हस्ताक्षर कराये गयें। विपक्षी दलों ने न केवल राज्यपाल के कृत्य की ही आलोचना की, अपितु राष्ट्रपति बी.बी.गिरि के आचरण की भी भर्त्सना हुई कि उन्होंने विदेशी भूमि पर ही राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की उद्घोषणा पर हस्ताक्षर कर दिये।

(8) सन 1975 में तमिलनाडू के राज्यपाल के.के.शाह के प्रतिवेदन के आधार पर एम.करूणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक सरकार को भ्रष्टाचार के आरोपों में बर्खास्त करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय की भी तीव्र आलोचना हुई। एम.करूणानिधि के नेतृत्व वाली इस द्रमुक सरकार को राज्य विधानसभा में पूर्ण बहुमत का समर्थन प्राप्त था। यह सरकार विधान सभा में पूर्ण बहुमत का समर्थन प्राप्त था। यह सरकार विधानसभा में कभी पराजित भी नहीं हुई थी। द्रमुक का आरोप था कि केन्द्र सरकार के इशारे पर राज्यपाल ने राज्य मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने का निर्णय लिया। द्रमुक सरकार के विरूद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच करने के लिए जस्टिस सरकारिया के नेतृत्व में जांच आयोग बिठाया गया। लेकिन आरोप साबित न हो पाए।

(9) सन 1978 में कर्नाटक में राज्यपाल गोविन्द नारायण द्वारा देवराज अर्स के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार को बर्खास्त करने तथा राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय की भी तीव्र आलोचना हुई।

(10) सिक्किम में राज्यपाल होमी.जे.एच.तल्यार खान द्वारा नरबहादुर भंडारी के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और बी.बी.गुरू के नेतृत्व में अल्पमतीय सरकार को सत्तारूढ़ करने के निर्णय की भी व्यापक आलोचना हुई।

(11) सन 1983 में हरियाणा के राज्यपाल जी.डी.तपा से द्वारा नाटकीय ढंग से भजनलाल को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाने के निर्णय से देवीलाल के नेतृत्व में विपक्षी दलों के विधायक अत्यंत क्षुब्ध हुए। उन्होंने चण्डीगढ़ में राजभवन में राज्यपाल के विरूद्ध जमकर नारेबाजी की, और उनके प्रति असंसदीय शब्दों तक का प्रयोग किया। राज्यपाल के विरूद्ध राज्य–व्यापी

प्रदर्शन भी आयोजित किये गयें।

(12) सन 1984 में आन्ध्र प्रदेश के राज्यपाल रामलाल द्वारा एन.टी., रामाराव के नेतृत्व वाले तेलगूदेशम मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और नान्देला भास्कर राव के नेतृत्व में अल्पमतीय सरकार मंत्रिमंडल को प्रतिष्ठित करने के निर्णय की भी देशव्यापी निन्दा हुई। मुख्यमंत्री एन.टी.रामाराव को बर्खास्तगी के पूर्व राज्य विधानसभा में स्पष्ट बहुमत का समर्थन प्राप्त था। इस प्रश्न पर सम्पूर्ण विपक्ष ने एकजुटता का परिचय देते हुये राज्यपाल की इस कार्यवाही की संसद और संसद के बाहर भर्त्सना की। विपक्षी दलों का यह स्पष्ट आरोप था कि राज्यपाल ने केन्द्र के संकेत पर रामाराव मंत्रिमंडल को बर्खास्त किया हैं। इसका जोरदार खंडन करते हुये तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी का कहना था कि राज्यपाल की कार्यवाही से केन्द्र सरकार का कोई संबंध नहीं है। राज्यपाल रामलाल को हटाया जाने की जोरदार मांग की जाने लगी। अन्ततोगत्वा, केन्द्र ने रामलाल को राज्यपाल पद से हटा दिया। उनके स्थान पर डा. शंकर दयाल शर्मा को राज्य का राज्यपाल बनाया गया। उन्होंने अपना कार्यभार संभालते ही राज्य में सामान्य स्थिति बहाल करने की दिशा में त्वरित कदम उठाये। भास्करराव को राज्य विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा गया। विधान सभा का सत्र प्रारम्भ हुआ। मुख्यमंत्री भास्करराव ने राज्य विधानसभा में अपनी संभावित पराजय की आशंका को देखते हुए 16 सितम्बर, 1984 को अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके साथ ही राज्य–राजनीति का एक सुखद अध्याय समाप्त हो गया, तथा एन.टी.रामाराव को मुख्यमंत्री बनने का मार्ग प्रशस्त हो गया। राज्यपाल डा0 शंकरदयाल शर्मा ने एन.टी.रामाराव को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई। इस प्रकरण में राज्यपाल रामलाल को जितनी आलोचना, कटुता और निन्दा का सामना करना पड़ा, वह एक ऐतिहासिक घटना हो।

(13) जम्मू–कश्मीर के तत्कालीन राज्यपाल जगमोहन की कार्यवाही ने भी उन्हें आलोचना का पात्र बनाया। सन् 1984 के मुख्यमंत्री फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाले नेशनल कांफ्रेस मंत्रिमंडल के विरूद्ध जी.एम.शाह के नेतृत्व में 12 सदस्यों ने विद्रोह कर दिया। इससे अब्दुल्ला–मंत्रिमंडल का राज्य विधानसभा में बहुमत संदिग्ध बन गया। मुख्यमंत्री डा0 फारूख अब्दुल्ला ने राज्यपाल के सम्मुख राज्यविधान सभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का अनुरोध किया। राज्यपाल ने मुख्य मंत्री के दावे को अस्वीकार करते हुए फारूख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल को बर्खास्त करते हुये जी.एम. शाह को मुख्यमंत्री के रूप में नियुक्त कर दिया यह एक अल्पमतीय मंत्रिमंडल था। कांग्रेस (इ) ने राज्यपाल को शाह–मंत्रिमंडल को समर्थन देने का अपना लिखित आश्वासन दिया। राज्यपाल द्वारा जम्मूकश्मीर जैसे सीमावर्ती और संवेदनशील राज्य में एक अल्पमतीय सरकार की प्रतिष्ठा और राज्य में राजनीतिक उठापटक की इस घटना की सभी विपक्षी दलों ने कटु आलोचना की। नई दिल्ली में विपक्षी दलों के प्रतिनिधित्व ने राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह से मुलाकात करके राज्य में राज्यपाल की कार्यवाही के विरूद्ध उनका ध्यान आकर्षित किया हैं। विपक्षी दलों ने राष्ट्रपति से न्याय की गुहार की। बर्खास्त मुख्यमंत्री डा0 फारूख अब्दुल्ला का आरोप था कि उनके द्वारा राष्ट्रीय राजनीति में गैर–कांग्रेसी दलों का साथ देने के कारण ही उनकी सरकार को बर्खास्त किया गया

उनका यह भी आरोप था कि राज्यपाल ने केन्द्र सरकार के संकेत पर कार्य करते हुये राज्य में एक अल्पमतीय सरकार को प्रतिष्ठित किया हैं। राज्यपाल जगमोहन को भारी आलोचना का शिकार बनना पड़ा।

(14) 11मई, 1987 को पंजाब में शान्ति और व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति और राज्य में आतंकवादी गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन राज्यपाल सिद्धार्थ शंकरराय ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की। केन्द्र सरकार ने राज्यपाल की सिफारिश को स्वीकार करते हुए राज्य विधानसभा को निलम्बित किया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय लिया। सुरजीत सिंह बरनाला के नेतृत्व वाली अकाली दल (लोगोवांल) की सरकार को बर्खास्त कर दिया गया। वामपंथी, दलों, और अकाली दल (लोगोंबाल) ने इस निर्णय की तीव्र आलोचना की।

(15) अगस्त 1988 को नागालैण्ड में कांग्रेस (इ) के 13 सदस्यों ने दल से विद्रोह करके दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इतनी बड़ी संख्या में विधायकों के दल छोड़ने के कारण दल–बदल विरोधी विधेयक भी प्रभावी नहीं होता था। इसके कारण होकिशेसेमा के नेतृत्व वाला कांग्रेस (इ) मंत्रिमंडल अल्पमत में आ गया। इसी बीच विद्रोही कांग्रेसियों ने विपक्ष के साथ मिल कर अपने बहुमत का दावा करते हुए उनके नेता बजोया को नई सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने का अनुरोध किया। राज्यपाल जनरल कृष्णाराव ने विपक्ष के दावे को ठुकराते हुए, केन्द्र को भेजे गऐ अपने प्रतिवेदन में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का अनुरोध किया। केन्द्र सरकार ने राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर राज्य विधान सभा को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय किया। संसद में सभी विपक्षी दलों ने वैकल्पिक सरकार के गठन करने हेतु विपक्ष को अवसर नहीं देने के लिए राज्यपाल की कड़ी आलोचना की गई।

(16) सितम्बर, 1988 को मिजोरम में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई। मिजो नेशनल फ्रन्ट के कतिपय विधायकों द्वारा दल से विद्रोह करने के कारण मुख्यमंत्री लालडेंगा के नेतृत्व वाले मिजो नेशनल फ्रन्ट की स्थिति डॉवाडोल हो गई। इस पर मुख्यमंत्री लालडेंगा ने राज्यपाल से विधानसभा का सत्र बुलाकर उसमें अपना बहुमत सिद्ध करने का अनुरोध किया लेकिन राज्यपाल हितेश्वर सैकिया ने मुख्यमंत्री को ऐसा करने का अवसर देने के स्थान पर केन्द्र को भेजे गए अपने प्रतिवेदन में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की। फलस्वरूप लालडेंगा मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया गया और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। विपक्षी दलों ने राज्यपाल की इस कार्यवाही की कड़ी निंदा की।

(17) सन 1989 में कर्नाटक में राज्यपाल पी.बैकटसुब्बया द्वारा एस.आर. बोम्मई के नेतृत्व वाले जनता दल के मंत्रि मण्डल को बर्खास्त करने का निर्णय भी व्यापक आलोचना का

विषय बना।

(18) सन 1990 में कर्नाटक में राज्यपाल भानुप्रकाश द्वारा वीरेन्द्र पाटिल के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने का निर्णय भी कटु आलोचना का शिकार बना।

(19) सन 1990 में असम के राज्यपाल डी.डी.ठाकुर द्वारा प्रफुल्ल कुमार मोहन्तो के नेतृत्व वाली असम गणपरिषद की सरकार को बर्खास्त करने और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय की भी व्यापक निन्दा हुई।

(20) सन 1991 में नागालैंण्ड और मेघालय में, सन 1992 मे भारतीय जनता पार्टी शासित चार राज्य (राजस्थान, उत्तरप्रदेश, हिमाचल प्रदेश एवं मध्यप्रदेश) सरकारों को बर्खास्त करने और राष्ट्रपति शासन लागू करने के निर्णय की भी तीव्र आलोचना हुई।

राज्यपालों पर आरोप :

विपक्षी दलों का आरोप रहा है कि राज्यपाल संविधान के अनुसार न चलकर केन्द्रीय सरकार के इशारों पर राज्यों में गैर–कांग्रेस सरकारों को गिराते रहे हैं और इस तरह कुछ–कुछ राज्यपाल केन्द्रीय सरकार की कठपुतलिया मात्र रह गये हैं। आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री एस.टी.रामाराव ने तो उन पर केन्द्रीय जासूस होने का भी आरोप लगाया है। विपक्षी दलों द्वारा राज्यपाल पद को समाप्त करने तक की भी मांग की गई। सन 1985 के बाद से अनेक राज्यपालों और राज्य सरकारों में संघर्ष की स्थिति हो गई थी। सिक्किम के राज्यपाल होमी.जे.तल्यार खाँ और मुख्यमंत्री नरबहादुर सिंह भंडारी, आन्ध्र प्रदेश की राज्यपाल कुमुदबेन जोशी और तेलगूदेशम मंत्रिपरिषद, केरल के राज्यपाल ई.के.नयनार के नेतृत्व वाली वामपंथी मोर्चे की सरकार और बिहार में भागवत झा के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) और राज्यपाल गोविन्दनारायण सिंह के बीच संघर्ष जन–चर्चा के विषय बने। फलस्वरूप सिक्किम के राज्यपाल होमी तल्यारखां और बिहार के राज्यपाल गोविन्दनारायण सिंह ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। आन्ध्रप्रदेश के तेलगूदेशम मंत्रिमंडल ने राज्यपाल सुश्री कुमुद बेन जोशी के विरूद्ध प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति से उन्हें हटाने के लिए आग्रह किया। जनवरी, 1989 में केरल की वामपंथी नयनार–सरकार ने भी राज्यपाल के विरूद्ध प्रस्ताव पारित किया।

राज्यपाल के राष्ट्रपति के साथ सम्बन्ध

राज्यपालों की नियुक्ति राष्टपति के आदेश द्वारा जारी की जाती है। राज्यपाल के

पक्षपर किस व्यक्ति को नियुक्त किया जाए, इसका निर्णय केन्द्रीय सरकार करती हैं। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद–पर्यन्त अपने पद पर रहता हैं। यद्यपि सामान्य रूप से उसका कार्यकाल पांच वर्ष का होता हैं। किन्तु राष्ट्रपति किसी भी समय उसे पदच्युत कर सकता हैं। इस मामले में राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिमंडल के परामर्श के अनुसार कार्य करता हैं। राज्यपाल लिखित रूप से यदि वह चाहे तो अपना त्यागपत्र राष्ट्रपति को भेज सकता है।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल को विभिन्न प्रकार के जो कार्य करने पड़ते हैं उसके सम्बन्ध में राष्ट्रपति ही प्रधानमंत्री के परामर्शानुसार राज्यपालों को निर्देश–आदेश देता हैं। यदि राज्य मंत्रिमंडल राज्यपाल को राष्ट्रपति के निर्देशन के विरूद्ध कार्य करने की सलाह दे तो वह इस प्रकार की किसी भी सलाह को अस्वीकार कर सकता है और राज्य सरकार को राष्ट्रपति के निर्देशमानने के लिए बाध्य कर सकता हैं। यदि राज्य मंत्रिमंडल केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार कार्य नहीं करता हैं तो राज्यपाल इसे संविधान के विरूद्ध कार्य मानकर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को सांविधानिक संकट की रिपोर्ट दे सकता हैं और तथाकथित संकट की उद्घोषणा के पश्चात राष्ट्रपति राज्यपाल में निहित शक्तियों को स्वयं द्वारा संचालित कर सकता हैं जब कभी केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय दृष्टि के महत्वपूर्ण किसी कार्यक्रम को अपनाती हैं तो राज्यपाल पर यह भार आ जाता हैं कि वह यह देखे कि राज्य सरकार इस कार्यक्रम को पूरा करने की दिशा में आगे बढ़ रही हैं।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राजयपाल राज्य के सम्बन्ध में समय–समय पर राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन भेजता हैं जिसमें उसके द्वारा अपनी ओर से सुझाव भी दिए जाते हैं। राज्यपाल, पद ग्रहण के समय संविधान की रक्षा करने की शपथ लेता हैं और यदि वह राष्ट्रपति को सांविधानिक तन्त्र की विफलता की रिपोर्ट देता हैं तो उसकी रिपोर्ट के आधार पर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने पर राष्ट्रपति राज्यपाल को जो भी प्रशासनिक विधायी और वित्तीय कार्य सौंप, राज्यपाल उन सबको पूरा करता हैं तथा केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्य के प्रशासन को संचालित करता हैं।

अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्यपाल राज्यविधान में दल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता हैं। राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति हैं किन्तु कुछ मामलों में वह राष्ट्रपति के निर्देश के बिना अध्यादेश जारी नहीं कर सकता। राज्यपाल राष्ट्रपति अर्थात केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में वह देखता हैं कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद को अपना कर समस्त संघ के हितों का ध्यान रखें।

संविधान की व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल की मुख्य भूमिका राज्य के संविधानिक अध्यक्ष की तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता

की हैं। किन्तु राज्यों की राजनीति के अभी तक के इतिहास से यही प्रकट होता हैं कि उसकी दूसरी भूमिका अधिक महत्व की रही हैं। राज्यपाल की उक्त भूमिका के कारण उसके पद की इस आधार पर आलोचना की जाती रही हैं कि केन्द्र उसके माध्यम से राज्यों में अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता हैं।

अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्यपाल राज्य विधान–मंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता हैं। राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति हैं किन्तु कुछ मामलों में वह राष्ट्रपति के निर्देश के बिना अध्यादेश जारी नहीं कर सकता। राज्यपाल राष्ट्रपति अर्थात केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में वह देखता हैं कि राज्य सरकार संकीर्ण प्रान्तीयवाद को अपना कर समस्त संघ के हितों का ध्यान रखें।

संविधान की व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि राज्यपाल की मुख्य भूमिका राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की तथा उसकी गौण भूमिका केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता की हैं। किन्तु राज्यों की राजनीति के अभी तक के इतिहास से यही प्रकट होता हैं कि उसकी दूसरी भूमिकां अधिक महत्व की रही हैं। राज्यपाल की उक्त भूमिका के कारण उसके पद की इस आधार पर आलोचना की जाती रही हैं कि केन्द्र उसके माध्यम से राज्यों में अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करता हैं। गैर कांग्रेसी दलों का यह आरोप रहा हैं कि केन्द्र सरकार ने राज्यपालों के माध्यम से उन्हें अपदस्थ करने के षड़यंत्र रचे।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि पिछले वर्षो में राज्यपालों की भूमिका के संबंध में जो विवाद उपस्थित हुए, उन्होंने राज्यपाल संस्था को विवादास्पद बना दिया। राज्यपालों को संसद, राज्य विधान सभाओं में आलोचना का पात्र बनना पड़ा। सार्वजनिक सभाओं और मंचों पर भी उनकी तीव्र भर्त्सना की गई। उन्हें केन्द्रीय जासूस तक की संज्ञा दी गई। अनेक राज्यपालों के साथ राज्य विधानसभाओं में ही धक्का–मुक्की की गई और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि उनके लिए अपने अभिभाषण पढ़ना भी कठिन हो गया। उनके द्वारा अभिभाषण अधूरे पढ़े गये। अथवा कतिपय अंशों को पढ़कर ही उन्हें बीच में छोड़ना पड़ा राजभवनों में भी राज्यपालों के प्रति अशिष्ट व्यवहार किया गया। यहां तक कि इस संस्था को औपनिवेशक, अनुत्तरदायी और अनुपयोगी मानकर इसे समाप्त करने की मांग की जाने लगी। जनसाधारण में भी इस संस्था की छवि बुरी तरह गिरती गई। परिणामस्वरूप इस संस्था के सम्मान और प्रतिष्ठा में भारी कमी आई।

अगर वर्तमान में राज्यपाल संस्था की उपयोगिता के आगे लगे प्रश्न चिन्ह का विश्लेषण किया जाये तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से उजागर होता हैं कि केन्द्र में सत्तारूढ़ सरकार की नीयत ही इसके लिए उत्तरदायी रहा हैं। केन्द्र में सत्तारूढ़ सभी राजनीतिक दलों की सभी सरकारों ने राज्यपाल संस्था का अपने दलीय स्वार्थो की पूर्ति करने में दुरूपयोग किया हैं। फलस्वरूप

राज्यपालों की राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका गौण बन गई, और उनकी केन्द्र के एजेन्ट की भूमिका ही अधिक मुखरित हुई। जिन राज्यपालों ने केन्द्र के इशारे पर कार्य नहीं किया, उन्हें या तो बर्खास्तगी का सामना करना पड़ा या उन्हें पदच्युत होना पड़ा। रघुकुल तिलक, प्रभुदास पटवारी और एम.एम.थॉमस को बर्खास्तगी का शिकार बनना पड़ा।

स्वतंत्रता के पश्चात केन्द्र में सत्तारूढ़ सभी राजनीतिक दलों की सरकारों ने राज्यपाल पद का राजनीतिकरण करते हुए इस पर अपने दलीय व्यक्तियों को नियुक्त किया हैं। परिणामस्वरूप इस पर पद मैरिट के आधार पर नियुक्ति की परम्परा का लोप सा हो गया। कतिपय नियुक्तियाँ ही मैरिट के आधार की गई। फलतः यह पद पराजित नेताओं, अपदस्थ किये गये और हटाये गये मुख्यमंत्रियों, पद से पृथक हुए केन्द्रीय मंत्री और सक्रिय राजनीति से अलग किये गए राजनेताओं के लिए आश्रय स्थली बन गया। इससे राज्यपाल संस्था का अवमूल्यन हो गया। समस्या के मूल में इस पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती हैं।

राज्यपाल संस्था को विवाद रहित बनाने और उसे प्रभावशाली बनाने के लिए समय–समय पर अनेक प्रयत्न किये गये। राजमन्नार, समिति, राज्यपाल समिति और सरकारिया आयोग ने राज्यपाल संस्था को उपयोगी बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। सरकारिया आयोग का सुझाव हैं कि सक्रिय राजनीतिज्ञों को इस पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए। आयोग का यह भी सुझाव था कि किसी राज्य में राज्यपाल की नियुक्ति करते समय संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह आवश्यक लेनी चाहिए। निःसंदेह सरकारिया आयोग की सिफारिशें महत्त्वपूर्णं। लेकिन दुखद पहलू यह है कि अभी तक आयोग की सिफारिशों पर व्यवहार में अमल नहीं किया गया हैं। नरसिम्हाराव के कार्यकाल में भी सक्रिय कांग्रेस (इ) नेताओं को राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया गया हैं। इस संबंध में डा0 चेन्नारेड्डी, मोतीलाल बोरा, गुलशेर अहमद, बलिराम भगत जैसे प्रमुख उदाहरण गिनाये जा सकते हैं।

सारांश, में यही कहा जा सकता हैं कि भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यपाल पद की उपयोगिता आज भी बनी हुई हैं। वर्तमान में इस संस्था का कोई विकल्प नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की हैं कि इस पद पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाये। स्वयं राज्यपालों को अपनी भूमिका में उचित तालमेल व सन्तुलन स्थापित करना होगा।

गृहमंत्री लालकृष्ण आड्वाणी ने कहा है कि राबड़ी मंत्रिमंडल की बर्खास्तगी की राष्ट्रपति से सिफारिश दोबारा संभव हैं। अचंभा तो इस बात पर हैं कि पहले की तुलना में भाजपा साझा सरकार के कदम इस बार ज्यादा लड़खड़ा रहे हैं। तीनों विधानसभा के उपचुनाव राबड़ी देवी के लोग जीते हैं। लोकतांत्रिक बैरोमीटर में राष्ट्रीय जनता दल खरा उतरा हैं तो कैसे कोई नया सबूत राज्यपाल जुटा पाएंगे अपनी सिफारिश के पक्ष में ? इस कथानक से दशकों पुराना

विवाद फिर उभरता हैं कि राज्यपाल की संवैधानिक भूमिका कैसी हो ? मनोनीत राज्यपाल तथा निर्वाचित राज्यपाल के हकों की सीमा और दायित्व की मर्यादा की रास्ता कहां शुरू और कहां खत्म हो। ये प्रश्न चेन्नई में उठे थे जब अन्नाद्रमुक की मुख्यमंत्री जयललिता के समर्थकों ने राज्यपाल चेन्ना रेड्डी की कार पर पत्थर बरसाए थे। त्रिपुरा के राज्यपाल रोमेश भंडारी के राजभवन की पानी व बिजली की लाईने मार्क्सवादी सरकार ने कटवा दी थी हैदराबाद और गांधीनगर में राज्यपालों पर सत्तारूढ़ दलों को विभाजित करने का आरोप लगा था। फिलहाल ये सब अजूबे हैं। मगर संवैधानिक संकट उस समय गहराता हैं जब परोक्ष कारणों से राज्यपाल मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दे या विधान सभा भंग कर दें। कुल मिलाकर ऐसी घटनाएं हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में अब नए सिरे से राज्य केंद्र संबंधों के संदर्भ में राज्यपाल की भूमिका पर बहस और समीक्षा होनी चाहिए। सबाल सीधा और कड़ा हैं कि आखिर क्यों? 62 बार राज्यों में सरकारें पदच्युत की गई अर्थात् संविधान के अनुच्छेद 154, 163 और 356 पर विचार करना चाहिए। यह अपरिहार्य इसलिए भी हो गया हैं कि संविधान सभा में तत्कालीन विधिमंत्री डा. भीमराव अंबेडकर ने आशा व्यक्त की थी कि राज्यपाल को इन शक्तियों का उपयोग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। संविधान बड़ा लचीला बना हैं, इसलिए व्यावहारिक दिक्कतें कम ही रहेंगी। उनकी उक्ति थी कि यदि कोई गड़बड़ी हो भी जाती हैं तो जिम्मेदार संविधान नहीं वरन (क्रियान्वयन करने वाला) आदमी होगा। " तो क्या आदमी (इस परिवेश) में राज्यपाल बुरा निकला? अनुभव क्या कहता है? उत्तरप्रदेश की बात पहले करें। पच्चीस साल हुए टी.एन.सिंह की साझा सरकार को इंदिरागांधी ने हटा दिया था। इस बर्खास्तगी अध्यादेश पर तत्कालीन राष्ट्रपति बी.बी.गिरि ने दस्तखत किए थे जब वें कीव (उक्रेन, सोवियत गणराज्य) के गुसलखाने में थे। अध्यादेश में वाक्य था कि राष्ट्रपति संतुष्ट हैं कि उत्तरप्रदेश का शासन विधिपूर्वक नहीं चलाया जा सकता। संसद या किसी भी मंच पर पूछा नहीं गया कि हजारों मील दूर यात्रा कर रहे राष्ट्रपति को निजी संतुष्टि कैसे हुई कि विधानसभा में वैकल्पिक मंत्रिमंडल नहीं बन सकता। भारतीय गणराज्य में पहला दुरूपयोग केंद्रीय अधिकारो का जवाहरलाल नेहरू के समय में हुआ। केरल विधानसभा में कम्युनिस्ट पार्टी का स्पष्ट बहुमत था बल्कि मानव इतिहास में पहली बार विश्व में अगर निर्वाचन द्वारा कम्युनिस्ट सरकार कहीं बनी थी तो वह ई. एम.एस. नंबूदरीपाद की थी। वहां राष्ट्रपति शासन थोप दिया गया। केरल की हरकत आन्ध्रप्रदेश में दुहराई गई। जब तेलगूदेशम की दो तिहाई बहुत वाली एन.टी.रामाराव की पहली सरकार को राज्यपाल ठाकुर रामलाल ने बर्खास्त कर दिया। तब प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी थी। हैदराबाद में शांति तभी स्थापित हुई जब डा0 शंकरदयाल शर्मा राज्यपाल बनकर गए और रामाराव को दोबारा शपथ दिलवाई। दो और पहलू हैं जो राज्यपाल के इस प्रतिष्ठित पद की असहायता औद दुर्दशा दर्शाते हैं। इससे राज्यपाल की मर्यादा में ह्रास और प्रतिष्ठा में स्खलन हुआ हैं। पहला हैं पांच वर्ष के लिये नियुक्ति किये जाने पर भी मुख्यमंत्रियों द्वारा राज्यपाल को पदच्युत करा देना अन्यथा हटवा देना। इसका सर्वप्रथम और स्पष्ट उदाहरण भी लखनऊ के राज्यपाल राजभवन का हैं। वी.वी.गिरि उत्तरप्रदेश के राज्यपाल नियुक्त हुए। मद्रास से चलने के पूर्व उन्होंने बयान दिया अथवा फिर पत्रकारों ने छाप दिया कि बी.बी. गिरि उत्तरप्रदेश में मुख्यमंत्री के सुषुप्त साथ की भूमिका नहीं वरन सजग राज्यपाल की भमिका अदा करेंगे। बस पहले कौर में ही मक्खी गिर गई। मुख्यमंत्री डा0 सम्पूर्णा नन्द ने ऐसे हालात पैदा कर दिए कि वी.वी.गिरि को अपना तबादला कराना पड़ा। आधी

अवधि में ही उन्हें केरल के राजभवन में बसना पड़ा। पोस्टिंग के अलावा ट्रॉसफर नियम भी राज्यपालों पर लागू हो गया। सर्वाधिक अवमानना राज्यपालों की हुई तब जनता पार्टी सरकार ने 1977 में राज्यपालों को थोक में बर्खास्त किया। सत्ता में पुनः आने पर इंदिरा गांधी ने इसी तरह जनता पार्टी द्वारा नियुक्त राज्यपालों को हटाया। तमिलनाडू के राज्यपाल और बड़ौदा डाइनामाइट केस में जेल याफ्ता प्रभुदास पटवारी को तो इंदिरा गांधी ने बड़े बेआबरू तरीके से निकाला। कारण यही था कि प्रभुदास पटवारी मोरारजी देसाई के बहुत जनदीकी साथी थे। इन राज्यपालों की व्यावहारिक (पदेन) विवशता के अलावा वेतन भत्ता की दृष्टि से भी दशा दयनीय हैं। हालांकि वरीयता और प्रोटोकोल में भारत के मुख्य न्यायाधीश से भी राज्यपाल ऊपर हैं, पर वेतन काफी कम हैं। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के बाद राज्यपाल का नंबर आता हैं किन्तु केंद्र शासन के सचिव राज्यपाल से ज्यादा पगार पाते हैं। राज्यपाल को मंहगाई या यात्रा भत्ता भी मिलता। उन्हें दैनिक भोजन खर्च औसतन बीस रूपये मिलते हैं। अब यह अलग बात है कि राज्यपाल को अनुलाभ और उपलब्धियां अप्रत्यक्ष रूप से क्या और कितने मिलते हैं यह उस व्यक्ति विशेष की अर्हता और निजी प्रभाव पर निर्भर करता हैं। कुछ विधि और नियम के अलावा, वर्तमान राजनीतिक संदर्भ में राज्यपाल के पद पर प्रासंगिकता पर विचार करे तो यही नजर आता हैं कि संविधान निर्माताओं के सामने राज्यपाल पद की जो परिकल्पना और परिदृश्य था उससे आज की हालत ठीक विपरीत हैं। मूलभूत रूप से एक राज्यपाल उस प्रदेश का औपचारिक प्रमुख होता हैं जो एकात्मकता को संजोए रखता हैं।

राज्य शासन को राय और चेतावनी द्वारा संवैधानिक पटरी पर रखता है। लेकिन जवाहरलाल नेहरू ने ही सर्वप्रथम राज्यपाल पर अपने आलोचकों अथवा अवांछित कांग्रेसियों को दूर करने हेतु नियुक्त किया था। सरदार पटेल के निधन के बाद नेहरू ने पटेल समर्थकों को केंद्र से हटाकर राजनीतिक निष्क्रिय बनाने के लिए राजधानियों में भेज दिया। इंदिरा गांधी ने राज्यपालों को केंद्र का राजनीति एजेंट बनवाकर प्रदेश सरकार पर अंकुश बनाए रखा। इस मायने में पी.वी.नरसिम्हाराव की प्रशंसा में इतना तो कहना ही होगा कि उन्होंने विश्वनाथ प्रतांप सिंह द्वारा मनोनीत राज्यपालों तक को नहीं हटाया। आज अगर कोई राज्यपालों पर यह आरोप लगा रहा है कि वे राजभवन में सियासत कर रहे हैं तो इसका कारण बुनियादी हैं। पुराने कांग्रेसियों को राजभवन में बसाया जाना। कई मुख्यमंत्रियों और राज्यपालों के बीच सौहार्द का अभाव और संशय का बढ़ना इन्हीं राजनीतिक विषमताओं के कारण होता हैं। इसी लिए राज्यपाल को राष्ट्रीय अखण्डता का प्रतीत फिर से बनाना आज जरूरी हैं। राज्यपाल की नियुक्ति पद्धति में न्यायमूर्ति सरकारिया आयोग की संस्तुतियों पर गंभीरता से गौर करना होगा और मानना होगा। जैसे राज्यपाल राजनीति के क्षेत्र से न हो किसी सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त हो। विभिन्न राजनीतिक दल अथवा साझा सरकार वाले प्रदेश में तो केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल का व्यक्ति राज्यपाल कदापि नियुक्त न हो। मुख्यमंत्री की इच्छा के विपरीत राज्यपाल ने थोपा जाए। राज्यपाल की नियुक्ति पर संसद में नेता विपक्ष से भी राय ले लें। राज्यपाल के स्थानांतरण और बर्खास्तगी के नियम भी विचारपूर्वक तय हो जाऐ।

राज्यपाल पद छोड़कर वह व्यक्ति एक अवधि तक चुनाव न लड़ सके। चुनाव में पराजित व्यक्ति कतई राज्यपाल नियुक्त न हो। चूंकि निर्वाचित मुख्यमंत्री में अहं भावना होना स्वाभाविक हैं। अतः मनोनीत राज्यपाल की वरीयता और वरिष्ठता का खास ख्याल हो, वर्ना वह हीन भावना से कुंठित होगा बस इतना जरूर नियमपूर्वक माना जाए कि राज्यपाल की गरिमा के मुताबिक पात्र का चयन हो वरना राजभवन व राजनीति कूड़े की टोकरी बन जाएगा जैसा कि आज कई राज्यों में दिखाई दे रहा है।

4– उच्छृंखलता का बढ़ता खतरा

देश में व्याप्त उच्छृंखलता भी राजनीति व लोकतंत्र को भ्रष्ट और विकृत कर रही है। देश में उच्छृंखलता की राजनीति के जीवाणु का आधार अनेक तत्वों का सामूहिक प्रतिफल है जो इस प्रकार हैं–

(1) राजनीतिक निराशाः

उच्छृंखलता से हिंसात्मक प्रदर्शन होते हैं। यह जनता में व्याप्त असन्तोष, निराशा तथा हताशा के कारण होता हैं। राजनीति दलों में यह विश्वास घर करता जा रहा हैं कि संवैधानिक तरीकों से तो वे कभी सत्ता में आ ही नहीं सकते। सत्तारूढ़ दल को पदच्युत करने के लिए जनता में उत्तेजना फैलाना और आन्दोलन द्वारा सरकार को परेशान करना ही एक मात्र मार्ग प्रतीत होता है।

(2) प्रचिलित शिक्षा पद्धति :

वर्तमान शिक्षा–पद्धति ने युवकों में निराशा की भावना भर दी हैं। हमारा युवक आशाओं एवं निराशाओं, बेकारी एवं अर्द्धबेकारी के भंवर में फंसा हुआ है। शिक्षित युवक पुस्तकों की आदर्शवादिता एवं जीवन की वास्तविक भयानकताओं के बीच परेशान हैं। इस मनोदशा में वह अपने शिक्षक, नेताओं, आदि पर विश्वास करने की स्थिति में नहीं हैं। निराशाओं से छुटकारा पाने के लिए यदि उच्छृंखलता करता है तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

(3) सरकार दबाव की भाषा ही जानती है :

देश की आम जनता में यह विश्वास घर कर गया हैं कि हमारी सरकार केवल

दबाव की भाषा ही जानती हैं। यदि सरकार के सामने न्यायोचित मांग प्रस्तुत की जाती है तो उसके कान पर तब तक जूँ नहीं रेंगती है तब तक तोड़–फोड़ और उच्छृंखता के द्वारा आंधी नहीं खड़ी कर दी जाती। जैसाकि माइरन वीरन ने लिखा हैं, ''सरकार रियायत देने को तभी तैयार होती हैं जब किसी जन–आन्दोलन में शांति और व्यवस्था को खतरा होता हैं, इसलिए नहीं कि सरकार को आन्दोलनकारियों की मांग का आभास होता हैं।''

(4) आर्थिक कारण :

उच्छृंखलता के लिए देश की बुरी आर्थिक स्थिति भी उत्तरदायी है। मंहगाई और बढ़ते हुए मूल्यों के कारण देश की आर्थिक स्थिति संकटपूर्ण स्थिति में पहुंच गयी और आम आदमी का जीवन यापन कठिन हो गया। राज्य भी केन्द्र से अधिक सहायता प्राप्त करने के लिए दबाव डालने लगे। उदाहरणार्थ 11 सितम्बर, 1967 को अधिक चालव प्राप्त करने के लिए केरल में संयुक्त मोर्चे की सरकार ने भी 24, अगस्त 1967 को 24 घण्टे की हड़ताल का आयोजन किया। इसमें प्रधानमंत्री के निवास के सामने जो केरल राज्य के केविनेट मंत्री भूख हड़ताल कर रहे थे उनको समर्थन देने के लिए यह हड़ताल की गयी थी। 24 घण्टे के लिए पूरे राज्य में सामान्य जीवन भी अस्त–व्यस्त हो गया था। यह केवल इसीलिए किया गया था कि खाद्य सामग्री के वितरण के प्रश्न पर पश्चिमी बंगाल के विरूद्ध कोई भेदभाव की नीति न बरती जाए।

(5) आदर्श नेतृत्व का अभाव :

स्वाधीनता के बाद देश में ऐसे नेतृत्व का उदय हुआ जो राष्ट्रहित के बजाय, दलीय हितों और वैयक्तिक स्वार्थो को प्राथमिकता देता हैं। आदर्श नेतृत्व के अभाव में छोटी–छोटी बातों को लेकर उग्र हिंसात्मक और आन्दोलनकारी तरीके अपना लिए जाते हैं।

(6) प्रशासन में अकर्मण्यता :

भारत में प्रशासन के प्रति लोगों की अच्छी धारणा नहीं हैं। प्रशासन में अनावश्यक देरी होती हैं, लालफीताशाही, भ्रष्टाचार, अक्रियशीलता आदि का बोलबाला हैं। जन–कल्याण से संबंधित शीघ्र निर्णय नहीं लिए जाते जिससे आन्देलन होते हैं और उच्छृंखलता बढ़ती है।

(7) राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव :

भारत में सभी राजनीतिक दलों में उत्तरदायित्व की भावनाओं का अभाव पाया जाता

हैं। किसी भी राजनीतिक मसले पर वे तत्काल आन्दोलनात्मक रूप अपना लेते हैं। वे यह समझते है कि उच्छृंखलता बढ़ाने से जनता को अपने पक्ष में संगठित कर लेंगे। अधिकांश उच्छृंखलता का परिणाम हिंसा, तोड़–फोड़ और उत्तेजनात्मक गतिविधियां ही रहा हैं। कावेरी जलविवाद पर कर्नाटक और तमिलनाडू को आंदोलन एवं हिंसा के मार्ग पर धकेलने का संपूर्ण दायित्व वहां के मुख्यमंत्रियों का हैं। राज्य–व्यापी कर्नाटक बंद, जिसका आव्हान दिसम्बर 1991 में सभी दलों ने मिलकर किया था, के दौरान राज्य भर में हिंसा और आगजनी की घटनाएं हुई, हिंसा में एक दर्जन से अधिक लोग मारे गये।

(8) विरासत का असर :

भारत में प्रत्यक्ष कार्यवाही के उच्छृंखलता रूपी साधनों के प्रयोग का सबसे बड़ा कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से प्राप्त विरासत हैं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में अहिंसा का व्यापक प्रयोग हुआ और उनसे सफलता मिली। उनका असर यह पड़ा कि स्वतंत्रता के बाद बदली हुई परिस्थितियों में भी उसका प्रयोग उच्छृंखलता के रूप में हो रहा है।

5– न्यायालय का हस्तक्षेप

खामोश, सरकार और सांसद नाराज हैं। नाराजगी की बात भी है, आये दिन छोटी–बड़ी अदालतें सरकार के ऊँचे पदों पर बैठे हुए या इन पदों से अपदस्थ लोगों को सम्मन भेज रही हैं अथवा गैर–जमानती बारंट जारी कर रही हैं, वह इन शक्तिशाली महापुरूषों का लिहाज किये बिना इनके साथ साधारण लोगों की तरह ही व्यवहार कर रही हैं। क्या यह कम विपदा है कि आजकल खबरें नेताओं के सुभाषितों से नहीं अदालतों के आदेशों से शुरू होती हैं। इतना ही नहीं, अब तो न्यायाधीश अपने आदेशों में देश के राजनीतिक वर्ग को सीख भी देने लगे है। आप ही बताइये, जिनकी सारी जिंदगी देशवासियों को उपदेश देते गुजरी है, वे किसी अन्य का उपदेश कैसे सुन लेंगे? यह तो सरासर "जन प्रतिनिधियों के विशेषाधिकार" का हनन हैं। इसे अगर अभी नहीं रोका गया तो जनतंत्र का क्या होगा? इस दुश्चिंता ने राजनीतिक लोगों को हिला कर रख दिया हैं।

न्यायापालिका पर राजनीतिक लोगों की आलोचनात्मक टिप्पणियों में से अधिकतर तो उनके दलगत स्वार्थ से ही प्रेरित होती हैं किन्तु कुछे में वाजिब तर्क भी है। मणिशंकर अरूयर ने लक्खू भाई पाठक के मामले में दिल्ली के मेट्रोपॉलिटन मजिस्ट्रेट प्रेम कुमार और कल्पनाथ राय के मामले में अतिरिक्त सेशन जज एस.एन.धींगरा की उन टिप्पणियों की आलोचना की, जिनमें एक ही सांस में सारे राजनीतिक वर्ग की निंदा की गयी थी, यह प्रवृत्ति गलत है। इसलिए उच्च न्यायालय ने धींगरा के उन वाक्यों को काटने का निर्देश भी दिया हैं। जयपाल रेड्डी उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय को गलत मानते हैं कि न्यायाधीशों की नियुक्तियों में सरकार का दखल नहीं होना

चाहिये। सोमनाथ चटर्जी ने सरकार के तीनों पायों–कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका को साथ बैठाकर अपने अधिकार क्षेत्रों के पुनर्विभाजन का सुझाव दिया हैं।

विचित्र बात यह है कि साधारण जन न्यायपालिका की सक्रियता में मामले में राजनीति वर्ग से उल्टी राय रखते हैं। अगर राजनीतिक लोग अपने–अपने दरबारियों और चाटुकारों के घेरे से निकल कर, साधारण लोगों के साथ टी.बी.पर "आज तक" अथवा "न्यूज टुनाइट" कार्यक्रम देखें तो भूतपूर्व अथवा वर्तमान राजनीतिज्ञों के खिलाफ आदालत के आदेश पर दर्शकों की प्रतिक्रिया से वे दंग रह जाएंगे। सही हो या गलत, किन्तु अधिकतर लोग न्यायालयों और न्यायाधीशों की साफगोई की तारीफ करते हैं, प्रायः वे राजनीतिक लोगों के कारगुजारियों की निंदा करते हैं। उनकी निगाहों में इन दिनों न्यायापालिका और समाचार पत्र ही देश के त्राता हैं। ऐसा नहीं है कि वे न्यायापालिका की सर्वथा निर्दोष और भ्रष्टाचार से परे मानते है। "जजों में भी गलत लोग हैं, उनमें भी भ्रष्टाचारी और घूंसखोर है। लेकिन इसके लिये भी मुख्यतः राजनीतिक वर्ग ही जिम्मेदार है देखा नहीं आपने की उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति रामास्वामी पर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की कांग्रेस ने किस निर्लज्जता से उपेक्षा की थी और संसद में "महाभियोग" के दौरान दोषी जज का साथ दिया था, यह प्रतिक्रिया हैं एक टीवी दर्शक घरेलू महिला की। उसने दूसरी ही सांस में कहा, "वैसे मुझे राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं हैं।"

दरअसल, न्यायपालिका की कथित सक्रियता" पर आपत्ति करने वाले राजनीतिज्ञों को अदालतों और जजों की नीयत और अधिकार की फिक्र करने के बजाए देश की वर्तमान दशा और राजनीति नेतृत्व की क्षमता–अक्षमता तथा नैतिकता का पूरा जायजा लेना चाहिए। तब उनको यह समझते देर नहीं लगेगी कि लोग कुछेक भ्रष्टाचारी राजनीतिज्ञों तक अपना गुस्सा सीमित रखने के बजाये समूचे राजनीतिक वर्ग से क्यों चिढ़े हुए हैं। एक बड़ा कारण तो यही हैं कि सभी दलों में दिन रात चलने वाली "कुर्सी दौड़" ने राजनीतिक वर्ग की साख मटियामेट कर दी हैं। एक समय था जब समाचार पत्र किसी सत्ताधारी राजनीतिज्ञों पर आरोप लगाने या उसके बारे में कोई निंदनीय सूचना देने के पहले इस बार में सोचते थे, तब देश के शासक वर्ग में आपसी सहमति थी।

किन्तु सत्ता की होड़ में वह सहमति खत्म हो गयी है। आज समाचार पत्र पहले से कहीं अधिक खुले हुए हैं, अब उनको परदे के पार क्या है या हो रहा हैं यह बताने में पहले जैसी झिझक नहीं रह गयी हैं। आज भी सरकार "दूरदर्शन" पर अंकुश लगाये हुए है, लेकिन परोक्ष सेंसर की चलनी में से छन कर भी लोगों को जो कुछ पता लगता हैं, वह भी शासकों की असलियत खोलने के लिए काफी हैं। इन्हीं सब का सम्मिलित असर हैं कि लोग पदासीन राजनीतिज्ञों को बेहद नापसंद करने लगे हैं। रही होगी किसी पौराणिक युग में राजनीतिज्ञों की अच्छी छवि, मानते रहे होंगे अतीत में साधारण जन उनको अपना त्राता और उद्धारक, किन्तु आज तो लोगों का अच्छा खासा हिस्सा इनको अपने पर अनचाहे बोझ के रूप में देखता हैं।

इस संबंध में मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति अहमदी का यह कथन सही है "कि इस समय लोगों की निगाह में कथित वित्तीय घोटालों और अपराधियों के साथ उनके कथित संबंधों के आरोपों के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों की छवि बेहद खराब हैं। व्यापक जन समाज यह मानने लगा है कि हाल के दौर में अपराधियों और राजनीतिज्ञों के बीच संबंध और भी दृढ़ हो गये हैं? फिर भी न्यायमूर्ति अहमदी न्यायपालिका को न्यायपालिका ही बने रहने देने के पक्ष में हैं। वे न्यायाधीशों पर "सक्रिय" और "निष्क्रिय" का लेबल चस्पा करने की प्रवृत्ति को सही नहीं मानते। उनकी राय में "कतिपय क्षेत्रों में कानून में कुछ खालीपन रह गया था उस पर पूल बांधना जरूरी हो गया था अन्यथा कोई भी न्यायाधीश खोज–खोज कर मुकदमें थोड़े ही लाता हैं।

थोड़ा अतीत में उतर कर संसद, सरकार और न्यायापालिका के संबंध को देखें, तो एक बात तो स्पष्ट रूप से उभरती हैं, यही कि न्यायालय और न्यायाधीश शुरू से इतने सक्रिय नहीं थे। भारतीय गणतंत्र के आरंभिक दशकों में न्यायपालिका काफी अनुदार और व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाये रखने के पक्ष में थी। उच्च और उच्चतम न्यायालयों के अनेक निर्णय परिवर्तन विरोधी और यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में रहते थे, लेकिन ये हालात बदले कांग्रेस के विभाजन के बाद। यह वह समय था जब श्रीमती इंदिरा गांधी स्वयं को क्रांतिकारी सुधारक के रूप में पेश करना चाहती थी। उन्हीं दिनों कतिपय साम्यवादी या उनसे जुड़े बुद्धिजीवी भी निष्फल वामपंथी राजनीति से उकता कर कांग्रेस में आये। उनमें से ही एक थे मोहन कुमार मंगलम। उन्होंने अपनी नेता को नये वैचारिक लिबास में पेश करने के लिए स्वतंत्र अथवा निष्पक्ष न्यायपालिका के बजाए प्रतिबद्ध न्यायपालिका का नारा दिया। उसी दौर में उच्चतम न्यायालय के जजों की नियुक्ति में वरिष्ठता की जगह नेता के प्रति प्रतिबद्धता का उसूल बखाना गया।

सारी सत्ता अपनी मुट्‌ठी में लेने के लिए सरकार ने "नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की जगह नीति निर्देशक तत्वों को प्रथमिकता देने का विवाद भी उसी दौर में चलाया। लोगों को सुचिंतित नीतियों के बजाय छद्‌म वामपंथी नारे परोसे जाने लगे संसद बनाम न्यायपालिका" को पहले से चल रही चर्चा और मुखर हुई। गरीबों के साथ न्याय करने के बहाने कुछेक कांग्रेसियों ने सीमित तानाशाही की बहस शुरू की। इन सबका प्रतिफल आपातकाल था। उसके दौरान नागरिकों के मूलभूत आधिकार ही निलंबित नहीं किये गये वरन् न्यायापालिका को भी शक्तिहीन कर दिया गया। उस भयानक दौर में उच्चतम न्यायालय भी प्रभावहीन ही रहा।

लेकिन, 1980 के बाद न्यायपालिका एकाएक सजग हुई। न्यायमूर्ति भगवती ने जनहित याचिकाओं पर फौरन कार्रवाई के माध्यम से न्यायिक सक्रियता में काफी अंतर हैं। तब न्यायालयों ने अपनी सक्रियता बिना मुकदमा चलाये बरसों से जेलों में सड़ रहे बंदियों, बिहार में अभियुक्तों की आंखें फोड़नेवालों तथा बाल–अपराधियों को राहत देने जैसे मामलों तक ही सीमित. रखी थी।

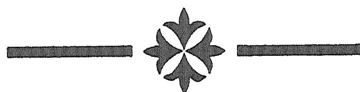
मंत्रियों तथा अन्य प्रकार के राजनीतिक लोगों पर उन्होंने कोई कार्रवाई नहीं की।

भारी भरकम सत्ताधारी राजनीतिज्ञों के विरूद्ध तो न्यायपालिका पिछले कुछ वर्षो में ही सक्रिय हुई हैं। सबसे ज्यादा नरसिम्हा राव के दौर में जोखिम भरे मामलों में खुद निर्णय लेने के बजाय नरसिम्हाराव ने अपनी बला उच्चतम न्यायालय पर लादी। इससे प्रधानमंत्री की नैतिक प्रतिष्ठा गिरी इसी के बीच एक के बाद एक घोटाले खुले। उनमें से कई में खुद नरसिम्हाराव या उनके बेटों–संबंधियों पर भी लांछन लगाया गया। जबाव में कांग्रेस के प्रवक्ता एक ही बात दोहराते रहे–कानून के मामले में दखल नहीं दिया जायेगा। वह अपनी राह पर चलेगा।

कानून के बुर्के में छिपे रहने या कि सामने खड़ी चुनौती से शुतुमुर्ग की तरह मुंह छिपाने की इस प्रवृत्ति से कांग्रेस ही नहीं, सारे राजनीतिक वर्ग की नैतिकता पर आंच आयी हैं। लेकिन इसका एहसास संयुक्त मोर्चा सरकार को भी कहां हैं ? चंद्रास्वामी मामले में नरसिम्हाराव को सह–अभियुक्त बनाने के बारे में तो प्रधानमंत्री देवगौड़ा भी तो वह बात दोहरा रहे हैं।

कानून की दुहाई देते समय राजनीति वर्ग इसी सीधी बात को भूल रहा हैं कि कानूनी दांव पेंच अदालतों में चलते हैं लेकिन जनतांत्रिक व्यवस्था का दारोमदार कानून से ज्यादा नेतृत्व की नैतिक शक्ति पर रहता हैं।

जब लोगों को यह लगने लगता हैं कि शासक सिर्फ सत्ता के लिए सत्ता चाहते हैं और कि वे अपनी कुर्सी बचाने अथवा उसे हासिल करने के लिए किसी भी हद तक उतर सकते हैं, तो मजबूत कानूनी शिरस्त्राण भी उनको सुरक्षा नहीं दे पाता। आज यहीं हो रहा हैं, इसका उपाय न्यायपालिका के अधिकारों को सीमित करना नहीं राजनीति में नैतिकता की पुनर्प्रतिष्ठा ही हैं।



अध्याय सप्तम

केन्द्र राज्य संबंध और वर्तमान राजनीति सुझावों पर अपनाया गया दृष्टिकोण और संबंधों के नए क्षितिज

1. केन्द्र राज्य संबंध और वर्तमान राजनीति,
2. सुझावों पर अपनाया गया दृष्टिकोण व संबंधों के नये क्षितिज,

केन्द्र राज्य संबंध और वर्तमान राजनीति सुझावों पर अपनाया गया दृष्टिकोण और संबंधों के नऐ क्षितिज

केन्द्र राज्य संबंध और वर्तमान राजनीति :

भारतीय लोकतंत्र की जड़ो को मजबूत करने एंव उसकी रक्षा के उद्देश्य से केन्द्रराज्य संबंधो को संवैधानिक आधार प्रदान किया गया, लेकिन संघ राज्य संबंधो का आधार आंरभ से ही विवाद का विषय रहा है। संविधान सभा में ही आपत्ति की गई थी कि वर्तमान संघीय ढ़ाँचे से केन्द्रीयकरण को बढ़ावा मिलेगा और राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं के सदृश्य हो जायेगी फिर भी उस ढ़ाँचे को भारतीय धरातल पर विकसित किया गया, लेकिन ज्यो–ज्यों संघ प्रणाली प्रौंढ़ हुई, उसमें अनेक दरारें दिखने लगी। बदलते हुये भारतीय राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में सरकारिया आयोग की नियुक्ति एक लोकतांत्रिक कदम है।

संविधान के लागू होने के बाद से उत्पन्न हुऐ केन्द्र राज्यों के मध्य विवाद को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम संस्थागत विषय– जैसे राज्यपाल का पद, नौकरशाही की भूमिका और संविधान के स्वरूप संबंधी विवाद द्वितीय, कार्यात्मक विषय–जैसे कानून और व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र का विवाद, अंतर्राज्यीय विवाद, राज्य सूची पर केन्द्रीय हस्तक्षेप और केन्द्रीय नियंत्रण के मसले और तृतीय, वित्तीय और योजना संबंधी विवाद। उक्त सभी क्षेत्रों में संवैधानिक दृष्टिकोंण से केन्द्र असाधाारण रूप से शक्तिशाली हुआ और राज्य उसकी छाया मात्र बने। चूंकि प्रत्येक राज्य की समस्याऐं परिस्थितियाँ और आवश्यकताऐं भिन्न–भिन्न है, जिनके अनुरूप संवैधानिक ढ़ाँचा विकसित होना चाहिये। लेकिन केन्द्र के सामने राज्य एक परकटे पक्षी के समान रह गऐ है। केन्द्र राज्यों के मध्य राजस्व साघनों के विभाजन का आधार कार्य क्षमता, पर्याप्तता और उपयुक्तता है, लेकिन आचरण में सीमितता और पक्षपात का समावेश रहा है।

वित्त के क्षेत्र में राज्य सदैव ही केन्द्र के मोहताज रहे है। राज्यों का दिया जाने वाला अनुदान एवं सहायता भी मापदंड विहीन होती है। योजना आयोग ने तो प्रशासन, अर्थनीति और राजनीति के माध्यम से संपूर्ण भारत को दिल्ली तक सीमित कर दिया है।

संघ व्यवस्था व्यवहार में बुनियादी लक्षणों पर ही निर्भर नही करती, बल्कि दल प्रणाली भी उसको संबल प्रदान करती हैं। केन्द्र और प्रांत स्तर पर एक दलीय सरकार निर्मित हो वहाँ केन्द्रीयकरण का उद्भव होता है। लेकिन भारतीय दल व्यवस्था बहुदलीय व्यवस्था में एक दलीय प्रधानता ने केन्द्र राज्य संबंधों को काफी हद तक प्रभावित किया है। 1987 के पूर्व कांग्रेस की प्रधानता और "हाई कमाण्ड" के आदेश की प्रभावशीलता केन्द्रीयकरण के पर्याय थे। 1987 के बाद का युग संक्रमणकालीन था, अनेक प्रांतो मे तमिलनाडु, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, पंजाब, उ0प्र0 आदि में गैर कांग्रेसी सरकारे निर्मित हुई। केन्द्र में भी कांग्रेस की स्थिति दुर्वल रही तथापि प्रांतो पर निर्णय थोपे नही जा सके।

1987 के कालांश में भारतीय राजनीति में प्रतियोगी दल व्यवस्था के प्रतिमान विकसित हुये, गैर कांग्रेसी सरकारों के निर्माण से केन्द्र राज्य टकराव प्रारंभ हुआ। हाल में हिमाचल प्रदेश विधान सभा और गुजरात विधानसभाओं को क्रमशः 24 दिसंबर 1997 और 25 दिसंबर 1997 को अपने निर्धारित कार्यकालों से पहले ही भंग कर दिया गया। इन विधानसभाओं में भंग होने के कारण कुछ भी बताया जाता हो, लेकिन मूल में यह कारण था कि सत्तारूढ़ पार्टी यह समझती थी कि यदि देश के बड़े राज्यों मे विरोधी दलों की सरकारें बनी रही तो राजनीतिक समस्याऐं उत्पन्न होंगी और हुआ भी यही अनेक प्रांतो में विरोधी दलों की सरकारे बनी और उन्होने प्रांतीय स्वायत्ता की मांग करके टकराव की विकट स्थिति उत्पन्न की।

केन्द्र राज्य संबंधो में स्थिरता तब तक नहीं आ सकती जब तक कि स्पष्ट रूप से ऐसी परंपराऐं स्थापित न कर दी जाऐं, जिनसे केन्द्र द्वारा राज्यों के मामले में मनमाने हस्तक्षेप करने की सुविधा देने वाले संवैधानिक प्रावधानों को निश्चित और नियंत्रित किया जाऐ तथा उनके दुरूप्रयोग की संभावना निरस्त कर दी जाऐ। राज्यपालों की भूमिका धारा 356 का उपयोग, केन्द्रीकृत नौकरशाही का प्रयोग तथा राज्य और राज्य के बीच भेदभाव करने का अधिकार आदि कुछ परिचित साधन है। परंतु क्या हम जानते है कि केन्द्र राज्य संबंधो की बहुआयामी समस्याओं को कैसे सुलझाया जाऐं ?

इस समय जो खेल चल रहा है, उसके प्रमुख पात्र है केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें, राजनीतिक दल, विभिन्न नौकरशाहियॅा, न्यायपालिका, व्यवस्थापिका और अंत में जनता, जो कि निर्णायक है, परंतु अशिक्षित और अज्ञानी है और उन्हे प्रभावित कर लिया जाता है। केन्द्र राज्य संबंधो का स्वरूप सीधा या आडा हो सकता है। सीधे स्वरूप में ये संबंध केन्द्र और राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थानों के बीच होते है। आड़े स्वरूप में ये संबंध व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच होते है। खड़े (सीधे) और आड़े संबंध एक दूसरे से पूरी तरह पृथक नहीं होते ।

संविधान निर्माताओं ने केन्द्र और राज्यों के क्षेत्र, शक्तियों और कार्यो को यथासंभव बहुत स्पष्ट रूप से परिभाषित करने का पूरा प्रयास किया। परंतु समवर्ती सूची तथा अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र के पास' होने के कारण केन्द्र राज्य के संबंध उलझ गऐ। विकास की बढ़ती पेचीदगियों के कारण तकनीकी रूप से एक समवर्ती सूची होना जरूरी है तथा एकता के हित में अवशिष्ट शक्तियॉ भी केन्द्र के पास होना उचित है। पंरतु इन प्रावधानों के राज्यों के विरूद्ध प्रयोग के कारण राजनैतिक प्रक्रिया इतनी विकृत हो गई है कि संघवाद को खतरा इन्ही दो व्यवस्थाओं के कारण पैदा हुआ है। इसके अलावा राज्य सरकारों को बर्खास्त करने के लिये केन्द्र ने धारा 356 का इतनी अधिक बार दुरूपयोग किया है कि किसी राज्य को केन्द्र की निष्पक्षता मे विश्वास नहीं रह गया है।

दुर्भाग्यवश, केन्द्र राज्य आर्थिक विवादों ने अन्य सभी मसलों को ढ़क लिया है। खास मसला यह नही है कि केन्द्र और राज्यों के बीच आर्थिक संतुलन नही है वरन् यह कि

केन्द्र और राज्यों द्वारा साधनों के प्रयोग के संबंध में कोई भी मानक, निर्देशक सिंद्धात या उत्तरदायित्व की व्यवस्था नही है। केन्द्र और राज्यों का सम्मिलित खर्च साल दर साल स्वचालित रूप से बढ़ ही रहा है। फिर भी चिंता का विषय यह नही है। वरन् फिजूलखर्ची पर प्रतिबंध का अभाव , सरकारी धन का दुरूपयोग व उसका व्यक्तिगत खाते में चले जाना आदि चिंता के विषय है । केन्द्र और राज्य अपने आर्थिक अधिकारों के बारे में विवाद में संलग्न रह सकते है, पर दोनो ही अपने लापरवाह खर्चो, अक्षम शासन कार्य तथा साधनों की भंयकर बर्बादी की ओर देखने के लिये तैयार नहीं है। वस्तुतः इस बात से कोई अंतर नही पड़ता कि एक रूपया केन्द्र से राज्यों को या उल्टा राज्यों से केन्द्र को दे दिया जाऐ । यदि वर्तमान 60:40के अनुपात को बदलकर राज्यों के हित में 50:50 भी कर दिया जाऐ तो भी यह निशिचत रूप से नहीं कहा जा सकता कि कर से प्राप्त धन को न्यायपूर्ण ढ़ंग से खर्च किया जायेगा अथवा राज्यों द्वारा स्थानीय संस्थाओं को अधिक धन दिया जायेगा ।

फिर भी आर्थिक साधन वास्तव में राजनीतिक इकाई की सवायत्तता का निर्धारण करते हैं और केन्द्र के पास राज्यों की अपेक्षा साधनों को बढ़ाने की सुविधा और शक्तियाँ ज्यादा हैं राज्य यह अनुभव करते है कि न केवल सामान्य आर्थिक प्रबंध के लिऐ वरन् आकस्मिक समस्याओं के लिऐ भी वे केन्द्र की कृपा पर निर्भर करते हैं । विदेश से पैसा लेने का अबाध अधिकार तथा देश में प्रिटिंग प्रेस का उपयोग केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक स्थिति प्रदान करता है। केन्द्र के द्वारा साधनों के वितरण पर नियंत्रण के लिऐ योजना आयोग का भी प्रयोग किया गया है। बहुत अधिक केन्द्रीयकृत नियोजित विकास के फलस्वरूप केन्द्र के आर्थिक साधन निश्चित ही अधिक लचीले व्यापक व प्रमुख हो जाते है। औद्योगीकरण तथा शहरीकरण आर्थिक साधनों को उसी दिशा में मोड़ते हैं। इसलिऐ हस्तांतरण व्यवस्था को आर्थिक रूप से व्यवहार्य और स्वीकार्य होना चाहिये। महत्वपूर्ण बात यह है कि आर्थिक हस्तांतरण का महत्व राजनीतिक संतुलन को बनाऐ रखने या बदलने के लिऐ उपयोग के कारण बढ़ गया है। अब समय आ गया है कि कोई विशिष्ट समिति या आयोग इन बातों की गहराई में जाऐ–केन्द्र और राज्यों के बीच करों का बंटवारा करके अतिरिक्त अन्य आमदनी के संबंध में कानून का निर्माण, देश और विदेश से ऋण ,घाटे की वित्त व्यवस्था और आर्थिक संस्थाओं की भूमिका । वित्त आयोग और योजना आयोग के कार्यो को मिला देना चाहिऐ ।

राज्यों के बीच आर्थिक और आय संबंधी अंतर इतना अधिक बढ़ गया है कि पिछडे राज्य यह अनुभव करते है कि केन्द्र जानबूझ कर उनके साथ पक्षापातपूर्ण व्यवहार कर रहा है। पंरतु यह कोई आश्चर्य नहीं है कि ये वे राज्य है, जहॉ से कांग्रेस दल के नेताओं को विपुल राजनीतिक समर्थन प्राप्त हुआ है। शायद कांग्रेसी नेताओं ने यह निहित स्वार्थ बना लिया हैं कि राजनीतिक लाभ के लिये पिछड़े राज्यों को पिछड़ा ही रखा जाऐ। पंरतु अब राज्यों के बीच बढ़ता हुआ यह अंतर तनाव और संघर्ष पैदा करने का अनापेक्षित रूप धारण कर रहा है। राजनीति पर हिंसा छा रही है। दूसरे शब्दों में, अन्य बातो ने शक्ति संतुलन को अस्थिर बना दिया है।

हाल में एक और खतरनाक प्रवृत्ति पैदा हो गई है, जिसकी समाप्ति यद्यपि अत्यंत

आवश्यक है, पर मुश्किल है और वह है अंतर्राज्यीय विवादों को लंबा खीचना । किसी सर्व स्वीकृत हल की संभावना नही दिखती, क्योंकि केन्द्र के द्वारा सुझाया कोई भी हल एक राज्य के पक्ष मे और दूसरे राज्य के विरोध में जाऐगा और इस प्रकार केन्द्र पर पक्षपात का आरोप लगाने का मौका मिलेगा। नदी विवाद विशेष रूप से मुश्किल मामले हैं। मध्यस्थ के रूप में न्यायपालिका की भूमिका बहुत थोड़ी रह गई है और विवाद विद्यमान हैं।

कार्यपालिका का विभाजन राष्ट्रपति, मंत्रिमंडल और नौकरशाही के बीच किया गया है। संविधान निर्माताओं ने अस्पष्ट रूप से राष्ट्रपति को कुछ राजनैतिक भूमिका देने का प्रयास किया था, चुंकि इसे अस्पष्ट छोड़ दिया गया इसलिये नेहरू से लेकर इंदिरा गांधी और राजीव गांधी से लेकर अटल बिहारी वाजपेयी तक की कार्यपालिका ने उनके (राष्ट्रपति के) लिये कोई भूमिका नहीं होने दी। राष्ट्रपति केवल नाममात्र के प्रधान बन गऐ है और वे केन्द्र के अनुचित हस्तक्षेप के विरूद्ध राज्यों की रक्षा नहीं कर सकते।

सिंद्धात में राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हैं पर वास्तव में वे प्रधानमंत्री के हाथ की कठपुतली बन गऐ हैं। अनेक मामलो में राज्यपालों ने अपने राजनीतिक पद का दुरूपयोग केन्द्र में शासन करने वाले दल के हित में राजनीतिक संतुलन को झुकाने के लिये किया है।

उच्च नौकरशाही की भूमिका सूक्ष्म परंतु महत्त्वपूर्ण रही हैं। राज्यों पर केन्द्र अपना नियंत्रण भारतीय प्रशासनिक सेवा के अनेक अधिकारियों एवं अन्य नौकरशाहों के माध्यम से बनाऐं हुये है। भ्रष्ट आचरण के परिणामों से बचाव के बदलें में भारतीय प्रशासनिक सेवा राज्यों पर नियंत्रण के लिये केन्द्रीय सरकार का राजनीतिक वस्त्र बनने को तत्पर हो गई है। वे समझ गये है कि उनके व्यक्तिगत हित केन्द्र के हाथ में हैं। केन्द्र के गुप्त आदेशों का पालन करते हुऐ उन्होने जानबुझ कर स्वयं अपने मुख्यमंत्रियों की शक्तियों को कम किया है। जब तक कि राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और नौकरशाही के बीच शक्ति संतुलन फिर से नहीं रचा जाता और कठोर नियमों का पालन नहीं किया जाता, तब तक केन्द्र और राज्यों के बीच संबंधो में स्थिरता नहीं आ सकती।

अंत में, खूब विस्तार से लिखा, अच्छी तरह परिभाषित और स्पष्ट रूप से बनाया संविधान और केन्द्र एवं राज्यों के बीच आर्थिक व्यवस्था कोई काम नहीं कर सकते यदि राजनीतिक दल और राजनीतिक प्रक्रिया संतुलन बनाऐ रखने में असमर्थ रहते हैं। राष्ट्रीय दलों और क्षेत्रीय दलों के बीच संघर्ष इस संतुलन का केवल एक पक्ष है। यही बात कांग्रेस जैसे राष्ट्रीय संघीय दल के लिये भी लागू होती है। पहले की अपेक्षा यह बात आज ज्यादा सच है कि मुख्यमंत्री की शक्ति की समाप्ति दल के भीतर से ही हो रही है। वास्तव में 1980 के बाद के समय में जिस ढंग से केन्द्र ने अपने मुख्यमंत्रियों से व्यवहार किया है, वह केन्द्र और राज्य संबंधो को अस्थिर बनाने में एक प्रमुख तत्व रहा है। वास्तव में उन्होने इस संबंधो में संतुलन बनाने वाले आवश्यक तत्वों को समाप्त किया है। एक कमजोर और दिखावटी मुख्यमंत्री, जो सदा प्रधानमंत्री की ओर देखता रहता है, एक ऐसा राजनीतिक खालीपन पैदा करता है, जिसे शक्ति संतुलन को अस्थिर करने वाली ताकतें ही भरती हैं । अनेक भिन्नताओं वाले भारतीय समाज में शक्ति संतुलन

बनाने वाली प्रमुख निष्ठाओं को कमजोर बनाना एक खतरनाक काम है। पर नेताओ के गुण और विशेषताऐं ही इन संकीर्ण निष्ठाओं को बड़ी निष्ठा में समाहित करने में असफल या सफल होते हैं। ये शक्तियॉ हाथ से बाहर जा सकती है, यदि उन्हे इसी तरह बिखरा छोड़ दिया जाऐ। जब राष्ट्रीय दलों का पतन होता हैं तब क्षेत्रीय दलों और ताकतों का उभरना अनिवार्य हो जाता है। दूसरे शब्दों में, शक्ति संतुलन व्यवस्था के भीतर राजनैतिक संघवाद की भूमिका की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, जिनमें आते हैं एक ओर राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों के बीच संबंध तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय दल की इकाईयों और केन्द्रीय नेताओं के बीच संबंध । एक स्वस्थ संघीय शक्ति संतुलन व्यवस्था के लिये रचनात्मक क्षेत्रवाद तथा जड़ो तक पहुँचना अन्य तत्वों की तरह आवश्यक है।

सुझावों पर अपनाया गया दृष्टिकोण और संबंधो के नऐ क्षितिज

पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री ज्योतिबसु,, जम्मू कश्मीर के मुख्यमंत्री फारूख अब्दुल्ला, पंजाब में अकाली दल, तमिलनाडू में डी0एम0के0 और अन्ना डी0 एम0 के0 ने समय समय पर केन्द्र राज्य संबंधो के पुनर्निर्धारण और राज्यों को अधिक स्वायत्तता देने, विशेष रूप से वित्तीय क्षेत्र में का प्रश्न उठाते रहें हैं। यह प्रश्न नया नहीं है, केन्द्र और अधिंकाश राज्यों में एक ही दल का शासन होने के कारण ही इस प्रश्न पर 1987 तक वस्तुपरक बहस नहीं हुई, यद्यपि सभी राज्य सरकारें जनहित व विकास के काम में अपनी असमर्थता प्रकट करती रहीं। आम चुनावों के बाद गैर कांग्रेसी सरकारों ने इस प्रश्न को उठाया और अब राज्यों की जिस प्रकार की स्वायत्ता की मांग उठाई जाती है वह क्षेत्रीयता और दलीय राजनीति की पृष्ठभूमि के संदर्भ में देखी जाने लगी हैं।

केरल में जब पहली बार कम्युनिष्ट सरकार को बरर्वास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था, तब से ही केन्द्र राज्य सम्बन्धों के विवादों की नीवं पडी थी ।

गैर कांग्रेसी राज्यों के मुख्यमंत्री लंबे अर्से से मांग करते रहे हैं कि राज्यों के अधिकारों का पुनर्परीक्षण किया जाऐं, और उन्हें बढ़ाया जाऐ, ताकि वे अपनी जिम्मेदारियों को असरदार तरीके से निभा सकें और राज्य का आर्थिक व सांस्कृतिक विकास द्रुतगति से कर सकें। बदले हुऐ राजनीतिक बदलाव, कुछ गैर कांग्रेसी सरकारों का सत्ता में आना, आदिवासी जनता के बीच अपने अधिकारों के बारें में चेतना की वृद्धि आदि ने केन्द्र राज्य संबंधो के सवाल को महत्तव का मुद्दा बना दिया हैं। केन्द्र राज्य संबंध के मौजूदा असंतुलन का दुरूपयोग अलगाववादी ही नहीं पृथकतावादी शक्तियों तक के हितो के लिये हो रहा हैं।

राज्यों के वित्तीय अधिकार भी बेहद सीमित हैं। अधिकतर महत्तवपूर्ण संसाधन, जिनसे कि आमदनी हो सकती है, केन्द्र के अधीन रखे गऐ है, और आयकर आदि टैक्स जिनका केन्द्र और राज्यों में बंटवारा होता है, उसमें सभी राज्य के अधिकारों को पिछले वर्षो में विभिन्न कलाबाजियों द्वारा केन्द्र ने हथिया लिया है, जैसे इंकम टैक्स से कंपनी टैक्स को अलग करना। कंपनी टैक्स से होने वाली संपूर्ण आय पर केन्द्र का अधिकार होता है। अथवा टैक्स नहीं बढ़ाकर उस पर

अतिरिक्त शुल्क या उपकर लगाना। इससे होने वाली संपूर्ण आय भी केन्द्र के अधीन रहती है। इन कारणो से राज्य सरकारों को पर्याप्त वित्तीय स्त्रोत नही मिल पाते हैं और उन्हें इसके लिये हमेशा केन्द्र का मुँह देखना पडता है। विकास की महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी राज्यों पर रहती है तथा प्रजांतत्र में स्वाभाविक ही लोगों की आकाक्षाऐं भी अधिक रहती हैं परंतु उनकी जरूरतों को पूरा करने के आवश्यक विकास के लिये राज्यों के पास आवश्यक आमदनी के संसाधन नहीं रहते । केन्द्र द्वारा इकट्ंठी की गई राशि का 50 प्रतिशत राज्यों मे बांटा जाना चाहियें । राज्यों के आपस में बंटवारे राज्य का पिछड़ापन राष्ट्रीय मापदंड जैसे औसत आय, निरक्षरता, आद्यौगिक विकास, सड़क, ब्रिजली आदि मांपदण्डों के आधार मानकर किया जाना चाहिये। अनुच्छेद 275 में उल्लिखित केन्द्र की विशेष सहायता देने की परिधि को बढ़ाया जाना आवश्यक है। इसी प्रकार के विशेष अनुदान देने में भी पक्षपात की संभावनाऐं खतम करने के लिये आवश्यक है कि उसे भी निश्चित सीमाओं में बाँधा जाये । राज्य की अपनी स्वयं की राष्ट्रीयकृत बैंक चलाने का अधिकार भी दिया जाना चाहिये।

योजना व्यय के नाम रखें खर्चे पर योजना आयोग का नियंत्रण रहता है, परंतु योजना आयोग कोई कानून सम्मत निकाय नहीं है। इसलिये यह आवश्यक है कि उसे एक कानून सम्मत निकाय बनाया जाऐ।

राज्यों के आपसी विवाद व राज्यों एवं केन्द्र से संबंधित विवादो के लिये राष्ट्रीय विकास परिषद का प्रावधान तो किया गया है, परंतु उसके अधिकारों व उपयोग का उल्लेख नही किया गया है। अतएव यह जरूरी है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को कानून सम्मत बना दिया जाऐं एवं उसके काम व सांसद से संबंध को परिभाषित किया जाये ।

राज्यों के संबंधो में केन्द्र की प्रभुता का सबसे गलत अधिकार अनुच्छेद 356 में है, जिसमे उल्लेख किया गया है कि केन्द्र सरकार राज्यपाल के प्रस्ताव पर या स्वंय भी राज्य सरकारों को भंग कर सकती है। यह राज्यों के अधिकारों का सरासर हनन है व किसी संघीय राज्य के मौलिक सिंद्धातो के विपरीत और सर्वथा अनुचित है। पिछले 52 वर्षो में इसका उपयोग अनेकों बार किया गया है। इसका उपयोग न केवल विरोधी पार्टियों की सरकारों को गिराने में, बल्कि कांग्रेस के आपसी मतभेदों को मिटाने व अल्पमत वाले व्यक्तियों को दल–बदल करवाकर सत्ता हथियाने का मौका देने के लिये भी किया गया है। इस अधिकार को समाप्त किया जाना चाहिये।

अनुच्छेद 356 को संशोधित किया जाना चाहिये तथा राज्य विधान सभा को भंग करने तथा स्थगित करने और राज्य मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने के राष्ट्रपति के व्यापक अधिकार खत्म होने चाहिये। यदि कभी ऐसी स्थिति पैदा हो जाऐ कि विधान सभा में बहुमत रखने वाला कोई मंत्रिमंडल संभव न हो तो चार महीने के अंदर नई विधान सभा बनवाने के लिये चुनाव करवाने चाहिये और तब तक मौजूदा सरकार एक काम चलाऊ सरकार के रूप में काम करे। अपवाद केवल यह रहे कि यदि संसद फैसला करे कि सामान्य जन जीवन को अस्त व्यस्त करने वाली हिंसा के कारण संबंधित राज्य में चुनाव नहीं करवाऐ जा सकते तो वह आदेश दे सकती है कि

एक विशिष्ट अवधि के लिये राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाऐ।

राज्यपाल केन्द्र के एजेन्ट के रूप से रहते हैं। यह प्रथा समाप्त होनी चाहिये। एक राज्य के राज्यपाल को राज्य विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकृति प्रदान करने के स्वनिर्णय का अधिकार नहीं होना चाहिये और न ही उसे ऐसे किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये–बशर्ते कि वह अनुच्छेद 288 (2) के तहत नहीं हो –रोक रखने के स्वनिर्णय का अधिकार होना चाहिये । एक राज्य विधान मण्डल द्वारा पारित कोई भी विधेयक अपने आप कानून बन जाऐगा। जब तक राज्यपाल का पद जारी रहता है, तब तक संबंधित राज्य की मंत्रिपरिषद के संबंध में उसकी संवैधानिक तथा कानूनी स्थिति वही होगी, जो केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के संबंध में राष्ट्रपति की होती है। अनुसूचित जातियों तथा जन जातियों बावत उनकी विशेष जिम्मेदारियाँ बरकरार रहेंगी। एक राज्यपाल की नियुक्ति संबंधित राज्य विधानमंडल द्वारा इस संबध में अनुमोदित एक पैनल के आधार पर राष्ट्रपति करेगा और राज्यपाल अपने पद पर तभी तक रह सकेगा, जब तक राज्य विधान सभा की वैसी इच्छा होगी।

राज्य विधानमंडलो को अपने–अपने हाई कोर्टो के लिये न्यायाधीश तथा मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति का अधिकार दिया जाना चाहिये। राष्ट्रपति हाई कोर्ट के लिये न्यायाधीश की नियुक्ति विधानमंडल द्वारा अनुमोदित नामों के पैनल में से करें।

सामान्यतः केन्द्रीय आरक्षित पुलिस और ऐसे ही दूसरा केन्द्रीय वल संबधित राज्य की सहमति के बिना तैनात नही किये जाने चाहिऐ – उस स्थिति को छोड़कर जब अनूसूचित जातियों तथा जनजातियों की और धार्मिक तथा भाषायी अल्पसंख्यको की जान–माल के लिये गंभीर खतरे का सामना करना हो।

एक राज्य के तहत काम कर रहे ऐसे कर्मियों को जो अखिल भारतीय सेवाओं से संबधित हों पूरे तौर पर संबंधित राज्य सरकार के अनुशासन में रहना तो चाहिये और इस नियम की परिधि में अनुशासन की कार्यवाही से संबंधित तमाम मामले शामिल होने चाहिये।

जो स्थितियाँ और तर्क केन्द्र को मजबूत बनाने के पक्ष में हैं लगभग वैसे ही सशक्त तर्क और कारण राज्यों को अधिक से अधिक संपन्न बनाने के बारे में हैं। यदि कमजोर केन्द्र से देश की एकता और सुरक्षा को खतरा है तो कमजोर इकाईयों के कारण केन्द्र में एकाधिकार शाही की स्थापना का भी खतरा है। वस्तुतः केन्द्र और राज्य दोनो ही स्तरों पर मजबूती और अधिकार संपन्नता चाहिऐं। अतः समस्या का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि केन्द्र राज्य संबंधो की संविधान के प्रति आचरण और व्यवहार की प्रमाणिकता कितनी और क्या है। दूसरे केन्द्र राज्य संबंध को मात्र केन्द्र की मजबूती या राज्यों की कमजोरी की परिप्रेक्ष्य देने से समस्या के वास्तविक पहलू दबे रहेंगे। केन्द्र या राज्य दोनो को अपने–अपने क्षेत्र व दायरें में शक्तिमान व दायित्व निर्वाह की क्षमता में बने रहना चाहिये और इस दृष्टि से इन संबंधो पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। यह माना जाना चाहिये। इस प्रश्न पर फिर राजनीति निरपेक्ष दृष्टि से वस्तुनिष्ठ विचार होना चाहिये

और अनुभव व आवश्यकताओं के अनुकूल संबंधो का पुनर्निधारण किया जाना चाहिये।

1983 का वर्ष केन्द्र संबंधो में इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इस वर्ष संविधान निर्माताओं द्वारा प्रस्थापित संस्थाओं और विधियों, विशेष रूप से केन्द्र राज्य संबंधो तथा भारतीय संघीय व्यवस्था को प्रभावित करने वाली, को चुनौती देने की दिशा में महत्त्वपूर्ण शुरूआत हुई है। इसे हम कुछ घटनाओं और तथ्यों के क्रम में देख सकते हैं। 20 मार्च 1983 में दक्षिण के चार गैर कांग्रेसी राज्यों – आंध्र प्रदेश कर्नाटक, तमिलनाडु व पांडिचेरी के मुख्यमंत्रियों ने बंगलौर में बैठक आयोजित करके एक मुख्यमंत्री परिषद का गठन किया इसका उद्देश्य राज्यों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाना व समान हितो के विषयों पर विचार करना बताया गया और केन्द्र राज्यों के बीच वित्तीय संबंधो पर पुनर्विचार के लिये एक वैधानिक आयोग गठन करने की मांग की गई । यह एक प्रकार की सहकारी संघीयता स्थापित करने की दिशा में प्रयत्न माना जाऐगा।

जो वर्तमान सर्वविदित बहस संघ राज्य संबंधो के बीच चली आ रही है वह आगे भी व्यापक रूप से चर्चित होती जाऐगी। आवश्यक यह है कि एक प्रभावशाली पॉलिटी कैसे विकसित की जा सकती है जिससे राष्ट्रीय प्रणाली को समग्र रूप से संयुक्त रहने वाली और शक्तिशाली तथा न्याससंगत बनाया जा सकेगा। शायद इस बारे में संदेह है कि इस दिशा में ऐसा कुछ सोचा जा रहा है, और इससे एक प्रकार का जनमत भी सक्रिय रूप ले सकेगा ताकि इस तरह का संवैधानिक अभ्यास होता रहेगा अगर वे अपने तक इस दिशा में कोई पहल नहीं कर पा रहें है।

बंगलौर सेमिनार में इस बात पर आम सहमति थी कि केन्द्र राज्य संबंधो की विस्तार से समीक्षा की जानी चाहिऐ ताकि केन्द्र में सत्ता के केन्द्रीकरण की विसंगति को दूर किया जा सके। विचार गोष्ठी में सर्वाधिक विवाद का विषय संविधान की 356 धारा रही, जिसके अतंर्गत कार्यवाही करते हुऐ अनेकों बार राज्यों का प्रशासन केन्द्र ने अपने हाथ में लिया। सम्मेलन में राज्यपाल पद के दुरूपयोग, विधायकों के निलंबन के मामले तथा योजना आयोग की भूमिका पर भी काफी चर्चा हुई।

केन्द्र व राज्यों के बीच न्यायपूर्ण संबंधो की स्थापना नही हो पाई है, और कुछ अधिकार या शक्तियाँ मिल जाने मात्र से राज्यों का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं हो जाऐगा। वास्तव में देखा जाऐ तो जम्मू और कश्मीर राज्य के रूप में अधिक अधिकारों की माँग का मॉडल पहिले से ही बना हुआ है। अनेक क्षेत्रों में राज्यों की ओर से की गई स्वायत्तता की मांग भी उठती आई है और सरकारिया आयोग की नियुक्ति इस बात की पुष्टि करती है।

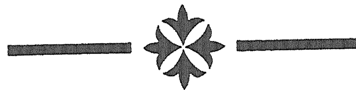
किन्तु प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या वर्तमान समय में राज्यों को आधिक अधिकार दिया जाना उचित होगा ?

1983 में संपन्न श्रीनगर सम्मेलन में केन्द्र राज्य संबंधों पर व्यापक बहस हुई । एक घोषणा पत्र जारी किया गया और राज्यों की अधिकार परकता को को संतुलनकारी बनाने

की मांग की गई ।

सन 1977 के आम चुनावों के बाद से ही प्रतियोगी दलीय व्यवस्था (कंपिटीटिव पार्टी सिस्टम) की उदय हुआ है। दलीय व्यवस्था के इस स्वरूप के कारण ही विकेन्द्रित संघीय व्यवस्था को जन्म मिला। अब केन्द्र राज्यों से मनमानी करने की स्थिति में नहीं रहा राज्य सरकारें अपने संवैधानिक दायित्वों के बारे में जागरूक रहने लगी। केन्द्र की सरकार चूंकि विभिन्न घटकों से बनी होती थी अतः वह मिली जुली सरकार के समतुल्य एक दुर्बल सरकार होती थी। इसीलिए राज्यों की सरकारें सौदेबाजी करने के प्रयत्न करने लगीं। यहां तक कि राज्य सरकारें राज्य स्वायत्त्ता के नारे बुलंद करने लगीं। वित्तीय स्रोतों के वितरण को लेकर भी राज्य सरकारें केन्द्रीय सरकार पर दबाव डालने लगी। इससे अच्छा तो यह होता कि केन्द्र की संवैधानिक स्थिति को बनाऐ रखते हुऐ, राज्यों को अधिक से अधिक उत्तरदायित्व सौपने की नीति अपनाई जाऐ। महत्त्वपूर्ण मसलों पर केन्द्र राज्यों को अपने विश्वास में लेकर चले और सम्मेलन तथा विचार विमर्श प्रणाली को प्रभावशाली बनाने की दिशा में कदम उठाऐ जाऐं।

केन्द्र राज्य संबंधों का विषय पुनर्विचार और आवश्यक सुधार व संधोधन का है तथा 52 वर्षों का अनुभव और राज्यों की आर्थिक क्षेत्र में अधिकारों की मांग के आधार व संदर्भ हैं, यह विवाद का विषय नहीं है। केन्द्र सरकार ने इसीलिऐ "सरकारिया आयोग" का गठन किया। आज देश का जो राजनैतिक मानचित्र है वह इस विषय पर राष्ट्रीय बहस व विशद विचार विमर्श व चिंतन के लिए उपयुक्त है। सरकारिया आयोग का कार्य क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया गया और वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था के बाहर भी आवश्यक सुझाव देने का अधिकार दिय



अध्याय अष्टम

मूल्यांकन एवं निष्कर्ष

केन्द्र राज्य संबंध प्रारंभ से ही एक विवादित विषय रहा है। केन्द्र व राज्य के पक्ष एवं विपक्ष में अनेकों दलील हो सकती हैं परंतु केन्द्र राज्य संबंध के तारतम्य को तब तक खोजा नहीं जा सकता जब तक कि इन संबंधों की वास्तविकता और व्यावहारिकता को समझ न लिया जाऐ।

केन्द्र राज्य संबंध तीन बातों को आधार लेकर चलते हैं प्रथम – लघु आकार के क्षेत्र से व्यापक आकार के क्षेत्र की ओर बढ़ना द्वितीय–लघु क्षेत्र का व्यापक क्षेत्र को समर्पण तथा तीसरा – लघु और व्यापक क्षेत्र के बीच विभाजक रेखा। शोध के अध्ययन की विषयवस्तु सिद्धांतगत तथ्यों पर आधारित है। प्रथमतः केन्द्र राज्य संबंध एवं उनका व्यावहारिक स्वरूप दूसरा मध्य प्रदेश का विशेष संदर्भ।

सर्वप्रथम यह एक विवादित विषय था कि भारत को संघ क्यों माना जाना चाहिऐ परंतु संघीय प्रशासन हेतु आवश्यक कतिपय तत्वों को संविधान में देखा गया जैसे–भारत राज्यों का संघ है, प्रांतीय और केन्द्रीय सरकार अलग अलग हैं तथा इन दोनों के बीच कार्य विभाजन की रेखा है। केन्द्र और प्रांत के मध्य वित्त के स्रोत अलग–अलग हैं, इत्यादि। परंतु जब संविधान की व्यावहारिकता की ओर ध्यान जाता है तभी यह ज्ञात होता है कि प्रांत और संघ के बीच यद्यपि कार्य विभाजक रेखा है परंतु सामान्य अथवा आपात स्थिति में सुविधा का संतुलन केन्द्र की ओर है।

गहन अध्ययन के उपरांत यह तथ्य सामने आया कि सिद्धांतों में भले ही संविधान संघवादी और बहु केन्द्रवादी हो परंतु व्यवहार में वह एकात्मवादी और केन्द्रवादी हैं।

संविधान में सत्ता केन्द्र एक ही रखा गया है और यह केन्द्र संघीय प्रशासन है। अमरीकी संघ राज्यों के समन्वय में शक्ति प्राप्त करता है, भारतीय राज्य, संघ के शक्तिशाली होने से शक्ति प्राप्त करता है। अतः भारतीय संघ को परिवर्तनशील संघ की संज्ञा दी गई हैं

शोध के दौरान किऐ गऐ अध्ययन के आधार पर मेरा यह दृढ़ अभिमत है, कि वर्तमान भारतीय राज्य को किसी भी परिप्रेक्ष्य में संघीय नहीं कहा जा सकता। संघ वस्तुतः बहुकेन्द्रों का समूहीकरण होता है, जैसा कि अमरीकी संघ अथवा स्विटजरलैण्ड का संघ है। जहाँ संघ स्वयं शक्तिशाली हो अवशिष्ट शक्तियाँ उसके पास हो, वहाँ पर समानांतर शक्तिकेन्द्र, केन्द्रोन्मुखी होते हैं, भारत संघ के मामले में यह बात प्रकट और प्रखर रूप से लागू होती हैं

वर्तमान में संघ राज्य संबंध हितग्राही राजनीति के संबंध में हैं। हितों का उत्पादन सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था की देन है परंतु हितों के वितरण में सामान्य जन के हित के विपरीत, हितों का वितरण, हितों के सम्मिश्रण को देखते हुऐ किया जाता है। सामान्य जन बाजार में उपभोक्ता

होता है, एवं बाजार नियमों के अनुसार क्रय शक्ति उपभोग का स्तर निर्धारित करती है। यही बात विपरीत अर्थो में राजनीति पर लागू होती है। सामान्य जन वस्तु का चयन कर सकता है, यही अधिकार राजनीतिक अर्थो में मताधिकार कहलाता है। जो सामान्य जन बाजार में उपभोक्ता बन कर खड़ा होता है, चुनावी राजनीति में वही दुकानदार होता हैं, और वर्तमान राजनीति में पैसे के बढ़ते हुऐ प्रयोग को देखते हुऐ, यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। जो जितने अधिक पैसे खर्च करता है, वह उतने ही अधिक वोट पाता है।

सामान्य तौर पर यह कहा जाता है कि केन्द्र और राज्य के मुद्दे अलग–अलग होते हैं, परंतु दलगत राजनीति के कारण सर्वाधिक शक्तिशाली अथवा संपन्न दल चुनाव में सर्वाधिक मत पाता है। आश्चर्य नहीं यदि इससे केन्द्र राज्य संबंध जो बहुआयामी होते हैं, प्रभावित हों।

यह भी अतिशय कथन नहीं होगा यदि यह कहा जाऐ कि मौजूदा राजनीति और केन्द्र राज्य संबंध दोनों ही, केन्द्र अनुगामी हैं। चाहे शासक दल हो या विपक्ष स्थानीय नेतृत्व, हमेशा केन्द्रीय नेतृत्व की ओर निर्णय हेतु ताकता रहता है। जब दलीय व्यवस्था ही केन्द्रवादी हो तब केन्द्र राज्य संबंध दोनों ही, केन्द्र अनुगामी हैं। चाहे शासक दल हो या विपक्ष स्थानीय नेतृत्व हमेशा केन्द्रीय नेतृत्व की ओर निर्णय होतु ताकता रहता है। जब दलीय व्यवस्था ही केन्द्रवादी हो तब केन्द्र राज्य संबंधों में राज्य की स्वायत्तता का प्रश्न बेमानी है।

विभिन्न दलों के राजनीतिक नेताओं के बयानों को गौर से देखा जाऐ, तो उनमें केन्द्र राज्य संबंधी सिद्धांतगत मुद्दों का हमेशा अभाव रहा हैं। प्रकटतः ये लोकप्रियता अर्जन हेतु दिऐ गऐ बयान होते हैं, और इसमें तात्कालिक राजनीति का पुट अधिक होता है, बजाऐ व्यावहारिक राजनीति के। चाहे सत्तारूढ़ दल की राजनीति हो, चाहे विपक्ष की, दोनों पर यह तथ्य समान रूप से लागू होता है ।

अत्यंत खेद का विषय है कि पं0 नेहरू के जमाने की राजनीति की संतुलित समझदारी का आज सर्वत्र अभाव है, यह समझना दुष्कर है कि राज्य अथवा केन्द्रीय नेताओं के किन स्वार्थो की पूर्ति, केन्द्र राज्य विवादों को बनाऐ रखने में होती है। यह भी समझ से परे है कि केन्द्र राज्य संबंधों के तनाव जो मूलतः योजनागत संसाधनों के आवंटन को लेकर है, किस तरह राजनीतिक विवाद का रूप धारण कर लेते है । यह समझना भी दुष्कर है, कि योजना की लम्बी अवधि के दौरान और संविधान के प्रवर्तन के बावन वर्ष पश्चात् ही योजनागत केन्द्र राज्यसंबंधों को आज तक संविधान में परिभाषित क्यों नहीं किया गया ?

शोध के दौरान मैंने यह अनुभव किया कि केन्द्र और राज्य के बीच विधायी एवं प्रशासनिक संबंध राज्य को निर्णय लेने हेतु प्रोत्साहित नहीं करते। वस्तुतः ये प्रावधान राज्य को अपनी शक्ति के प्रयोग करने में बाधक सिद्ध होते हैं। प्रशासनिक प्रावधान राज्य की कार्यपालिका

शक्ति पर यह कह कर रोक लगाते हैं, कि उससे कहीं संघीय हितों पर आँच न आऐ, इस अवस्था में जब राज्य की कार्यपालिका (मुख्य मंत्री और मंत्रिमण्डल) अपनी विधान पालिका की ओर निर्णय के लिऐ मुड़ती है तब उसकी खुद की विधायी शक्ति पर रोक लगी होती है। ऐसी अवस्था में राज्य विधान मण्डल केन्द्रीय विधान मंडल के निर्णय के अनुमोदन के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकता। सामान्य जन भले इसे चाटुकारिता कह लें वस्तु स्थिति यही हैं राजनीतिक शब्दावली में इसे 'यस सर' राजनीति कहा जाता है। जब राज्य का विधान मण्डल एवं कार्यपालिका दोनों ही केन्द्रानुगामी हों, तब सामान्य व्यक्ति के हित रक्षण की अन्ध प्रक्रिया मेरी समझ से परे है।

मैंने यह अनुभव किया है, कि राज्य के वित्तीय एवं योजनागत साधन सीमित होते हुऐ भी, राज्यों से भारी अपेक्षाऐं की जाती हैं। मध्य प्रदेश सरीखे बड़े राज्यों के लिऐ जिन योजनागत संसाधनों की आवश्यकता है, उसे केन्द्र सरकार द्वारा कभी नहीं दिया गया। राज्य की असीमित प्राकृतिक क्षमताओं के हेतु होते हुऐ भी राज्य का निर्धन होना इस बात का संकेत है, कि राज्य नेतृत्व न केवल अकुशल था, बल्कि केन्द्र ने राज्य के साथ बार–बार पक्षपात भी बरता। वित्त आयोगों द्वारा राज्यके लिऐ जो भी संसाधन केन्द्रीय करों से आवंटित किऐ जाते रहे हैं वे कहीं भी यथार्थ आवश्यकताओं से मेल नहीं खाते क्योंकि राज्य का आकार भी विशाल है जनसंख्या भी व्यापक है, और राज्य प्रारंभ से ही निर्धनता की सीमा रेखा पर है। वस्तुतः इस राज्य के लिऐ जितने भी साधन दिऐ जाऐ वे इसके विकास के लिऐ कम हैं। शोध के दौरान मैं निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुँची हूँ।

<u>पहला</u> :– केन्द्र राज्य संबंध ठीक वैसे नहीं हैं जैसे कि संविधान द्वारा अभिप्रेत हैं।

<u>दूसरा</u> :– केन्द्र राज्य संबंधों में विवाद प्रमुखतः विपरीत हितों के टकराव के फलस्वरूप होता है, और यह बात बार–बार राजनीतिक तौर पर सिद्ध हो चुकी है।

<u>तीसरा</u> :– घटनाऐं यह सिद्ध करती हैं कि केन्द्र राज्य तनाव, जो कि मूलतः वित्तीय तनाव थे और योजना के संसाधनगत आवंटन को लेकर थे, को राजनैतिक विवाद का रूप श्रीमति गांधी के प्रथम काल में शासक दल द्वारा ही दिया गया। श्रीमति गांधी ने एक ओर केन्द्र को मजबूत करने हेतु राज्यों को बाँटे जाने वाले साधनों में पक्षपात बरत कर क्षेत्रीय विकास में खाई पैदा की वहीं दूसरी ओर इस क्षेत्रीय असमानता को उपयोग में लाते हुऐ राज्यों को आपस में भिड़ा दिया, जिसका परिणाम केन्द्र–राज्य विवाद के रूप में सामने आया।

<u>चौथा</u> :– भारतीय संविधान प्रारंभ से ही केन्द्र अनुगामी है। चाहे आपातकाल हो चाहे शांतिकाल, संविधान केन्द्र अनुगामी होकर कार्य करता है। मौजूदा केन्द्र राज्य संबंध जैसा कि संविधान में दिऐ गऐ हैं, उसका रूझान केन्द्र से राज्य की ओर शक्ति प्रेषण का है, न कि राज्य से केन्द्र की ओर, वैज्ञानिक दृष्टि से यह सही भी है, क्योंकि शक्ति

हमेशा केन्द्र से परिधि की ओर जाती है, परिधि से केन्द्र की ओर नहीं।

पांचवां :– भारतीय संविधान शक्ति सामंजस्य हेतु केन्द्र और परिधि के बीच विभाजक रेखा अवश्य निर्मित करता है, परंतु वह विभाजक रेखा सामान्यतः सैद्धांतिक है, व्यावहारिक नहीं।

वर्तमान रूप में केन्द्र राज्य संबंध और तत्संबंधी दिऐ गऐ सभी बयान चाहे वे शासक दल द्वारा हों या विपक्ष द्वारा वे केन्द्र राज्य संबंधों के पक्ष या विपक्ष को प्रकट करते हैं। शासक दल केन्द्र का पक्ष लेते हैं, विपक्षी दल राज्यों का पक्ष लेते हैं। खेद का विषय है, कि सामान्य एवं आपात दशाओं में एक ही शक्ति केन्द्र, कार्य करता है। यह दोनों ही नहीं जानते। संविधान द्वारा राज्य में शक्ति अभिप्रेत ही नहीं की गई है, अतः उसका उपयोग असंभव है। केन्द्र सर्वशक्तिशाली है, अतः शक्ति का दुरुपयोग स्वाभाविक है।

मूलतः केन्द्र राज्य संबंध हितग्राही राजनीति के संबंध हैं और शक्तिवान के हित सर्वोपरि होते हैं।

विधायी संबंध और प्रशासकीय संबंध जैसा कि संविधान द्वारा अभिप्रेत हैं, वस्तुतः केन्द्र को ही मजबूत करते हैं, क्योंकि संवैधानिक तौर पर ही राज्यों को यह निर्देश दिऐ गऐ हैं, कि वे राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस तरह प्रयोग करें, जिससे केन्द्रीय हितों, कानूनों पर आँच न आवे और इन्हीं हितों की सुरक्षा के लिऐ ही राज्यपाल नामक पद की सृष्टि संविधान में की गई है। अन्य विद्वजन इसे संयोग भले ही मान लें परंतु मैं इसे संयोग नहीं मान सकती, कि 1935 के भारत शासन अधिनियम के अधीन गवर्नर के पद एवं भारतीय संविधान में अभिप्रेत राज्यपाल के पद में अद्भुत सामानता है। 1935 के भारत शासन अधिनियम के अंतर्गत गवर्नर का पद ब्रिटिश हितों की सुरक्षा हेतु निर्मित किया गया था, और वर्तमान राज्य के गवर्नर का पद भारतीय राष्ट्रीय पूंजी के हितों को सुरक्षित करने के लिऐ किया गया हैं

संविधान की सातवीं अनुसूची की तीनों सूचियों का (संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची) व्यापक अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि भारतीय पूंजी के हित संवर्धन हेतु वांछित समस्त वस्तुऐं या विषय या तो संघ सूची में रखे गऐ है, या समवर्ती सूची में रखे गऐ है। उदाहरणार्थ अंतर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य, मुद्रा बैंकिंग, दूरसंचार इत्यादि और संसद ने बार–बार अधिनियम बनाकर भारतीय पूंजी के हित में क्षेत्रीय हितों की पूंजी के प्रभाव को रोका है। क्योंकि यह बात साफ जाहिर है, कि समवर्ती सूची के विषयों में केन्द्र और राज्य के कानूनों में केन्द्रीय कानूनो को वरीयता दी जाती है।

केन्द्र राज्य संबंधों में वर्तमान तनाव मूलतः राष्ट्रीय पूंजी और क्षेत्रीय पूंजी के मध्य हित संग्रहण के क्षेत्र को लेकर है, इसे शोध प्रबंध के अध्याय द्वितीय में चार्ट द्वारा समझाया

गया है।

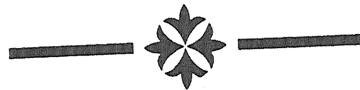
आश्चर्य का विषय है कि केन्द्र और राज्य के मध्य योजनागत संबंध जो केन्द्रराज्य संबंधों को वर्तमान में सर्वाधिक प्रभावित करते हैं, उनका संविधान में उल्लेख तक नहीं है। यद्यपि संविधान में अनेकों बार संशोधन हो चुके हैं, परंतु सुखद आश्चर्य का विषय है, कि संविधान के प्रवर्तन के इतने वर्षो बाद एक भी संविधान संशोधन केन्द्र और राज्यों के बीच योजनागत संबंधों को परिभाषित करने हेतु नहीं लाया गया।

उपरोक्त निष्कर्षो के लिऐ निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किऐ जा सकते हैं।

संविधान में संशोधन कर केन्द्र और राज्य दोनों को परिभाषित किया जाना चाहिऐ और राज्यों को राज्यों के रूप में परिभाषित न किया जाकर "संघीय घटकों" के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिऐ। क्योंकि राज्य शब्द के साथ संप्रभु स्वायत्तता जुड़ी रहती है, जो कि वर्तमान भारतीय राज्यों में नहीं है।

केन्द्र राज्य संबंधों को सैद्धांतिक आधार पर परिभाषित न किया जाकर व्यावहारिक और प्रभाव क्षेत्र के आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिऐ इससे विपरीत हित संतुलित रह सकेंगे और तनाव की स्थिति निर्मित नहीं होगी।

संविधान में संशोधन कर केन्द्र और राज्य के मध्य अथवा केन्द्र और घटकों के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा सीमांकित की जानी चाहिऐ और यह कार्यगत आधारों पर न होकर प्रभावगत आधारों पर होनी चाहिऐ। संविधान में मौजूद विभाजक रेखा जो संविधान की सातवीं अनुसूची में उल्लेखित है, वह कार्यगत है, प्रभावगत नहीं। संविधान में व्यापक संशोधन कर, केन्द्र और घटकों के मध्य योजनागत राशि आबंटन एवं योजनागत व्यय संबंधी प्रावधान जोड़े जाने चाहिऐं, और इस संबंध में केन्द्र और घटकों के बीच संबंधों को सुस्पष्ट, संतुलित और कार्य कारण पद्धति के आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिऐ।



संदर्भ ग्रंथ सूची

(1)	कौशिक सुशीला	:	भारतीय शासन और राजनीति, 1984
(2)	कोठारी रजनी	:	भारतीय राजनीति, न्यू देहली, ओरियंट, लांगमैन्स, 1970
(3)	मोरिस जोन्स	:	भारतीय शासन और राजनीति, सुरजीत पब्लिकेशंस, दिल्ली, 1970
(4)	जैन पुखराज एवं फडिया बी०एल०	:	तुलनात्मक शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन, आगरा, 1987
(5)	गेना, सी०बी०	:	तुलनात्मक शासन और राजनीति
(6)	राय, एम०पी. एवं जैन, शशी	:	भारतीय शासन और राजनीति
(7)	दुबे, कुंजीलाल	:	म0प्र0 विधानसभा रजत जयंती स्मारक ग्रंथ, 1989
(8)	डा० प्रमिला कुमार	:	म0प्र0 का भौगोलिक अध्ययन, म0प्र0 हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल 1988
(9)	शर्मा, यज्ञदत्त	:	हमारा प्यारा मध्यप्रदेश, रजत जयंती स्मारक ग्रंथ, 1989
(10)	दुबे, कुंजीलाल	:	अध्यक्ष का दायित्व
(11)	यादव त्रिभुवन	:	म0प्र0 विधान सभा, रजत जयंती स्मारक ग्रंथ, 1989
(12)	गिल क्राइस्ट	:	राजनीति विज्ञान के सिद्धांत
(13)	नारायण इकबाल	:	राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत, रतन प्रकाशन मंदिर, 1987–88
(14)	सैयद एम०ए०	:	भारतीय राजनीतिक प्रणाली
(15)	शंकुधर श्यामलाल	:	संविधान और संसद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, न्यू देहली, 1975
(16)	भार्गव, पी०के०	:	सेण्टर स्टेट फायनेन्शियल रिलेशंस इन इंडिया, पापुलर प्रकाशन, मुंबई 1974
(17)	आयंगर, टी०एस० राजगोपाल	:	सेण्टर स्टेट रिलेशंस इन इंडिया, यूनिवर्सिटी ऑफ मैसूर, 1974
(18)	जौहरी, जी०सी०	:	तुलनात्मक राजनीति,न्यू देहली, 1972
(19)	त्रिवेदी, इंदिरा	:	अमेरिका और भारत के संघ राज्यों में केन्द्र तथा राज्यों के संबंध: प्रशासनिक एवं विधायिक, शोध प्रबंध, जीवाजी विश्वविद्यालय, 1983
(20)	ममन चंद	:	भारत में 1967 के बाद केन्द्र, राज्य के वित्तीय संबंध, मेरठ विश्वविद्यालय, 1982
(21)	दिवाकर, आर०आर०	:	केन्द्र और राज्यों का संबंध, गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1983
(22)	सरकारिया आयोग	:	भारत सरकार, गृह मंत्रालय, 9 जून 1983 की अधिसूचना सं

द्वारा जारी प्रश्नावली — 4/11817/1/83 सी0एस0आर0

(23) शर्मा, डा0 प्रभूदत्त एवं सहयोगी : केन्द्र राज्य संबंध, प्रशासन के परिप्रेक्ष्य में राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी (1976)

(24) दुबे रमेश : सेण्टर स्टेट रिलेशन्स सिन्स, 1967 इन इण्टरिम एसेसमेण्ट

(25) भटनागर, सुधा : यूनियन स्टेट फाइनेन्सियल रिलेशन एण्ड फाइनेन्स कमीशन्स, 1979

(26) महेश्वरी, श्री राम : लोकल गवर्नमेण्ट इन इंडिया, न्यू दिल्ली 1967

(27) हकी, एस0ए0एच0 : यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इंडिया, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977

(28) शर्मा, पी0के0 : पोलिटिकल आसपेक्ट्स ऑफ स्टेट्स रिऑर्गनाइजेशन इन इंडिया, न्यू दिल्ली 1989

(29) परांजपे, एच0 के0 : प्लानिंग कमीशन : ए डिस्क्रिपटिव एकाउण्ट, न्यू दिल्ली, 1984

(30) अंबेडकर, बी0आर0 : थोट्स ऑन लिंग्युस्टिक स्टेट्स ओरंगाबाद, 1955

(31) बम्बवाल, के0 आर0 : द फाउंडेशन्स ऑफ इंडियन फैडरेशन, एशिया, 1977

(32) बसू, डी0डी0 : इंट्रोडक्शन टु द कॉंस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया, 1983

(33) ऐलक्स, एम0पी0 : भारतीय संविधान, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1967

(34) ह्यूम, ए0ओ0 : राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धांत, रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा, 1974

(35) दीक्षित, प्रभाकर : राजनीतिक निबंध, 1979

(36) अग्रवाल, आर0सी0 : भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारतीय संविधान का विकास किताब घर, 1984

समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ

(1) इंडिया टुडे,
(2) माया,
(3) योजना,
(4) दिनमान,
(5) प्रतियोगिता दर्पण,
(6) साप्ताहिक हिन्दुस्तान,
(7) धर्मयुग,
(8) भू–भारती
(9) नवभारत टाइम्स,
(10) दैनिक जागरण,
(11) दैनिक भास्कर,
(12) नई दुनिया,
(13) जनसत्ता

(14) एम0पी0 क्रोनिकल,

(15) हिंदुस्तान टाइम्स,

(16) टाइम्स ऑफ इंडिया,

(17) स्वतंत्र भारत

(18) यूथ कंपिटीशन टाइम्स, विश्व घटना दर्पण

